गुह्य ज्ञान के महा अस्त्र का धनुष उठाकर
बाण चढ़ाओ उस पर ध्यानाभ्यास से प्रखर।
(ब्रह्म) भाव से भरकर मन खींचो प्रत्यंचा
लक्ष्य रूप में, ऐसे, वेधो, सोम्य ! अनश्वर ॥

प्रणव को धनुप समझो, आत्मा को जानो शर
और ब्रह्म को ही तो लक्ष्य कहा जाता है।
वेधो उसे सावधानी से, तन्मय होकर
जैसे तीर निशान से जा मिल जाता है ॥

मुण्डकोपनिषद : द्वितीय मुण्डक, द्वितीय खंड 3-4

'भगवद्गीता का योग

श्री कृष्ण प्रेम

अनुवादक:
डॉ॰ जगदीश नौटियाल
सतीश दत्त पाण्डेय

प्राक्कथन

इस पुस्तक का सूत्रपात उस लेखमाला से हुआ जो बम्बई के 'दि ऐरियन पाथ' के लिए लिखी जानी थी। सम्पादकों ने शीर्षक बदलकर 'उच्चतर जीवन का गीत' कर दिया और इससे पहले कि यह समझ मे आता कि मै कर क्या रहा हूं, मैने अपने को पूरी गीता पर ही टीका लिखते हुए पाया। कुछ तो स्वयं गीता के स्वरूप के और कुछ मासिक किस्तों मे प्रकाशन की मजबूरियों के कारण थोड़ी-बहुत पुनरावृत्ति इस लेखन मे हो ही गई। मैने इसको यथासम्भव हटाने की कोशिश की है पर जितनी कुछ फिर भी रह गई है उसके लिए मै पाठकों से क्षमा याचना करता हूं।

लेखो को पुस्तक रूप मे छपने की अनुमति देने के लिए मैं 'दि एरियन पाथ' के सम्पादकों का आभारी हूं। प्रस्तुत ग्रथ कुछ नई सामग्री व परिशिष्ट जोड़कर न लेखो का संशोधित रूप है। अपनी शिष्या श्रीमती अर्पिता देवी का मै आभारी हूं जिन्होने पाण्डुलिपि टाइप की तथा बराबर अमूल्य सहायता प्रदान की और श्री बरट्रम कीटली का भी जिन्होने पूरी पाण्डुलिपि को पढ़ा और मूल्यवान सुझाव दिए।

मिर्तोल
भारत
1937

—श्री कृष्ण प्रेम

प्राक्कथन

इस पुस्तक का सूत्रपात उस लेखमाला से हुआ जो बम्बई के 'दि ऐरियन पाथ' के लिए लिखी जानी थी। सम्पादकों ने शीर्षक बदलकर 'उच्चतर जीवन का गीत' कर दिया और इससे पहले कि यह समझ मे आता कि मै कर क्या रहा हू, मैने अपने को पूरी गीता पर ही टीका लिखते हुए पाया। कुछ तो स्वयं गीता के स्वरूप के और कुछ मासिक किस्तो मे प्रकाशन की मजबूरियों के कारण थोड़ी-बहुत पुनरावृत्ति इस लेखन मे हो ही गई। मैंने इसको यथासम्भव हटाने की कोशिश की है पर जितनी कुछ फिर भी रह गई है उसके लिए मैं पाठको से क्षमा याचना करता हूं।

लेखों को पुस्तक रूप मे छपने की अनुमति देने के लिए मै 'दि एरियन पाथ' के सम्पादकों का आभारी हूं। प्रस्तुत ग्रंथ कुछ नई सामग्री व परिशिष्ट जोड़कर इन लेखो का सशोधित रूप है। अपनी शिष्या श्रीमती अर्पिता देवी का मैं आभारी हू जिन्होने पाण्डुलिपि टाइप की तथा बराबर अमूल्य सहायता प्रदान की और श्री बरट्रम कीटली का भी जिन्होंने पूरी पाण्डुलिपि को पढा और मूल्यवान सुझाव दिए।

मिर्तोला
भारत
1937

—श्री कृष्ण प्रेम

अनुवादकों के दो शब्द

एक दिन 1973 मे हमारे प्रिय मित्र और गुरुभाई चक्री-दा ने सुझाया कि यदि 'दि योग ऑफ दि भगवद्गीता' (The Yoga of the Bhagavat Gita) का अनुवाद हिन्दी मे किया जाय तो शायद कितने ही लोगो को इस पुस्तक की निधि उपलब्ध हो जाय। विचार अच्छा था और देर-सवेर अनुवाद कार्य आरम्भ भी हो गया परन्तु यदि श्री श्री माधव आशीष प्रोत्साहित न करते और अनेक स्थानो पर मूल लेखन का अर्थ न समझाते तो इसे समाप्त करना हमारी सामर्थ्य के बाहर था।

एक अनुवादक का टोरंटो और दूसरे का दिल्ली मे रहना कार्य को शीघ्र सम्पन्न करने के हित मे न था, अतएव, अंतिम रूप लेते लेते 1977 समाप्त होने को आया। तब से अब तक का समय अधिकतर तो प्रकाशक की तलाश और फिर उसमे सफल होने पर प्रकाशन प्रक्रिया को पूरा करने मे लगा। इस बीच धर्मार्थ ट्रस्ट जम्मू-कश्मीर तथा विराट हिन्दू समाज के समन्वित प्रकाशन, त्रैमासिक 'धर्म मार्ग', ने इस अनुवाद के कुछ अंश प्रकाशित किए।

पूरा प्रयास करने पर भी इस अनुवाद मे हम श्री श्री कृष्ण प्रेम के विचारो तथा भावों को न तो पूरी तरह और न ही उनके समान सहज सुन्दरता से व्यक्त कर सके हैं। इसके लिए पाठको से क्षमा मांगते हैं और आशा करते हैं कि जैसे निपुण जौहरी भोडे ढंग से तराशे हीरे को भी पहचान लेता है वैसे ही वे भी अनुवाद की अपरिष्कृति के बीच छिपी मूल पुस्तक की घनीभूत सुन्दरता को पहचान लेंगे। अनुवाद सम्बन्धी सब सुझाव सहर्ष स्वीकार किए जाएंगे।

टोरंटो, कैनडा
नई दिल्ली, भारत
1983

जि० च० नौ०
स० द० पा०

भूमिका

भारतीय संस्कृति का प्रवाह सहस्रों वर्षों से वेद और उपनिषद् के काल से लेकर आज तक निरंतर बहता चला आ रहा है। जैसे, हिमालय की गोद से गंगा निरंतर समुद्र की ओर जाती है और मार्ग में करोड़ों मानवों को लाभान्वित करती जाती है. उसी प्रकार से हमारी धार्मिक धरोहर सहस्रों वर्षों से करोड़ों प्राणियों को प्रभावित करते हुए बहती आ रही है। वेद और उपनिषद्, ब्राह्मण और पुराण, ब्रह्मसूत्र, रामायण और महाभारत हमारे धर्म के प्रकाशस्तंभ हैं, जिनसे आज भी हमें प्रेरणा तथा शक्ति मिलती है।

श्रुति और स्मृति के इस अद्भुत आकाश में सबसे उज्ज्वल नक्षत्र भगवद् गीता है। आदि शंकराचार्य ने अपने एक स्तोत्र में लिखा है :

> भगवद्गीता किंचित धीता, गंगाजल लव कणिका पीता,
> सकृदपि यस्य मुरारि समर्चा, तस्य यमः किं कुरुते चर्चा,
> भज गोविन्दम्...

श्रीमद्भगवद्गीता को उपनिषदों का सार माना गया है :

> सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः,
> पार्थो वत्सः सुधीर भोक्ताः दुग्धं गीतामृतं महत्।

"भगवद्गीता का योग" के नाम से पहली बार हिन्दी अनुवाद में पाठको को प्रस्तुत किया जा रहा है। यह पुस्तक अंग्रेजी मे "द योग आफ द भगवद्गीता' के नाम से 1938 मे वाट्किन्स ने विलायत मे प्रकाशित की।

योगी श्री कृष्ण प्रेम एक अद्भुत व्यक्ति थे। उनका जन्म 10 मई 1898 को विलायत मे हुआ और 18 वर्ष की आयु मे उन्होने रायल एयरफोर्स मे प्रवेश किया। एक पायलट होते हुए ही उनको यह आभास हुआ कि मात्र सासारिक वस्तुओ से तृप्ति नही हो सकती और इस प्रकार उनके हृदय मे आध्यात्मिक ज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् वे किंग्स कालेज, केम्ब्रिज मे प्रविष्ट हुए, संयोग से उसी कालेज मे, जहां कुछ वर्ष पहले श्री अरविन्द ने भी शिक्षा ग्रहण की थी। भारतीय धर्म मे उनकी रुचि जाग्रत हुई, विशेषकर हिन्दू तथा बौद्ध दर्शन मे, और अडयार के थियोसोफिकल सोसायटी के माध्यम से उन्हे लखनऊ विश्वविद्यालय मे शिक्षक का स्थान प्राप्त हुआ। उस समय विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० जी० एन० चक्रवर्ती थे और उन्ही के घर रोनाल्ड निक्सन (बाद के श्री कृष्ण प्रेम) रहने लगे।

भगवदेच्छा प्राय: कार्यान्वित होने मे अद्भुत मार्ग अपनाती है। रोनाल्ड निक्सन एक मेधावी तथा प्रभावशाली युवा बुद्धिजीवी थे। उन्हे डा० तथा श्रीमती चक्रवर्ती ने अपने पुत्र के समान ही अपने परिवार मे रखा। छ: वर्ष उन्होने वहा प्रशिक्षण का कार्य किया और इस दौरान 1924 मे उन्होने श्रीमती चक्रवर्ती से ही दीक्षा प्राप्त की। जब डा० चक्रवर्ती विश्वविद्यालय से पदमुक्त हुए तो उन्होने वाराणसी मे रहने का निश्चय किया। 1928 मे श्रीमती चक्रवर्ती ने अपने पति से ही सन्यास ग्रहण किया, यशोदा मां का नाम अपनाया और हिमालय की ओर चली गयी। रोनाल्ड निक्सन उनके साथ हो लिए और मां से सन्यास लेकर श्री कृष्ण प्रेम का नाम पाया। उन्होने अपनी सब सम्पत्ति गुरु के चरणो मे अर्पण कर दी और अलमोडा मे कुछ समय के लिये भिक्षा मांगकर अपना और अपने गुरु का निर्वाह किया। 1930 मे यशोदा मां ने अलमोडा से तीस किलोमीटर उत्तर मे मिर्तोला नामक स्थान मे एक बडा सुन्दर श्री कृष्ण मन्दिर बनवाया जहा वे, श्री कृष्ण प्रेम और उनके कुछ अन्य शिष्य रहने लगे।

श्री कृष्ण प्रेम से मेरी भेट प्रथम बार 1958 में हुई। उनके संबंध मे मैने सर्वप्रथम श्री दिलीपकुमार राय की पुस्तको मे पढा था और उनका पता मुझे उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल स्वर्गीय कुलपति के० एम० मुन्शी ने दिया था। 1958 से लेकर 1984 तक, जब उनका देहात हुआ, मैं प्रतिवर्ष उनके दर्शन करने जाता था। उनके विषय मे, मैं केवल यही कह सकता हूं कि आज तक जितने भी महापुरुषों से मिलने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ उनमे ज्ञान, भक्ति

और मानवीयता में सबसे वरिष्ठ मै श्री कृष्ण प्रेम को ही मानता हूं। उनके संबंध मे उपनिषद् के ये शब्द नितांत सार्थक हैं :

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः

उनके संबंध में मेरे अपने संस्मरण तो मेरी आत्मकथा के दूसरे खण्ड मे मिलेंगे। यहां तो मैं पाठकों को केवल श्री कृष्ण प्रेम के संबंध मे कुछ जानकारी और पृष्ठभूमि देने का प्रयास कर रहा हूं। भगवद्गीता पर उनकी यह पुस्तक अद्वितीय है। इसमें कई विशेपतायें है, जिनमें से प्रमुख यह है कि उन्होंने पाश्चात्य आध्यात्मिक ग्रन्थों का स्थान-स्थान पर उल्लेख करके यह सिद्ध किया है कि आध्यात्म मार्ग न पूर्व का है और न पश्चिम का, यह सार्वभौम है और समस्त मानव जाति का इस पर अधिकार है।

इस पुस्तक के अनुवाद का कार्य मेरे दो गुरुभाई डा० जगदीश नौटियाल तथा सतीश पाण्डेय ने बड़े परिश्रम से सम्पूर्ण किया है जिसके लिए हिन्दीभाषी जगत उनका ऋणी रहेगा। मुझे विश्वास है कि "भगवद्गीता का योग" हिन्दी जगत मे अपनी एक छाप छोड़ेगा और गीता-प्रेमियो को लाभान्वित करेगा। श्री कृष्ण प्रेम ने कुछ और पुस्तकें भी लिखी है जिनमें "कठोपनिषद् का योग" विशेष महत्त्वपूर्ण है। मुझे आशा है कि यथासंभव मेरे मित्र उसका भी हिन्दी अनुवाद करने मे सफल होगे।

इस सारे कार्य मे हमारे गुरु श्री श्री माधव आशीष का, जो श्री कृष्ण प्रेम के शिष्य थे, आशीर्वाद व मार्गदर्शन रहा है जिसके बिना यह अनुवाद संभव न होता।

श्री कृष्ण जन्माष्टमी
20 अगस्त 1984

—कर्णसिंह

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

पाश्चात्य देशों में भी आजकल भगवद्गीता का परिचय कराने की बहुत कम आवश्यकता है। ससार का एक महान् आध्यात्मिक ग्रंथ मानकर इसका समादर करने वाले वहुत हैं और इसे अपने आंतरिक जीवन की मार्गदर्शिका बनाने वाले भी कम नही है। भारत मे इसकी लोकप्रियता के बारे मे तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नही है। यद्यपि इसके लेखक अज्ञात है (क्योकि इस परम्परागत मत को मानकर चलना कठिन ही है कि गीता कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि मे ऐतिहासिक कृष्ण द्वारा कही गई थी) फिर भी हिन्दुओ के सव सम्प्रदाय व मत इसके प्रति श्रद्धालु है और यह वेदांत के तीन आधार स्तंभों मे से एक है—अन्य दो स्तंभ है उपनिपद् और ब्रह्म सूत्र। जिन-जिन धर्माचार्यो ने अपनी शिक्षा को वेदांत पर आधारित बताना चाहा उन्होने गीता पर टीका लिखकर यह सिद्ध करना आवश्यक समझा कि उनके विचारों का गीता से समर्थन होता है।

इसके परिणामस्वरूप विभिन्न दृष्टिकोणो से की गई टीकाएं देखने मे आती हैं— द्वैतवादी व अद्वैतवादी, सर्वेश्वरवादी और ईश्वरवादी। कर्म, ज्ञान या वैयक्तिक ईश्वर मे आस्था रखने वाले सबके सब अपने सिद्धांत तत्त्व गीता मे ढूढ निकालते है। यद्यपि ऐसी व्यापक अपील गीता की सार्वभौमता का प्रमाण है तथापि ऐसे आधिकारिक पद की यह खराबी भी रही है कि विभिन्न टीकाकारों ने अक्सर पाठ के वास्तविक तात्पर्य को जानने मे कम और अपने मतलब की वात कहने या अपने प्रतिद्वन्द्वियो का प्रतिरोध करने मे अधिक शक्ति लगाई है।

असाध्य रूप से वाह्यात्मक विचारप्रणाली से ग्रस्त पाश्चात्य विद्वानो के ऐसे ही भिन्न-भिन्न मतो के बारे मे हम कुछ नही कहना चाहते। गार्ब (Garbe) के अनुसार गीता सांख्य योग की पाठ्य पुस्तक है जिस पर पहले कृष्ण और फिर किसी वेदांती ने अति लेखन द्वारा अपनी छाप लगा दी। हॉपकिन्स (Hopkins) ने इसे कृष्ण सम्प्रदाय के हित मे आग्रहपूर्वक लिखा गया एक वैष्णव काव्य माना। लगभग सभी पाश्चात्य विद्वानो को यह भी ऐतराज़ है कि गीता मे, इनके

मतानुसार, दार्शनिक असगतिया हैं और शब्दों का प्रयोग ढीलेढाले ढंग से किया गया है।

मैं यह साफ-साफ कह देना चाहता हू कि ऐसी विद्वत्तापूर्ण घोषणाओं को मैं कोई महत्त्व नही देता। जिस किसी के पास भी देखने को आखें हैं उसके लिए गीता सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित एक ग्रथ है और उस मार्ग के बारे मे है जिससे सत्य तक पहुचा जा सकता है। इस बात का कोई खास महत्त्व नही है कि इसका लेखक कौन था और किस पथ विशेष का अनुयायी था। सत्य को जानने वाले एक अलग ही जाति के होते हैं—ऐसी जाति जो हर्मिस ट्रिस्मेजिस्टस (Hermes Trismegistus) के अनुसार कभी मरती नही। सम्प्रदायो और पंथो के झमेले मे न तो इस जाति के और न इस जाति मे जन्म लेने की आकांक्षा करने वाले ही कभी पडते है।

ऐसे खोजने वालो के लिए एक ऐसे ही खोजने वाले द्वारा प्रस्तुत पुस्तक लिखी गई है। शायद कुछ पाठको को लगे कि टीका कुछ आधुनिक ढग से की गई है। इस पर मैं केवल इतना कहना चाहूगा कि किसी भी बुद्ध पुरुष के शब्द नित्य वास्तविकताओ के बारे मे होते है। ये वास्तविकताएं आज भी वही हैं जो हजारों साल पहले थी और गीता के पाठ का अर्थ ऐसी भाषा और शब्दो मे किया जाना चाहिए जो उन वास्तविकताओ को 'यहां और अभी' इगित करें न कि ऐसे शब्दो मे जो केवल मध्ययुगीन भारत या गीता के लेखन-काल के संदर्भ मे ही सार्थक हो। अन्यथा हम मात्र शब्दो को वास्तविकता समझने की भूल कर बैठेंगे। जैसा कि भगवान बुद्ध ने लंकावतार सूत्र मे सिखाया है, "अर्थ का बोध शब्दो द्वारा उसी प्रकार होता हे जैसे दीपक वस्तुओ को उजागर करता है'''ऐसे ही मैं भी अनेक रूपो और बिम्बो की सहायता से अपने पुत्रो को शिक्षा देता हू। परन्तु परमार्थ के शिखर की सिद्धि तो केवल अपने अदर ही हो सकती है।"

प्रस्तुत पुस्तक यह मानकर लिखी गई है कि गीता योग शास्त्र की एक पाठ्य पुस्तक है और परम पथ के अनुसरण की मार्ग-दर्शिका है। यहां 'योग' का तात्पर्य किसी प्रणाली विशेष से नही है जिसे यह नाम दिया गया हो। हमारा तात्पर्य ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग या पतजलि के अष्टाग योग से नही बल्कि सिर्फ उस पथ से है जिससे चलकर मानव अपने सीमित जीवात्मा को असीमित परमात्मा से जोड देता है। ऐसा है यह आंतरिक पथ जिसके अंश मात्र ही विभिन्न योगो के नाम से पुकारे जाते है। यह पथ इन विभिन्न शिक्षाओ का समन्वय मात्र न होकर वह आद्य व अखड इकाई है जिसके छोटे-छोटे अंश ही अलग-अलग प्रणालियों जैसे दिखाई देते है।

गीता में आरम्भ से लेकर अत तक इस पूरे पथ का लेखाजोखा है—जिसे

वौद्धजन 'श्रोतापन्न' अवस्था कहते हैं वहां से लेकर निर्वाण के लक्ष्य तक। इसीलिए अध्यायो की क्रमावलि का वहुत महत्त्व है और विना यह ध्यान रखे कि कौन वात पूरे संदर्भ मे कहां पर कही गई है गीता की शिक्षाओ की व्याख्या करना गलत होगा। ऐसी गलती कुछ टीकाकारो ने की है। उदाहरण के लिए, अट्ठारहवें अध्याय के 66वें श्लोक "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिश्यामि मा शुच:—सव धर्मो यानी अन्य सव आश्रयों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ। मैं तुझे सव पापो से मुक्त कर दूंगा। डर मत"—पर अक्सर इस तरह जोर दिया जाता है जैसे कि गीता के अन्त मे आने वाली इस शिक्षा पर पथ के आरम्भ मे ही अमल किया जा सकता हो। ऐसे विस्थापन का नतीजा सिर्फ यही होता है कि कई लोग वहुत भावुक वन वैठते है। लक्ष्य तक पहुंचने के लिए कोई छोटा वाला रास्ता नही है। हर साधक को पूरा का पूरा मार्ग तय करना ही पड़ता है। यह अलग वात है कि पिछले जन्मों के अभ्यास के फलस्वरूप किसी के लिए साधना की आरम्भिक मंजिले जल्दी-जल्दी तय हो जाएं पर फिर भी प्रत्येक अध्याय को उसके समुचित क्रमानुसार जीवन मे उतारना जरूरी है।

यह पथ हिन्दू या अन्य किसी धर्म की विशेष सम्पत्ति नही है। प्रत्येक धर्म मे कहीं कम तो कहीं ज्यादा गहराई मे छिपा हुआ यह पाया ही जाता है और किसी भी धर्म के अवलम्वन के विना भी यह कायम रह सकता है। इसीलिए गीता नि.सदेह एक हिन्दू ग्रन्थ और हिन्दू शिक्षा की चूड़ामणि होते हुए भी पृथ्वी भर के जिज्ञासुओ की मार्गदर्शिका होने की क्षमता रखती है।

हाल ही में एक ताओ विषयक चीनी पुस्तक पर सहानुभूतिपूर्ण व रुचिकर टिप्पणी करते हुए मनोवैज्ञानिक युग ने उन पाश्चात्य लोगो पर छींटा कसा जो प्राच्य योग साधना करते है। यह सच है कि पश्चिम के लोग तथाकथित योग साधना के नाम से जो कुछ भी करते हैं वह काफी, सम्भवत: अधिकांश, मूर्खतापूर्ण और मार्गभ्रष्ट होता है लेकिन ऐसा इसलिए नही होता है कि योग का उद्भव पूर्व मे हुआ वल्कि इसलिए कि उसका अनुसरण उचित प्रयोजन से नही किया जाता। योग की साधना तो केवल सत्य के लिए, या जिसे बुद्धदेव ने 'हृदय की पक्की मुक्ति' कहा है उसके लिए की जानी चाहिए। इस साधना को वहुत-से लोगो के समान केवल कौतूहलवश और नवीन प्रकार के स्फुरण या सिद्धि-लाभ के लिए करना गलत है और इस गलती का दड असारता, विक्षिप्ति या उससे भी कठोर रूप मे मिलता है। अशोभनीय प्रयोजनों से रहस्यो की ओर कोई प्रेरित न हो क्योकि इससे विनाश होना अवश्यम्भावी है।

यद्यपि जिस साजसज्जा मे उसे प्रस्तुत किया गया है वह भारतीय अवश्य है लेकिन स्वयं पथ न तो पूर्वी है न पश्चिमी। वह न तो किसी जाति विशेष का

"पथ का व्यावहारिक ज्ञान उसका अनुसरण करके हासिल करना चाहिए और अधिकांश जनसमूह के समान ही खुद भी नही बने रहना चाहिए।"

"यदि श्रद्धा की कमजोरी और बुद्धि की प्रबलता का मेल हो तो उसके परिणामस्वरूप वाचालता की खराबी आ सकती है।"

"श्रद्धा की प्रबलता और बुद्धि की कमजोरी का मेल हो तो संकुचित कट्टरता आने का डर रहता है।"

"कामना को श्रद्धा समझने की गलती हो सकती है।"

"आसक्ति को उदारता और करुणा समझने की गलती हो सकती है।"

"इंद्रिय ज्ञान को सत्य की झलक समझने की गलती हो सकती है।"

"परमार्थ की एक झलक मात्र को गलती से उसकी पूर्ण उपलब्धि समझा जा सकता है।"

"ढोंगियों को ऋषि समझने की गलती हो सकती है।"

"एक ऐसा विशद जीवन-दर्शन होना नितांत आवश्यक है जिसमें सम्पूर्ण ज्ञान समाहित हो सके।"

"एक ऐसी ध्यान-विधि नितांत आवश्यक है जिससे मन को जहां चाहे वहां केन्द्रित करने की क्षमता उत्पन्न हो सके।"

"जीवन-यापन की एक ऐसी कला नितांत आवश्यक है जिसके द्वारा मन, वचन और कर्म इन तीनों से पथ का अनुसरण करने मे सहायता मिले।"

जो लोग अद्भुत अनुभव और सिद्धियां प्राप्त करने के चक्कर मे रहते है या धर्म के ठकुरसुहाते आश्वासन ढूंढते है उनको इस सारे पचड़े से दूर ही रहना चाहिए अन्यथा वे अपना ही नही शायद कुछ औरो का भी जीवन बर्बाद कर देंगे। सत्य का पथ बहुत दुर्गम है और अंतर्यामी अधिष्ठाता मात्र खिलवाड़ करने का दंड बड़ी सख्ती से वसूल करता है।

पाठक को गीता की एक प्रति अपने साथ रखने की सलाह दी जाती है ताकि इस पुस्तक के हाशिए में इंगित श्लोकों को देख सकें। कही-कही टीका बहुमान्य अनुवादो से भिन्न प्रतीत हो सकती है। इस बारे में इतना ही कह सकता हूं कि ऐसा प्रामाणिक पाठ से अनभिज्ञ होने के कारण नही बल्कि बहुत सोच-समझकर किया गया है। सामान्य अंगरेजी जानने वाले पाठक के लिए श्रीमती बेसेंट का अनुवाद उपयोगी होगा। जो थोड़ी-बहुत संस्कृत भी जानते हों उनके लिए श्रीमती बेसेंट और भगवानदास (दि थियोसौफिकल पब्लिशिंग हाउस) का संस्करण, जिसमे मूल पाठ के साथ शब्द प्रति शब्द और सामान्य अंगरेजी अनुवाद भी दिया है, बहुत उपयोगी होगा। डबल्यू० डी० पी० हिल का किया हुआ अनुवाद भी बहुत अच्छा है और इसमे मूल पाठ भी शामिल है।

यह भी सलाह है कि पुस्तक का गंभीर अध्ययन शुरू करने से पहले परि-

उपक्रम

सामान्य भूमिका

गीता पर विचार-विमर्श करने से पहले महाभारत में अंकित उन घटनाओं की कुछ चर्चा करना उचित होगा जो गीता की रूपरेखा वनाती है। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि कई पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार गीता महाभारत के मौलिक रूप मे शामिल नही थी, लेकिन इन महानुभावों में से अनेक तो अभी तक यह भी सिद्ध नही कर सके है कि गीता या महाभारत सचमुच उनकी समझ मे आए भी हैं या नही। इसलिए मैं टीलेंग[1] (Telang) की तरह केवल इतना ही कहूंगा कि गीता को महाभारत के संदर्भ में वहुत सहज सुहाने ढंग से बैठाया गया है और महाभारत में वर्णित घटनाक्रम गीता के आंतरिक तात्पर्य को समझने में वहुत मदद कर सकते है।

पाश्चात्य पाठको के लिए इन घटनाओं का संक्षेप में वर्णन किया जाता है।

देवपुत्र अर्जुन[2] अपने चार भाइयों व चचेरे कौरवों के साथ राजा धृतराष्ट्र के दरवार मे पले। यद्यपि नेत्रहीन होने के कारण धृतराष्ट्र को सिंहासन पर बैठने का अधिकार न था, फिर भी उसने राज्य पर वलपूर्वक आधिपत्य जमा लिया था। इतने से ही संतुष्ट न होकर वृद्ध राजा ने कौरवों और पांडवो के साथ समान व्यवहार भी नही किया और हमेशा कौरवो की तरफदारी की। दोनों दलों के वीच मनमुटाव वढ़ता गया और दोनों के बीच राज्य का बंटवारा करने के एक संक्षिप्त प्रयत्न के वाद पांडवो को धोखे से जुए मे हरा दिया गया और उन्हें वारह वर्ष का वनवास और तत्पश्चात् तेरहवे वर्ष का अज्ञातवास स्वीकार करना

1 "प्राची के पुण्य ग्रंथ" (Sacred Books of the East) के टीलेंगकृत अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना देखिए।

2 अर्जुन के विख्यात पिता पाण्डु शापवश पुत्र-सुख से वंचित थे। इसलिए उनकी पत्नियो, कुंती वा माद्री, ने देवताओं से नियोग द्वारा पांच पाण्डव पैदा किए। देवराज इंद्र से कुंती ने अर्जुन को जन्म दिया।

पडा। इस अवधि के बाद हितैषी पर अशक्त राजा धृतराष्ट्र अपने दम्भी पुत्र दुर्योधन को पाण्डवों का हिस्सा उन्हें वापस करने के लिए राजी न कर सका। धृतराष्ट्र के सारथी संजय, परामर्शदाता भीष्म पितामह, व स्वय भगवान कृष्ण ने शान्ति स्थापित करने के यत्न किए पर युद्ध टल न सका और उभय पक्षों के सैन्य-दल कुरुक्षेत्र मे आमने-सामने डट गए। वहा से गीता का प्रारभ होता है।

विना इस प्रश्न मे गए हुए कि महाभारत की सब घटनाओं का प्रतीकात्मक महत्त्व है या नही और पूरे महाकाव्य मे बराबर एक युक्तियुक्त प्रतीकवाद देख पाना सभव है या नही, देखने वाले साफ-साफ देख सकते है कि ऊपर जिन घटनाओं को अति सक्षेप मे दिया गया है उनमे एक आंतरिक महत्त्व छिपा हुआ है। यह पूछने की कोई आवश्यकता नही है कि महाभारत के रचयिता के मन मे ऐसे प्रतीक-वाद का स्पष्ट बोध था भी या नही। शायद थोड़ी-बहुत ही नही बल्कि अधिकांश महान कलाकृतियां ऐसे प्रतीकवाद से भरी होती है जिनका समावेश रचयिता अपने सचेतन मन की किसी निश्चित परियोजना के अनुसार नही करता। ऐसा प्रतीकवाद जो मन की उन गहराइयो से आया होता है जहा सामान्य जाग्रत अवस्था की चेतना नही पहुचती, कभी-कभी ज्यादा खरा और गभीर होता है। उसमे कलाकार का मस्तिष्क नही अपितु उसकी आत्मा का ज्ञान भरा होता है। यदि ऐसा न हो तो हमें अफलातून (Plato) के साथ कला मात्र को 'छाया की छाया' मानकर अस्वीकार कर देना होगा।

नव-अफलातूनी रहस्यवादी विचारक पारफिरी[1] (Porphyry) ने होमर (Homer) के काव्य मे निहित प्रतीकवाद के खजाने की ओर ध्यान दिलाया है। यह सच है कि अधिकाश आधुनिक विद्वान ऐसी व्याख्याओ को यह कहकर अस्वी-कार कर देते है कि इनमे ऐसे प्रतीकात्मक अर्थों को मूल पाठ मे जबरदस्ती आरो-पित किया जाता है जो कि लेखक के मन मे नही थे। पर यह मत बिलकुल छिछला और महान् कला के स्वरूप के बारे मे अज्ञान पर आधारित है। ऐसी कला सदैव प्रतीकात्मक होती है क्योंकि वह एक ऐसे क्षेत्र मे जन्मती है जहा केवल प्रतीक की ही वाणी होती है। यदि होमर की 'ओडिसी (Odyssey) के बारे मे यह सब सच है तो महाभारत के बारे मे तो और भी होगा क्योकि इसमे एक सपूर्ण जाति की संस्कृति, महत्त्वाकांक्षाओ और परपराओ की अभिव्यक्ति है। प्रतीकवाद तो सुदरता के समान होता है--या तो आप उसे देखते है या नही देखते। और अगर कोई उसे देख पाता है तो फिर यह तर्क करना कि वह प्रतीकवाद लेखक द्वारा सचेत रूप से अभिप्रेत था या नही, उतना ही फिजूल है जितना यह पूछना कि वह सौदर्य सचेत रूप से अभिप्रेत था या नही। वह तो है ही।

1. यहां पारफिरी के लगाए सब अर्थों के ठीक होने का दावा नही भरा जा रहा है।

गीता का जो संक्षिप्त विवेचन मैं प्रस्तुत करूंगा वह न तो शास्त्रों की प्रामाणिकता पर आधारित है और न ही उसकी वैधता इस पर निर्भर करती है कि महाभारत की प्रत्येक घटना को इस टीका की रूपरेखा मे बैठाया जा सकता है या नही। ऐसा करना शायद सम्भव हो या न भी हो लेकिन प्रस्तुत कृति के उद्देश्य से यह बाहर है। इस पुस्तक की उपयोगिया तो केवल इसकी गीता के अर्थ स्पष्ट करने की सफलता पर निर्भर है।[1]

सवसे पहले तो यह ध्यान देने योग्य है कि पाण्डव वन्धुओ मे ज्येष्ठ न होते हुए भी अर्जुन उनमे प्रमुख है। स्वयवर[2] मे द्रौपदी को उसी ने जीता था। उसी को द्रौपदी वास्तव मे प्रेम करती थी और वही सव वड़े पराक्रमो का नायक था। युधिष्ठर धर्मराज और भीम महावली भले ही रहे हो पर पाण्डव अर्जुन के वीरोचित शौर्य पर ही निर्भर रहे। अर्जुन ही स्वयं महादेव से अलौकिक शस्त्रास्त्र लेने कैलाश गया था। फिर अर्जुन ही कृष्ण का विशेष सखा है और कृष्ण गीता के दसवें अव्याय मे युधिष्ठर को नही वल्कि अर्जुन को पाण्डवों मे मुख्य कह कर सम्वोधित करते हैं।[3]

श्रीमद्भागवत में अर्जुन ही कृष्ण के साथ पुरुषोत्तम लोक जाता है और वहां उसे दूसरा कृष्ण[4] कहा जाता है। फिर, महाभारत के अनुसार स्वर्ग पहुचने पर युधिष्ठर अर्जुन को ही कृष्ण के साथ "सव प्राणियों में सर्वोत्तम दो पुरुपो" के रूप मे वहां पाता है। वास्तव मे अभिन्न मित्र अर्जुन और कृष्ण को नर और नारायण, मानवीय आत्मा और दैवी आत्मा या जीव और आत्मन्[5], का प्रतीक तो माना ही जाता है। यही दो उपनिषद[6] मे चर्चित 'दो सुपर्ण' है जो चिर मित्र है और एक ही शरीर रूपी वृक्ष पर बैठे है। इनमे से एक, जीव, फल खाता है और दूसरा, आत्मन्, तटस्थ साक्षी मात्र रहता है। यह सच है कि नर और नारायण की व्याख्या ईश्वर के दो ऋषियों के रूप में अवतरित होने की कथा के रूप में भी की गई है। कहा जाता है कि ये दो ऋषि, नर और नारायण, आज भी हिमालय में तपस्या कर रहे है। पर यह कथा भी तो प्रतीकात्मक ही है। ऋषि का अर्थ है द्रण्टा यानी देखने वाला और वह है आत्मन्। "वह जो आंख द्वारा

1. मैं यहां यह भी कह देना चाहूगा कि इन विचारो की मौलिकता का कोई दावा नही किया जा रहा है। जो कोई इन्हे अपना समझता है वह वड़ी खुशी से इन्हे अपना सकता है।
2. स्वयवर एक प्रकार की प्रतियोगिता हुआ करती थी जिसमें क्षत्रिय जाति की कन्या अपना पति चुनती थी। इस घटना मे राजकुमारी पांच भाइयो की पत्नी वनी।
3. गीता 10, 37
4. इत्यादिग्रे भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना।
5. परिशिष्ट 'ख' देखिए।
6. मुण्डकोपनिपद् 3, 1, 1

देखता है पर जिसे आख नही देख सकती" ऐसा उपनिषद् का कहना है और दो ऋषियो की यह कथा जीवात्मा और परमात्मा के रूप मे एक देह मे अवतीर्ण द्वि-मुखी आत्मा की प्रतीक है। यह उल्लेखनीय है कि जिस स्थान पर ये ऋषि तपस्या करते है वह बद्री है। बद्री एक वृक्ष का नाम भी है जिसमे मीठे फल होते हैं और इस प्रकार यह प्रतीक हमारा ध्यान फिर उन उपनिषद् वाले पक्षियो की ओर आकर्षित करता है जो ऐसे पेड पर बैठे हैं जिस पर मीठे फल लगते हैं ('स्वादु पिप्पलम')।

अर्जुन और कृष्ण के महत्त्व को समझ लेने के बाद अब हमे अर्जुन के भाइयो और अन्य सम्बधियो के बारे मे विचार करना चाहिए। जैसा कि हम आगे देखेंगे, गीता के सोलहवे अध्याय मे श्रीकृष्ण सृष्टि की मनोवृत्तियो या चेष्टाओं को दैवी या प्रकाशवान और आसुरिक या अंधकारमय नामक दो भागो मे बांटते है। अर्जुन के भ्रातागण और शत्रु पक्ष के कौरव क्रमशः इन्ही दो मनोवृत्तियो के प्रतीक हैं। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन अपनी जगह पर किया जायगा।[1] यहा इतना कह देना पर्याप्त है कि आसुरिक व दैवी वृत्तियां, जिनको सामान्यत: नेकी और बदी कहा जाता है, वास्तव मे 'बाहर जाने वाली' तथा 'भीतर आने वाली' वृत्तियां अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति की शक्तिया है जो क्रमशः जीव को अधिभूत मे और अधिक धंसाती जाती है या उसे अधिदैव की ओर प्रत्यागमन मे साथ व सहायता देती हैं।[2] यह स्पष्ट है कि सामान्य धारणा के अनुसार इनका नेकी व बदी से तादात्म्य करना इनके असली अभिप्राय का मोटा-सा अनुमान लगाना ही है और गीता की विचारधारा से काफी नीचे स्तर की बात है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि कौरव और पाण्डव चचेरे भाई हैं। ईसाई विचारधारा को इतना कुठित कर देने वाला ऐसा चरम द्वैत यहां नही है जिसमे ईश्वर और शैतान दो हमेशा के विरोधी है और जो कभी एक नही हो सकते। दैवी और आसुरिक दोनो ही शक्तियां एक ही स्रोत से निकलती है और अत मे उसी मे विलीन हो जाती हैं।

अर्जुन के अलावा—जिसके बारे मे पहले कहा जा चुका है—अन्य पाण्डव भाइयो तथा अलग-अलग हर कौरव के प्रतीकार्थ पर अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नही है। जिन अन्य पात्रो के बारे मे हम कुछ विचार करेंगे वे है नेत्रहीन राजा धृतराष्ट्र और उनका सारथी संजय। केवल इन दोनो का ही कुछ महत्त्व है क्योकि गीता मे इनका प्रत्यक्ष रूप से विवरण आता है।

गीता की शिक्षाएं अर्जुन के सारथी कृष्ण के वचनो के रूप मे है और

1. अध्याय 16
2. परिशिष्ट 'ख' देखिए।

संजय इन वचनों को स्वयं दूर रहते हुए भी व्यास के वरदान स्वरूप सुन लेता है। व्यास शास्त्रों के प्रणेता है और प्रेरणाशक्ति के प्रतीक भी। संजय कृष्णार्जुन संवाद धृतराष्ट्र को दुहराता है। कौन हैं ये सब पात्र ? इन दो सारथियो का क्या महत्त्व है ?

जैसा कि कहा जा चुका है कृष्ण दैवी आत्मन् है जो जीव को संजीवन ज्ञान प्रदान करते है। सारथी का प्रतीक उपनिषदों मे तथा अफ़लातून के संवादों मे भी आता है। उपनिषदो मे जीव को रथ-रूपी शरीर का सवार कहा गया है जबकि बुद्धि, एक आध्यात्मिक शक्ति जिसके बारे मे आगे विचार किया जायगा, सारथी है। लेकिन गीता मे इस प्रतीक का उपयोग कुछ भिन्न रूप से किया गया है। यह सच है कि अर्जुन-रूपी जीव रथ पर आरूढ है परंतु सारथी कृष्ण के रूप मे स्वयं परमात्मा है।

इस विषय मे गीता और उपनिषद् का भेद दिखावटी अधिक और वास्तविक कम है। सर्वप्रथम, सारथी के रूप में कृष्ण उस आविर्भूत आत्मन् के प्रतीक है जिसे महत् आत्मन् भी कहा गया है और बुद्धि जिसका ज्ञानात्मक पक्ष मात्र है।[1] असल मे यद्यपि कठोपनिषद् आदि पुराने ग्रंथों मे ये दोनो अलग-अलग माने गए है परंतु बाद के लेखको ने दोनों को मिला दिया। फिर जब यह भी ध्यान मे रखा जाय कि कृष्ण के दीप्त पीले वस्त्रो को बुद्धि का प्रतीक माना गया है तो यह और भी साफ हो जाता है कि दोनो विचारधाराओं मे भेद कितना कम है।[2]

यहां यह भी कह देना जरूरी है कि इस प्रसग मे जिस वैयक्तिक आत्मा या जीव की चर्चा की गई है वह कोई अखंड इकाई नही है बल्कि केवल सर्वव्यापी आत्मन् की ज्योति है जो मनस् की उपाधि मे प्रतिबिम्बित होती है।[3] इस जीव को ही गीता मे देही यानी देह मे रहने वाला कहा गया है। यह वह अहंभाव (Ego) है जो एक जन्म से दूसरे जन्म मे जाता है और जिसे कभी जीवात्मा भी कहा जाता है। उपनिषदो मे इसे अंगुष्ठ मात्र पुरुष भी कहा गया है। यह बौने जीवात्मा के बारे मे कोई आदिम अंध-विश्वास नही है बल्कि आत्मन् का ऐसा प्रतीक है जो यथोचित आकार मे आविर्भूत होकर मन के निवासस्थल हृदय मे विराज सके। इसमे कोई शक नही कि आजकल मस्तिष्क को ही मन का निवास

1. परिशिष्ट 'ड' देखिए।
2. मैत्रि उपनिषद् (2) मे, जो कठोपनिषद् के बाद का है परन्तु जिसमे कई महत्त्वपूर्ण शिक्षाए है, पुरुष यानी आत्मन् को शरीर का सारथी कहा गया है।
3. श्वेताश्वर उपनिषद् देखिए (5, 8) एक मात्र चैतन्य की ज्योति शुद्ध मनस् के स्तर पर दीप्तिमान रूप मे मुखरित होकर अनेक जीवो का सृजन करती है—यह विचार गीता मे आगे चलकर और स्पष्ट हो जाएगा।

माना जाने लगा है परतु पुराने लोगों के लिए यह स्थान हृदय था। फिर चाहे मस्तिष्क का जाग्रत अवस्था की चेतना के साथ कितना ही घनिष्ठ सबंध क्यो न हो, यह एकदम पक्की बात है कि जब जीव अपनी उपस्थिति को प्रकट करता है तो उसका अनुभव हृदय (या कम से कम वक्षस्थल) मे होता है।

जीव और मनस् को इस प्रकार एक रूपेण देखना उन लोगो को विचित्र लग सकता है जिन्होने भारतीय विचारधारा का अध्ययन बाद वाली और विकसित दर्शन-पद्धतियो के आधार पर किया है। ऋग्वेद मे जीव को मनस् कहा गया है और आत्मन् शब्द का प्रयोग एक अवैयक्तिक श्वास के अर्थ मे किया गया है जो वास्तव मे आत्मन् शब्द का मूल अर्थ है। एक नियम है, जिसे आध्यात्मिक पदो के ह्रास का नियम कहा जा सकता है, जिसके अनुसार जो पद आरंभ मे ऋषियो द्वारा असामान्य स्तर के अनुभवों को व्यक्त करने के लिए इस्तेमाल किए जाते है वही बाद मे निरे पाडित्यपूर्ण विद्वानो के हाथ पडने पर सामान्य मानसिक स्तर के तथ्यों के लिए इस्तेमाल होने लगते है। इस नियम को अधिकांश रहस्यवादी साहित्य पर लागू होते देखा जा सकता है और फलस्वरूप समय-समय पर उच्चस्तरीय तत्त्वो को व्यक्त करने के लिए नए-नए शब्दो का आविष्कार करना पड़ता है।[1] ऐसी प्रक्रिया के फलस्वरूप ही मनस् शब्द जीव का द्योतक न रहकर केवल तार्किक विचार-क्षमता का पर्यायवाची बन गया।

रहे धृतराष्ट्र सो वे तो स्वार्थी अहभाव अथवा निचले और अनित्य व्यक्तित्व के प्रतीक हैं। अपने स्वार्थ व मूर्खतापूर्ण मोह से अंधा हुआ राजा नाममात्र के लिए ही इस शरीर रूपी राज्य का अधिपति है जिसे उसने अन्याय द्वारा प्राप्त किया है। धृतराष्ट्र का शब्दार्थ ही है—'राष्ट्र को हड़प लेने वाला'। यद्यपि वह अपने को राजा कहलवाता है तथापि उसका शासन नाममात्र का ही है। असली बागडोर तो उसके आसुरिक पुत्रो के हाथ मे है ठीक वैसे ही जैसे मनुष्य का व्यक्तित्व इतने गर्व से अपने को 'मै' कहकर संबोधित करता है पर वास्तव मे उसके अपना कहे जाने वाले शरीर पर असली शासन तो उसकी उन वासनाओ का होता है जिन्हे वह एक छोटा-मोटा आदेश भी सफलतापूर्वक नहीं दे पाता।

अंधे राजा का सारथी व मत्री संजय शुद्ध मनस् और अशुद्ध मनस् के बीच

1. इसके उदाहरण हैं योग वशिष्ठ की "तूरीयातीत" अवस्था और काश्मीर शैव मत के समस्त "शुद्ध तत्त्व"। यदि यह कहा जाय कि मनस् से युक्त होना आध्यात्मिक प्रगति के लिए आवश्यक ही नही बल्कि सबसे महत्त्वपूर्ण चरण है तो बहुत-से लोग कहेगे—"मन से युक्त होना ? वाह, जब भी मैं कोई विचार करता हूं या इद्रियो द्वारा ज्ञान ग्रहण करता हू तब ऐसा होता ही है।"

की कड़ी है। हिंदू दर्शन शास्त्र मे मन को उभयात्मक माना गया है। "मनस् द्विविध कहलाता है, शुद्ध और अशुद्ध—कामना से युक्त होने पर अशुद्ध और कामना से पूर्ण मुक्त होने पर शुद्ध।"[1] अशुद्ध मनस् ही धृतराष्ट्र है, स्वार्थी अहंभाव जिस पर कामना (दुर्योधन) हावी है। शुद्ध मनस् अर्जुन है : जीव। संजय इन दो के बीच की कड़ी है।

इन दो मनों या यों कहिए मन के दो पहलुओ के संबंध का साफ़-साफ़ वर्णन कर पाना सरल नही है। उच्चस्तरीय मनस् विशिष्टत होते हुए भी शुद्ध व निर्लिप्त होता है और स्वयं अपनी निर्मल ज्योति से देखता है जबकि अशुद्ध, निम्नस्तरीय मनस् कामना युक्त होने के कारण मलिन हो जाता है। इस बात को न समझ सकने के कारण ही आधुनिक विचारधारा मन को अचेतित (unconscious) की शांत या उद्विग्न तरंगों का दास बताती है। अधिकांश लोग तो जिसको अपना मन समझते है वह अशुद्ध मनस् है और उसके बारे मे वह व्याख्या नितांत सत्य है। परंतु शुद्ध मनस् तो स्वयं अपने ही स्वरूप में स्थित होता है और कामना के बवंडर में वह चट्टान की तरह एक दृढ शरणस्थल जैसा होता है। इस शुद्ध मनस् के बारे मे ही प्लाटाइनस ने लिखा है—"अभी तक हमारे जीवात्मा की पूरी तरह अधोगति नही हुई है। उसका कुछ न कुछ अंश बराबर बुद्धि लोक मे रहता है। फिर भी इंद्रियो द्वारा त्रस्त अशुद्ध मनस् हमें उसके प्रति अंधा किए रहता है जिस पर जीवात्मा के उच्चतर पक्ष की धारणा रहती है। (मनस् का यह) उच्चतर पक्ष क्षणिक सुखों मे कोई रुचि नही लेता और सदैव अपनी शांत संतुलित स्थिति में बना रहता है।"[2] संजय इन दो के बीच की कड़ी के रूप में आता है। प्लाटाइनस का कहना है कि निम्नस्तरीय मन तब ही अपने बंधन से छूटकर मुक्त उड़ान भर सकता है जब वह सत् के दर्शन के लिए अपनी स्मृतियो[3] का सहारा ले। इस कड़ी को किसी भौतिक रूप मे नहीं देखना चाहिए। यह तो एकदम मानसिक कड़ी है, उन दो के बीच जो यथार्थ में एक ही है। जब निम्नस्तरीय उच्चस्तरीय का मनन करता है तो उस उच्चस्तरीय का ज्ञान निम्नस्तरीय पर दीप्तिमान हो उठता है, और जिनको प्लाटाइनस ने अफलातून की भांति 'स्मृतियां' कहा है उनके रूप मे प्रकट होता है। कदाचित

1. मैत्रि उपनिषद् 6, 34
2. प्लाटाइनस कृत एनीड्स (Enneades) 4, 8, 7
3. स्मृतियो को अफलातून के द्वारा प्रयुक्त [illegible] -निया गया है—अर्थात् उसकी स्मृतिया जिसका जीव (मनस्) को अपने स्तर [illegible] और है न केवल इस जगत के [illegible] की निम्नस्तरीय स्मृतियां। गीता के अट्ठारहवें अध्याय के [illegible] मिलाइए।

इसको महात्म्य—सत्य, सौंदर्य या माधुता—की अनुभूति कहना बेहतर होगा। यही उसका आधार है जिसे आमतौर से अंतरात्मा (अंग्रेजी Conscience) कहा जाता है, यद्यपि इसे उन सामाजिक, पारिवारिक और जातीय पूर्वाग्रहो से भिन्न समझना जरूरी है जिन्हे अक्सर यही सम्मानित संज्ञा दे दी जाती है। कुछ विचारधाराओ मे उसे 'अत:करण' अर्थात् अंतर्मुखी होना भी कहा गया है हालांकि आमतौर से हिंदू दर्शन मे यह शब्द समस्त ज्ञानेन्द्रियों के एकत्रित रूप मे अर्थ मे उपयोग किया जाता है। यह वह पुल है जो आंतरिक गढ़ के चारो ओर की खाई के ऊपर इच्छानुसार रखा जा सकता और हटाया जा सकता है। यह वह सिंहद्वार है जिससे अमरत्व की ओर जाया जाता है, वह दूत है जिसके माध्यम से ऊपर की आवाज़ नीचे सुनी जाती है।

संजय धृतराष्ट्र का सेवक होते हुए भी कृष्ण मे श्रद्धा रख पाता है और सदैव अपने स्वामी को अपना निर्बल अहकार छोडकर कृष्ण की शरण मे जाने की मत्रणा देता है। इसीलिए व्यास-प्रदत्त प्रेरणा की सहायता से वह कृष्ण-अर्जुन सवाद सुन सकता है और जीव के आतरिक ज्ञान तथा क्षुद्र व्यक्तित्व के अधेरे अज्ञान के बीच की कडी बन जाता है।

यहा यह भी कह दिया जाय कि गीता के इन चार मुख्य पात्रो व हिंदू दर्शन मे बताई चेतना की चार अवस्थाओं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—मे अनुरूपता है। अंगरेजी मे इन अवस्थाओ का अनुवाद waking, dreaming, deep sleep और estatic state किया जाता है, लेकिन यह उदाहरणात्मक ही है वास्तविक नही है। इस अनुरूपता के बारे मे और अधिक नही कहा जाएगा क्योकि इसके लिए प्रतीको के दूसरे ही अर्थ लगाने पडेंगे और इससे बात और उलझेगी ही।

अब हम घटनाओ की उस रूपरेखा पर वापस आ सकते है जहां से गीता-प्रवचन आरभ होता है। अपने दैवी स्रोत को छोडकर जीवात्मा व्यक्तित्व की आसक्ति मे फंसकर परस्पर विरोधी शक्तियो से भरे इस ससार मे रहने लगता है। शुरू मे सघर्ष प्रच्छन्न रूप से चलता है क्योकि दैवी व आसुरिक शक्तियो का भेद अभी पूरी तरह व्यक्त नही हुआ है पर धीरे-धीरे वह बढता चला जाता है। इन दो शक्तियो के प्रभाव-क्षेत्र को अलग-अलग बांट देने की चेष्टाए विफल हो जाती है और यह ठीक भी है क्योकि जहा केवल सर्वव्यापी एकत्व हो वहा बटवारा कैसा? और इसलिए क्रिया व प्रतिक्रिया का होना अनिवार्य है। बहरहाल, जीव व उसके साथी नीचे की ओर खीचने वाली आसुरिक शक्तियो की माया द्वारा छले जाते है और उन्हे दीर्घकाल के लिए वीरानों मे मारा-मारा फिरना पडता है। इस अवधि मे जो वास्तव मे कई दीर्घ युगो तक चलने वाली होती है, जीव एक योनि से दूसरी मे भटकता है, कर्म करता है और उनका फल भोगता है। अपना

सारा वैभव डुबो देने के बावजूद वह धीरे-धीरे अपने विविध अनुभवों द्वारा ज्ञानार्जन करता है। यद्यपि इस प्रकार जीव असंख्य दुःख व भय झेलता है फिर भी अपने स्वामी परमात्मन् की कृपा से वह सम्पूर्ण विनाश से वच जाता है। इस दौरान अनुभव, ज्ञान और शक्ति का संचय होता रहता है क्योकि इसी काल मे अर्जुन अपने वे विचित्रास्त्र प्राप्त करता है जो वाद मे उसके इतने काम आते है। इस बीच संसार मे आसुरिक शक्तियों का अंधाधुंध शासन रहता है और आखिरकार तेरहवां वर्ष जो अज्ञातवास का वर्ष है, आता है जिसमे जीव व उसके भाइयो को अपने अस्तित्व तक को छिपाकर रहना पड़ता है।

यह उषाकाल से पहले रात का अंधतम प्रहर है। जीव को भृत्यवृत्ति करनी पड़ रही है और ऐसा लगता है जैसे उसे सब कोई बिलकुल ही भूल गए है। भौतिकवाद की शक्तियां विजयासन्न प्रतीत होती है और इतना ही नही कि जीव के अस्तित्व तक पर संदेह प्रकट किया जा रहा हो बल्कि उसे पूरी तरह अस्वीकार तक किया जाने लगा है।

परंतु जीव को इस तरह सदा के लिए अंधकार मे नही धकेला जा सकता। नियत अवधि का अंत आ गया है और जीवात्मा अपनी दिव्य शक्तियों के साथ गुमनामी से वाहर निकलता है। यह वडे महत्त्व की वात है कि सवसे पहली घटना धर्म की रक्षा के लिए राजा विराट के पक्ष मे लड़ी गई लड़ाई है। यद्यपि जीव वह लडाई भी छद्म वेश मे ही लड़ता है पर उसका शौर्य प्रकट हो ही जाता है और आसुरिक शक्तियां भाग खड़ी होती है। एक पक्ष की ओर से जीवात्म का हस्तक्षेप इतना निर्णयात्मक होता है कि कोई अन्य शक्ति उसके सामने टिक नही पाती। उदीयमान सितारे को सव पहचान लेते हैं और सबको यह आभास हो जाता है कि एक भीषण सघर्ष होने ही वाला है।

परतु जीव केवल अपने लिए कोई निरंकुश अधिकार नही चाहता। वह तो अपने भाइयों के लिए, जिनसे उनकी प्रभुता छीन ली गई थी, उन दैवी सर्ग के लिए ही, हथियार उठा रहा है। इन भाइयों के लिए भी वह अनन्य प्रभुत्व नही मांगता। वह जानता है कि दैवी शक्तियो की तरह आसुरिक शक्तियां भी विश्वलीला का अंग है और इसलिए वह राज्य का न्यायोचित बटवारा करने को तैयार है।

वयोवृद्ध योद्धा व परामर्शदाता भीष्म तथा द्रोण, जो अंधविश्वास और स्थापित सुव्यवस्था व प्राचीन परम्परा के प्रतीक है, होने वाले युद्ध की भयावहता को पहचानते है। अंतरात्मा के प्रतीक संजय की भांति वे भी समझौता करवाने का प्रयत्न करते है। स्वयं श्रीकृष्ण अनुनयपूर्ण शव्दो मे शांतिमय सामंजस्य के लाभ वताते हैं पर इस सबका कुछ असर नही होता। दुर्योधन कुछ भी सुनने को तैयार नही होता और बूढ़ा राजा अपने उद्दंड पुत्रों को काबू कर पाने मे अपनी

असमर्थता घोपित कर देता है। अतः युद्ध अवश्यम्भावी है। दैवी व आसुरिक शक्तियो का संघर्प टल नही सकता और दोनों पक्षो की सेनाएं एक-दूसरे के सामने कुरुक्षेत्र के मैदान मे डट जाती है। ऐसे महान निर्णायक क्षण मे गीता का प्रारंभ होता है। विरोधी पक्ष युद्ध के लिए व्यूहवद्ध खडे हैं और जिस सघर्प की वहुत दिनो से प्रत्याशा थी वह अव हुआ ही चाहता है।

धृतराष्ट्र ने कहा, "हे सजय, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र मे इकट्ठा हुए मेरे व पाण्डु के युद्धातुर पुत्रो ने क्या किया ?"

अध्याय 1

अर्जुन विषाद योग

बहुत-से पाठक गीता के पहले अध्याय को केवल परिचयात्मक और अधिक महत्त्व का न समझ कर उतावली मे पढ बैठते है। किंतु ऐसा करना भूल है। इसमे कोई संदेह नही कि यह एक परिचयात्मक अध्याय है, परतु परिचय किस विषय का ? महाभारत काव्य मे वर्णित किसी ऐतिहासिक स्थिति या दार्शनिक शिक्षा का ही परिचय न होकर यह अध्याय स्वयं योग का भी परिचय है और अगर इसे ठीक से समझा जाय तो हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता है।[1] अन्य सब अध्यायों के समान इसे भी एक योग कहा गया है और 'अर्जुन विषाद योग' का नाम दिया गया है।

जैसा कि हम पहले कह आए हैं, गीता उस समय आरंभ होती है जब नीद से उठने वाले के समान विस्मृति के अंधेरे मे दवा जीव उससे बाहर निकलने लगता है। अर्जुन रूपी जीव अपने को कुरुक्षेत्र के मैदान मे ऐसी स्थिति मे पाता है जिसमे भयंकर संघर्ष अवश्यंभावी है और जिसमें उसके अपने मित्रगण, सगे-संबंधी व पुराने गुरुजन उससे लड़ने के लिए कटिबद्ध हैं। इस मैदान मे, जिसको बड़े सार्थक रूप से 'धर्मक्षेत्र' कहा गया है, प्रवृत्ति और निवृत्ति की विरोधी सेनाएं आमने-सामने खडी है और यहां दैवी कृष्ण के निर्देशन मे जीव दोनो सेनाओ के बीच में पहुंचकर पूरी स्थिति का विहंगावलोकन करता है।

श्लोक 24-28

जब तक जीव आंतरिक लोकों मे ही छिपा रहता है तब तक संघर्ष खुल्लम-खुल्ला नही होता और, जैसा कि भूमिका मे वर्णन किया जा चुका है, व्यक्ति एक अनुभव से दूसरे में बिलकुल अव्यवस्थित ढग से धक्के खाता रहता है। परतु

1. यहां यह कहने का कोई इरादा नही है कि इस अध्याय मे जिन राजाओ व योद्धाओ का नाम लिया गया है उनमें से हर एक का कोई प्रतीकात्मक महत्त्व है। इनके ऐसे अर्थ लगाने के प्रयत्न किए गए हैं, लेकिन मैंने जो भी देखे हैं उनमे नकलीपन झलकता है।

ऐसी स्थिति हमेशा तो रह नही सकती और जागृति की उन्मत्तता की प्रतीक, राजा विराट के लिए लडे गए युद्ध मे प्राप्त विजय की स्मृति क्षीण होने पर जीव अपने को निस्सदेह घोर विषाद की स्थिति मे प ाता है।

युद्ध के आह्वान मे शंखनाद करना और प्रवृत्ति की आसुरिक शक्तियों से लड़ने की प्रत्याशा से रोमाचित हो जाना तो सरल था परतु विरोधी मानसिक रुझानो के बीच असमजस मे निश्चेष्ट पड़े जीव को एक झटके मे जब अंतर्दृष्टि आती है तक जाकर अर्जुन की समझ मे आता है कि इस सघर्ष मे दाव पर क्या लगा है। सगे-संवधी, वाल्यकाल के मित्रगण और पूज्य गुरुजन भी उसके शत्रुओं के साथ साठ-गांठ लगाए है और ऐसा लगता है जैसे स्वय उसका

श्लोक-14

रक्त ही उसके विरुद्ध हो गया हो। अपनी घोर विस्मृति निद्रा की दीर्घ अवधि मे जीव ने न जाने कितने प्रकार के सबध स्थापित कर लिए है, कितने ही आदर्शो और परंपराओ के निर्देशन को स्वीकार कर लिया है और अव जाकर यह समझ मे आ रहा है कि इन सबधो को नष्ट करना होगा और उन आदर्शों को, जिन्हे कि कितनी ही बार उसने जीवन का परम लक्ष्य ही समझा था, युद्ध की वलिवेदी पर कठोरतापूर्वक चढाना होगा क्योंकि वे प्रवृत्ति की वहिर्मुखी शक्तियो से मिले हुए है और जीव की भवितव्य विजय के विरोधी है।

अब तक जाति और कुटुम्ब मे संकीर्ण दायरे मे रहने से ही व्यक्ति संतुष्ट रहा है। नातों-रिश्तो के बंधनो मे बंधे हुए उसने समझा है कि वस इतना ही काफी है कि वह समाज व राष्ट्र के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाता रहे और जिन धार्मिक व नैतिक मान्यताओ के बीच उसने जन्म लिया है उनका यानी अपने गुरुओ के आदर्शों का—अनुसरण करने का प्रयास करता रहे। परंतु समाज व जाति तो अनित्य है जवकि जीव नित्य है और वह अन्त मे अपने आप के अलावा और किसी पर आश्रित नही रह सकता। "अच्छा या बुरा लेकिन मेरा देश" यह सरल-सा सिद्वात विरोधी वफादारियो के संघर्ष मे नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। जिन आदर्शो ने पहले उसे ऊपर उठाया था वे अब और आगे मार्गनिर्देशन करने मे अशक्त है क्योकि अब पता चल गया है कि वे मानसिक परिकल्पना मात्र है और जीव की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त है।

और यह सघर्ष सिर्फ बाह्य सबधो, सुस्थापित प्रथाओ व सुपरिचित आचार-विचार विषयक मान्यताओं के साथ ही नही है। आतरिक लोक मे भी उसके सामने ऐसी ही स्थिति है। अपने विरुद्ध वह अपनी कामनाओ की सेना खड़ी देखता है। केवल ऐसी कामनाएं ही शत्रु नही जिन्हे परपरानुसार 'बुरी' माना जाता है बल्कि अन्य वहुत-सी कामनाएं भी है जैसे निर्दोष भोगविलास की कामना, समाज मे इष्ट मित्रो से घिरे नाम कमाने की कामना तथा सुविधापूर्ण

व निश्चित जीवन-यापन की इच्छा। ऐसी अनेक कामनाएं जीव के विरुद्ध खड़ी हो गई है—उन आदर्शों के नेतृत्व में जो स्वयं उन कामनाओं के वश मे है। खून के रिश्तों की पुकार, जमीजमाई आदतो और रूढियो की प्रतिष्ठा तथा वे विचारधाराएं जिनसे पहले काम चल जाता था—ये सब ही अब शत्रु पक्ष मे खड़े है। और सबसे कटु सत्य तो यह है कि देशभक्ति, कुटुम्ब-स्नेह और धार्मिक निष्ठा के चमकते आदर्शों ने भी कौरवो का "नमक खा लिया है"।[1] और यद्यपि पहले ये ही मार्ग-निर्देशन और गुरु का काम करते थे, पर अब भीष्म और द्रोण की भांति उन्होने भी जीव के विरुद्ध हथियार उठा लिए है और इसलिए उनका वध करना ही होगा।

यह वह स्थिति है जिसमे प्रत्येक आकांक्षी अपने को पाता है और जिसमे होकर सभी को कभी न कभी गुजरना ही पड़ता है। यह कोई बड़े आश्चर्य की बात नही कि हताश अर्जुन का धनुप उसके अशक्त हाथो से फिसल जाता है और वह एक असह्य शोक मे डूब जाता है। ऐसे विषाद का अनुभव हर साधक को अनिवार्य रूप से होता है जिनके लिए हम राज्य, सुख और भोग की आकांक्षा करते है। यदि उन सबको पहले युद्धभूमि पर मृत देखना है तो ऐसी विजय है किस काम की? यदि कामना मात्र का त्याग करना है तो क्या सारा जीवन ही एक वीरानगी नही हो जायगा—एक विशाल मरुभूमि जिसमे विजयी जीव बर्बादी के सिंहासन पर बैठा अर्थहीन थोथा राज्य चलाएगा? आखिर ऐसा भीषण बलिदान करने के लिए हमसे क्यो कहा जा रहा है और अंत मे इससे हमको मिलेगा भी क्या? ऐसी रक्तरंजित दावत खाने से अच्छा तो भिखारी के टुकड़ों पर जीवित रहना ही है?[2] अर्थात् इस दुर्गम पथ पर चलने से तो अच्छा यह है कि जो सहज भोग इस जीवन मे उपलब्ध हो उनका सुख उठा लिया जाय अन्यथा इस पथ का तो लक्ष्य भी अभी तक कल्पनातीत है और इस पर चलने का सिर्फ यही एक नतीजा निश्चित मालूम होता है कि हमे अपने प्रियजनो की लाशो के ऊपर से गुजरना होगा।

श्लोक 29-30

इसके अलावा एक और संशय हृदय मे उत्पन्न होता है। "कुल क्षय से सनातन कुल धर्म नष्ट हो जाते है और इन परपराओ के नष्ट होने से समस्त

1. भीष्म ने भरी कौरव सभा मे द्रौपदी के चीर-हरण को चुपचाप सहन करने का कारण बहुत समय से कौरवो का नमक खाना बताया। अर्थात् लम्बी अवधि से प्राचीन परम्परा की सेवा में रत विश्वास की शक्ति, इस परम्परा के मूढाग्रह मे पतित हो जाने पर, आसुरिक शक्ति बन जाती है।

2. गीता, 2, 5

समाज मे अराजकता फैल जाती है।" इन सारी कामनाओ और विशेष रूप से उन आदर्शों के नष्ट होने से क्या संसार मे अस्त-व्यस्तता नही फैल जाएगी ? समाज तो अपने सदस्यों की सामान्य कामनाओ पर आधारित होता है और प्रचलित विचारधाराओ के एकतरफापन से बंधा रहता है। एक अज्ञात लक्ष्य की ओर जीव की प्रगति के नाम पर क्या ऐसे संतुलन को बिगाड़ना उचित है जो कम से कम समय की कसौटी पर तो पूरा उतरा ही है। क्या आकांक्षी अपनी कामनाओ के त्याग से अपने को संसार के दिन-प्रतिदिन के जीवन यानी स्वजनो के सुख-दुख मे भाग लेने के अयोग्य नही बना देगा और इस तरह पुरातन परंपरा के आदर्शों को तोड़कर क्या संसार में विप्लव नही हो जाएगा ?

Wilt thou dare
Put by our seared books, dethrone our gods,
Unpeople all the temples, shaking down
That law which feeds the priests and props the realm.

"जुर्रत करेगा तू
हमारे पवित्र धर्मग्रथो को ठुकराने
और देवताओं को अपदस्थ करने की ?
करने की हमारे देव मदिरो को वीरान ?
जीविका पुरोहितो की और राज्य की सत्ता
जिस पर टिकी है
गिरा डालने की वह विधान ?"[1]

कुछ पक्की तथा कुछ कच्ची धारणाओ पर आधारित ऐसी शकाए हृदय में आती है। चाहे कोई पूरी तरह माने या न माने, इनका उद्गम स्थान निराशा की उस भावना में होता है जो हृदय मे ऐसे जीवन की कल्पना करने पर भर आती है जिसमें सब क्षुद्र स्वार्थपरक कामनाओ का पूर्ण त्याग और हनन करना होगा।

और न ही इस अवस्था में प्रकाश की कोई किरण अधकार को प्रकाशित करती दिखती है। यद्यपि गुरुदेव जीव के सन्निकट खड़े है पर अभी तक उनकी वाणी सुनाई नही दी है। अपने भूतकालीन विकास के फलस्वरूप युद्धभूमि तक

1. लाइट ऑफ़ एशिया, 4

लाया गया और युद्धासन्न स्थिति में दुविधा मे पडा जीव साहस खो वैठता है और भयावह परिणाम की सम्भावना से भयभीत होकर युद्ध से मुह फेर लेता है—परिणाम भी ऐसा जिसमे विजय और पराजय दोनों ही समान रूप से निष्प्रभ प्रतीत होती हैं।

इस विषाद का असली कारण, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसे भावी जीवन की कल्पना है जिसमे सब इच्छाएं व महत्वाकांक्षाएं मृत होंगी। हम ऐसे जीवन के इतने अभ्यस्त है जिसमें सब कर्म कामना पर आधारित होते है कि किसी और जीवन की हम कल्पना भी नही कर सकते और दुखित मन से पूछते है कि ऐसे अस्तित्व का प्रयोजन क्या है? अभी तक जीव ने यह नही सीखा है कि यदि श्रीकृष्ण है तो सब कुछ है, कि माता-पिता, पत्नी और पुत्र-पुत्री स्वयं उनके लिए नहीं "वल्कि आत्मन् के लिए" प्यारे होते है।[1]

फिर भी विषाद का यह अनुभव वहुत जरूरी है जैसा कि हम वुद्ध देव के "चार आर्य सत्यो" में से पहले सत्य मे देख सकते है जहां उन्होंने अति सुन्दर शव्दो में जीवन के सारभूत शोक की व्याख्या की है।

कृष्ण की वाणी केवल नीरवता मे सुनी जा सकती है और जब तक हृदय कामना के कोलाहल से भरा हो तव तक उस वाणी की झनकार सुनाई नही देती। जब वाहरी दुनिया बिलकुल अंधेरी हो जाती है तब जाकर ही दैवी तारिका की किरण हमे दीखती हैं। यद्यपि वह चमकती तो सदा ही रहती है पर हमे उसकी अनुभूति पहले तव होती है जब तथाकथित जीवन की चकाचौंध कर देने वाली चमक निस्तेज हो जाती है।

यही तारा बाद में ऐसे प्रकाश से चमकेगा कि "आकाश में एक साथ चमकते सहस्र सूर्यों की आभा सम्भवत: उस महात्मा के तेज के समान हो,"[2] और इस दुनिया का सारा तुमुल नाद हमारे कानों को उस गौरवपूर्ण वाणी की लय व ताल के लिए वहरा नही कर सकेगा। यह वह वाणी है जो आत्मा की तरंगों के संसार तट पर टकराने से अनंत काल मे गूजती रहती है।

परन्तु इन महिमाओं का समय अभी नही आया है। प्रारम्भ मे तो ज्योति एक हल्के से टिमटिमाते तारे के समान और वाणी केवल "वुलवुल के अपने जीवन-संगी को विरह गीत सुनाने"[3] के बराबर होती है। इसीलिए ऐसा है कि साधक को दिव्य सूर्य पथ पर चलने से पहले विषाद की उपत्यका में प्रवेश करना अनिवार्य है और संसार के उजाले व खिलखिलाहट की ओर से अपने आख-

1. वृहदारण्यक उपनिषद्, 2, 4
2. गीता 11, 12
3. वायस ऑफ साइलेंस।

कान बंद करने होते है। वड़े शोक के साथ उसे यह अनुभूति होगी कि वह जो कुछ है और उसके पासजो कुछ है वह सव नही के वरावर है। इसके उपरान्त ही यह आनद पूर्ण ज्ञान होगा कि उसके हृदय के अंदर ही सव कुछ है।

"अपने धनुष वाण को फेंक कर अर्जुन शोक सविग्न मन से रथ मे निढाल-सा हो वैठ गया" और इस प्रकार विषाद और शोक के वातावरण मे पथ का प्रथम चरण, गीता का पहला अध्याय, समाप्त होता है।

श्लोक 47

अध्याय 2

सांख्य योग

इसअध्याय का सूत्रपात करने के लिए संवाद के प्रारम्भ मे अर्जुन की मनोदशा का सही चित्रण करने वाले निम्नलिखित वचन उपयुक्त है जो प्राचीन काल में राजा जनक ने सांख्य आचार्य पचशिखा से कहे थे : — "यदि मुक्ति का अर्थ सुखभोग के समस्त वस्तु विपयो से संवंध विच्छेद करना ही है तो मनुष्य उत्कंठा से कर्म करने की इच्छा क्यो रखेंगे ? ज्ञान-प्राप्ति से लाभ और अज्ञान से हानि ही क्या है ?"

चारों ओर वीरानी से घिरे जीव के पास सिवाय इसके और कोई चारा नहीं कि वह अंतर्मुखी होकर सद्‌गुरु को खोजे। इस दिशा के अलावा वह जहां कही भी देखता है उसे केवल एक कड़वा खोखलापन ही दिखाई देता है और उसके अपने पौरुप व सहनशक्ति की याद दिलाई जाने पर भी कुछ काम नही चलता, क्योकि जव किसी की सारी दुनिया ही उजड रही हो तो मात्र पौरुप क्या खाक करेगा।[1] काफी मात्रा मे आत्मदया से भरपूर अपनी उस दुर्दशा (कार्पण्य दोप) से ग्रस्त आखिर परम नैराश्य में जीव अपने अंदर के दैवी कृष्ण की ओर उन्मुख होता है और विनय करता है—"मैं तेरा शिष्य हूं। मुझे सिखा। मैं तेरी अनुनय करता हूं।"

श्लोक 2, 3, 7

लेकिन जीव अभी तक वास्तव में अपने को गुरु-चरणो मे अर्पित करने को तैयार नही है। सच्चा आत्मनिवेदन तो वाद में ही सम्भव होगा क्योकि साफ

1. वर्टरड रसेल (Bertrand Russal) की फ्री मैंन्स वार्शिप ((Free Man's worship) से तुलना कीजिए। रसेल की यह उक्ति कि हमें प्रोमीथियस के समान "निराशा की अटल चट्टान के आधार पर" मंसार की अवज्ञा करनी चाहिए, चाहे कुर्सी पर वैठने वाले सशयवादियो को पुलकित भले ही कर दे, उस व्यक्ति के कुछ मतलव की नही जो वाकई गर्त मे पड़ा हो। अपनी ईमानदारी के वावजूद रसेल की वाग्मिता थोथी ही रह जाती है।

श्लोक 9

दीख रहा है कि उन्ही गुरु-चरणो के पास जिनकी शरण मे उसने अभी क्षणभर पहले ही समर्पण किया था, अर्जुन अपने विचार को छोड़ने से इंकार करता है और अत्यत शोकातुर होकर कहता है—"न योत्स्य— मै लड़ूगा नही।"

ये शब्द अत्यंत सारगर्भित हैं क्योकि ये हमारी उस गलती को व्यक्त करते हैं जो हम सब बराबर किया करते है। शिष्य अतर्यामी परमेश्वर अथवा उनके मानवीय प्रतिरूप गुरु से शिक्षा की याचना करता है और उनकी पूर्ण रूप से सेवा करने का दम भरता है परन्तु कही या अनकही एक शर्त फिर भी उसके मन मे रह जाती है. "हे प्रभो, मैं आपका हू और आपकी आज्ञा का पालन करूगा परन्तु मुझ से बस एक बात के लिए मत कहिए क्योकि वह मेरे वस की नही है—मैं लड़ूगा नही।" यही कारण है कि अक्सर गुरु से की गई विनय का कुछ नतीजा नही निकलता मालूम होता और बहुतो का तो गुरु की उपस्थिति तक मे विश्वास उठ जाता है क्योकि वे सोचते है कि यदि गुरुदेव सचमुच होते तो उनकी वाणी अवश्य सुनाई देती।

परन्तु असम्भव की माग नही की जा रही है। यदि धैर्य के साथ अनवरत प्रयत्न किया जाय तो धीरे धीरे एक नया व दैवी ज्ञान जीवात्मा मे अस्पष्ट रूप से गुपचुप प्रवेश करता है और उसके अधकार को धीमे से प्रकाश से उज्ज्वलित करता मालूम होता है। सच्चा ज्ञान तो जीवात्मा के अदर ही पाया जा सकता है; जो केवल पुस्तको से प्राप्त हो या सुनासुनाया हो वह वास्तविक ज्ञान नही होता। बाह्य शिक्षा इतना तो कर सकती है कि जो शुरू मे अतर्बोध द्वारा अस्पष्ट-सा ही प्रतीत हुआ हो उसको स्पष्ट करने मे सहायता कर दे परन्तु वह स्वयं अतर्बोध की जगह नही ले सक्ती। किसी भी सद्गुरु का कार्य तो केवल उसको आविर्भूत कर देना है जो अदर पहले ही से विद्यमान है। इसी बात को कवि ब्राउनिंग ने अपनी कविता "पैरासेलसस" (Paracelsus) मे अति सुदर रूप से कहा है—

"Truth lies within us ourselves; it takes no rise
from outward things, whatever you may believe.
There in an inmost centre in us all
Where truth abides in fullness, and to know
rather consists in opening out a way
whence the imprisoned splendour may escape,
than in effecting entry for a light
supposed to be without."

"यो कोई जो चाहे माने पर
सत्य तो होता है हमारे अपने ही भीतर
बाहरी चीजो से जन्म नही लेता वो।
एक अंतरंग केन्द्र होता है हम सब में
जहां सत्य अपनी पूर्णता मे विराजता है।
जानने का अर्थ यही है कि उस बंदी प्रकाश को
बाहर निकलने का मार्ग खोल दिया जाए
ये नही कि बाहर की कोई रोशनी ही भीतर आए।"

इस आंतरिक ज्ञान की प्रव्यक्ति का प्रथम चरण इस अनुभूति के रूप मे आता है कि स्वयं अपने अंदर ही "वह" है जो अमर है। यह अनुभूति बड़े बुनियादी महत्त्व की है क्योकि इसके बिना आध्यात्मिक जीवन का कोई स्थायी आधार नही हो सकता। यहां व्यक्तिगत उत्तर जीविता का सवाल नही है, परन्तु यदि मनुष्य के अस्तित्व का बीज कोष किसी अमर वस्तु पर आधारित न हो तो फिर उसके जीवन मे कोई आधारभूत मूल्य नही हो सकता क्योकि अंत मे तो महाकाल सब कुछ को निगल ही जाएगा।

"कि मानव का सृजन ऐसे कारणो द्वारा हुआ है जिनको उस लक्ष्य का पूर्व ज्ञान नही था जिसे प्राप्त करने मे वे लगे हुए थे; उसका मूल, उसका विकास, उसकी आशाए व आशकाएं, उसके अनुराग व विश्वास विभिन्न परमाणुओ के अकस्मात इकट्ठा हो जाने मात्र से बने है; कि कोई लगन, कोई शौर्य या विचार अथवा भावना की प्रगाढ़ता व्यक्तिगत सत्ता को मृत्यु के पार बनाए रखने मे समर्थ नही है; कि युगों से किया गया उद्यम, युगो की भक्ति, प्रेरणा, मानवीय मेधा की चमक, सब के सब सौर मडल की महान मृत्यु मे लुप्त हो जाएगे और मानव के सारे किएकराए का पूरा मदिर ही अनिवार्यत: एक उजड़े विश्व के मलबे मे दब जाएगा। ये सब बाते अगर एक दम विवाद रहित न भी हो तो भी लगभग इतना तो निश्चित है कि इनको अस्वीकार करने वाला कोई भी दर्शन टिक सकने की आशा नही कर सकता।"[1]

बहरहाल, रसेल महाशय की यह सर्वनाश की गुहार अनावश्यक है। इस प्रारम्भिक अवस्था में भी हृदय के अंदर एक अनश्वर की धुंधली-सी अनुभूति होने लगती है। शुरुआत मे अनुभूति सम्भवत: इस अपरिष्कृत सिद्धात के रूप मे हो सकती है कि शरीर के अंदर ही एक शाश्वत जीवात्मा का निवास है। समय के साथ यह बात स्पष्ट हो जायगी और तब तक केवल सिद्धांत की अपरिष्कृतता

1. बर्टरंड रसेल, "ए फ्री मैन्स वर्शिप"

के कारण ही उसमे निहित उस मूलभूत सत्य से आंखें नही मूंद लेनी चाहिए कि हमारे अदर ही ऐसा कुछ है जो शाश्वत है ।

अभी इस मंजिल पर हमे ऐसी साफ नजर की आशा नही रखनी चाहिए जो बाद मे अपने समय पर आएगी । परन्तु फिर भी शिष्य को इतना तो महसूस हो ही जाना चाहिए कि जो भीतर का निवासी है वह उससे भिन्न है जिसमें वह निवास करता है। इन्द्रियों के स्पर्श ("मात्रास्पर्शाः") तो आते-जाते रहेंगे परन्तु शिष्य को प्रतीत हो जायेगा कि उसका उनसे तादात्म्य नहीं है बल्कि वे तो ऐसी बातें है जो उसके साथ घटित होती है और उसे इन सबको धैर्यपूर्वक सहन करने के लिए तत्पर रहना चाहिए ।

श्लोक 14

"वस्तुए अपने मे जीवात्मा को नही छू पाती, जरा भी नही···अपनी आत्मा के उस भाग को जो तेरा नेतृत्व और शासन करता है शरीर की सुख-दुखात्मक चेष्टाओं से विचलित न होने दें और उसे शरीर की उन चेष्टाओं से युक्त न होने दें बल्कि उसके चारो ओर घेरा डालकर सुख-दुःख को उनकी अपनी जगह पर ही सीमित कर दें ।"[1]

जो इस प्रकार दृढतापूर्वक अपने को ऐन्द्रिक जीवन से अलग करने का प्रयत्न करता है केवल वह ही अमरत्व प्राप्त करने के योग्य है । जैसे-जैसे वह यह संघर्ष करता जाता है वैसे-वैसे उसको यह अनुभूति होने लगती है कि नाम रूप का यह "अति अति ठोस" संसार वह अनित्य छायाचित्र मात्र है जो नित्य अव्यक्त व नित्य शाश्वत तत्त्व के ऊपर पर्दा डालकर उसे हमारी आंखों से ओझल किए रहता है। "नासतो विद्यते भावो न भावो विद्यते सत.—असत कभी विद्यमान नही होता और सत का कभी अभाव नही होता" । इसी सत्य की गूंज कवि शेली (Shelley) की इन पंक्तियो मे मिलती है—

श्लोक 15,16

"The one remains, the many change and pass;
Heavens light for ever shines, Earth's shadows fly.
Life like a dome of many coloured glass
stains the white radiance of eternity."

"एक स्थिर रहता है, अनेक बदलते और गुजर जाते है
दैवी ज्योति सदा चमकती है, संसार की छायाए ओझल होती रहती है,
बहुरंगी काच के गुम्बद सा जीवन

1 मारकस ऑरेलियस, "मेडीटेशन्स" Marcus Aurelius, Meditations 5,19,26

अनंत की शुभ्र ज्योत्सना को दूपित कर देता है।

इस अनुभूति के साथ यह यथार्य रूप मे दीख जाता है कि वह सदा एक-सा ही रहने वाला नित्य, अव्यक्त जिसमे सव प्राणियो के सच्चे अह की स्थिति होती है, अविनाशी है। "नैनं छिन्दन्ति शास्त्राणि नैनं दहति पावक:···" इस अविनाशी (अक्षर) को न शस्त्र काट सकते है न आग जला सकती है और न कोई इसकी विनष्टि की सोच ही सकता है। दिन का सर्वव्यापी प्रकाश जैसे उन नाना रूप वाली वस्तुओ के साथ नष्ट नही होता जिनको वह प्रकाशित करता है वल्कि या तो पुराने नाम रूपो की जगह आ जाने वाले अन्य रूपो मे प्रतिविम्वित होता है या स्वयं अपने ही अव्यक्त रूप मे रहता है, वैसे ही "नित्य" भी एक नाम रूप से दूसरे में ऐसे चला जाता है जैसे कोई मनुष्य अपने फटे पुराने कपडे वदल लेता है। इस प्रकार यह "सदा सर्वदा एक-सा रहने वाला" अदृश्य होते हुए भी सदैव वना रहता है चाहे सारा संसार ही नष्ट क्यो न हो जाय।

श्लोक 17-25

यह कोई शास्त्रीय रूढ़ि का अंश नही है जिस पर आंख मूद कर विश्वास करना जरूरी हो। गीता का वस्तु विपय विश्वास नही वल्कि ज्ञान है, और उक्तलिखित एक ऐसा सत्य है जो इस अवस्था मे भी शिष्य को साफ-साफ समझ मे आ जाता है। जीवात्मा को यह जान कर वडी शान्ति मिलती है कि न तो कोई किसी को मार सकता है और न स्वयं मरता ही है। नामरूप और व्यक्तित्व तो अनिवार्यत: आते है और चले जाते है पर "वह" जो इन सवके पीछे है न आ सकता है न जा सकता है क्योकि "वह" तो सदा "है"।

और फिर नामरूप चाहे हाड़-मांस के हो चाहे आचार-विचार के, होते तो हैं वे सव वस्तुत. एक ही। अत: जीव सुपरिचित सामाजिक व्यवस्था व हृदय में संजोए धार्मिक मतो के समाप्त हो जाने पर शोक न करना सीख जाता है। वह यह जान जाता है कि वह वास्तविकता जिसने इन सव मतादि को जन्म दिया सदा एक ही रहती है और वह न तो किसी नए धर्म के प्रादुर्भाव के साथ उत्पन्न होती है और न उसके क्षय के साथ नष्ट होती है। अव्यक्त से ही उनका अभ्युदय होता है, अव्यक्त पर ही वे स्थित रहते है और फिर अव्यक्त मे ही उनका विलय हो जाता है। "तत्र का परिदेवना—तो फिर रोने का क्या काम" क्योकि सारे के सारे नाम-रूप ही अनित्य हैं और उन्हें तो एक दिन समाप्त होना ही है जवकि जो वास्तविक है वह नित्य है और युग-युगान्तर तक नष्ट नहीं होता।

श्लोक 72-28

अतएव ऐसी अनुभूति हो जाने पर—चाहे वह धुधली सी ही हो—कि वह जो

अद्‌भुत अलौकिक है वही सब देहो मे रहने वाला देही भी है, जीव को अब इस
ओर प्रेरित किया जा रहा है कि जो स्वभाव से ही अनित्य है
श्लोक 29-36 उसके लुप्त हो जाने पर व्यर्थ पछतावा न करे और अपने
सामने आए कर्तव्य को निबटाने के लिए कमर कस कर
युद्धरत हो जाए।

शिष्य यदि युद्ध मे पराजित भी हो गया तो भी वह अपने शौर्य का फल भविष्य मे मिलने वाले सुअवसरो के रूप मे पाएगा।[1] यदि विजयी हुआ तो इस
मही को भोगेगा क्योकि वह समस्त प्रव्यक्त जगत का स्वामी
श्लोक-37 होगा। अब वह हर्मिस के शब्दो मे "भाग्य का जलूस" मात्र
नही बल्कि ज्योतिर्मय सिंहासन का अधिपति, समस्त अस्तित्व
का सम्राट होता है।

इस ज्ञान को ही गीता मे साख्य ज्ञान कहा गया है परन्तु वह काफी बाद की प्रतिभावान परन्तु निरी पाडित्यपूर्ण साख्य कारिकाओ मे दिए गए ज्ञान से भिन्न है। प्राचीन साख्य शिक्षा के कुछ अश महाभारत के शाति पर्व मे पाए जाते है और उनको पढने पर स्पष्ट हो जाता है कि बाद वाली शास्त्र व्यवस्था स्पष्टतया द्वैतवादी है जबकि पुरानी अद्वैतवादी थी। पुराने साख्य मे संसार की व्यवस्था एक क्रमबद्ध प्रव्यक्ति श्रृंखला के रूप मे की गई है जो उस नित्य सत्य से शुरू होती है और जिसे "वह" या अव्यक्त कहा गया है। इसमे उत्तरकालीन प्रणाली की मुख्य विशेषता, प्रकृति व पुरुष के सतत भेद, के पार जाया जाता है क्योकि यह दोनो अव्यक्त के ही दो पहलू है और अन्ततः उसी मे समा जाते है।[2]

इस प्रकार हम देखते है कि सारभूत रूप में सांख्य शिक्षा प्रणाली नित्य तत्त्व की उस अनुभूति को सुसगत विचारो मे व्यक्त करने का प्रयत्न है जो अपने समय पर शिष्य के हृदय मे उत्पन्न और गुरु के वचनो द्वारा क्रियाशील होती है।

1. वायस आफ साइलेस से तुलना कीजिए "क्योकि वह या तो जीतेगा या हारेगा...और यदि हारा तो भी वह बेकार नही जाएगा; पिछले युद्ध में मारे हुए शत्रु उसके अगले जीवन में वापस नही आएगे।
2. शाति पर्व अध्याय 219 में कपिल के शिष्य और पुरातन साख्य के परपरागत आचार्य पंचशिखा की शिक्षा देखिए। जीव (क्षेत्रज्ञ) का आसन मनस् है (उपक्रम में देखिए जहा मनस् को ऊचा अहभाव कहा गया है) और वह मुक्ति, अर्थात् अव्यक्त मे तल्लीनता, समस्त प्रव्यक्त जगत को पूरी तरह त्यागने पर पाता है।

अन्य पुरानी व्याख्याओ के लिए शातिपर्व अध्याय 311 व 312 तथा दास गुप्ता की हिस्ट्री आफ इडियन फिलासफी के पृष्ठ 213 पर दिया चरक का वर्णन देखिए।

जैसा कि शंकराचार्य ने ठीक कहा है, यह ज्ञान-योग की एक प्रणाली है, और ऐसी सब आंशिक प्रणालियों के समान थोड़ी-बहुत ऐसे एकांगीपन से ग्रस्त है जिसको सुधारने का प्रयत्न श्रीकृष्ण करते है। जिस समय गीता बोली गई थी उस समय भी आज ही के समान ऐसी अनेक योग-प्रणालियां विद्यमान थी। आगे चलकर हम देखेंगे कि गीता के पहले छै अध्याय (या यों कहिए कि अध्याय 2 से 6 तक) इन विभिन्न शिक्षाओ के हिसाब से पथ की व्याख्या करते है और उनकी कमियों को पूरा करते है।

जब जीव को नित्य सत्य का एक धुधला-सा आभास होता है तो सबसे पहले वह सुसंगत सिद्धांतों की एक ऐसी प्रणाली चाहता है जिसकी सहायता से वह उस नव-अर्जित ज्ञान को अपने आप को समझा सके। इसीलिए इस अध्याय मे हमे सांख्य का मार्ग दिखाया जा रहा है। परन्तु सविस्तार विवरण की इस माग मे एक खतरा भी है और वह ये कि मौलिक अनुभूति अति सुलझी हुई विचारात्मक अभिव्यक्ति के दलदल मे फस जाय, और यह भी कि पथ के अन्य दो पहलुओं, प्रेम और कर्म, से विलग कोरे ज्ञान को ही सब कुछ मान बैठा जाय।

उपनिषदो को पढकर "एक आत्मन्" की स्फुरणभरी अंत.प्रेरणाओ का अनुभव बहुतों को हुआ होगा परन्तु जब इन्हे दृढ करने का प्रयत्न किया जाता है तब वे धुंधली और लुप्त होने लगती है चाहे ऐसा प्रयत्न शंकराचार्य जैसे लेखक की सहायता से ही क्यों न किया जाय जिन्होने ऐसी अंत.प्रेरणाओ को ही अपने दर्शन सिद्धांत का आधारस्तम्भ बनाया था। ठीक उसी क्षण जब हमे लगता है कि आत्मन् की दिव्य आभा हमारी पकड़ मे आ गई है वह निकल भागती है और फलस्वरूप हमे अपने ह्रासोन्मुख संग्रहण के लिए बस एक और मरी हुई तितली ही हाथ आती है।

अतः शिष्य को सदा ध्यान मे रखना चाहिए कि जिस वैचारिक सुस्पष्टता और पकड की उसे इतनी लालसा है और जो कुछ हद तक "साख्य ज्ञान" के अध्ययन से मिल भी सकती है वह तो एक अनुकल्प मात्र है—उस असली ज्ञान का प्रतीक जिसके गतिशील व दिव्य पख ही जीवात्मा को ऊपर ले जा सकते है।

शुद्ध सांख्य का एकतर्फापन अब प्रकट होता है। जैसे-जैसे वह आतरिक अनुभूति धुधली होती जाती है वैसे वैसे शिष्य उसके सार को पकड़ने और उसे जीवन मे दृढ़ता से स्थापित करने की जी तोड़ कोशिश करता है। कर्म और भावना के जगत से बराबर अपने को विमुख करता हुआ वह अब नितात अमूर्त कल्पनाओं के क्षेत्र मे चला जाता है और अपनी सम्पूर्ण मनोशक्ति उनमे लगाकर बहुधा वह स्वयं उन कल्पनाओं मे एक प्रकार जैसे प्राण फूक देता है, गोकि इस

प्रक्रिया से उसके अपने स्वभाव मे उग्र व प्रवल विकृतियां पैदा हो जाती है।[1] ऐसे जीवन मे जो संतुलन का अभाव होता है उससे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वह जीव का असली जीवन नही है। जीव कुसुम तो पूर्ण संतुलन और सामंजस्य मे ही स्फुटित व विकसित हो सकता है और ऐसी अस्वाभाविक व वलपूर्वक खीचतान द्वारा शिष्य सच्चे लक्ष्य पर नही पहुंच सकता। जिस अवस्था को हिंदू परम्परा मे "व्रह्मचर्य" कहा गया है उस पर आरिगन (Origen) का स्वनपुसीकरण नही पहुंचा सकेगा। और न ही अपने को पर्वत की कदरा मे वद कर लेने से ससार के चलायमान छायाचित्रो के प्रति वह आतरिक वैराग्य उत्पन्न होगा जिसकी आधारभूमि मे ही सच्चे ज्ञान का फूल खिल सकता है।

जीवन-सघर्ष से भागने से काम नही चलेगा, उसमें विजय प्राप्त करनी होगी। इसलिए एक वार फिर कटिवद्ध होने का उपदेश देने के वाद शिष्य को अति महत्त्वपूर्ण वुद्धियोग की शिक्षा दी जाती है जो शुद्ध साख्य की गतिहीन वैश्लेपिक क्रियाशैली की कमियो को पूरा करती है। सांख्य तो जवरदस्ती प्रव्यक्त संसार से विमुख होकर अपने लक्ष्य कैवल्य पर पहुचने की चेष्टा करता है। पहले तो यह सम्भव ही नही, पर यदि हो भी तो यह एक अप्राकृतिक व मार जवरदस्ती की उपलब्धि है। सच्चा पथ उच्च तत्त्वो के साथ उत्तरोत्तर योग द्वारा निचली प्रव्यक्तियो से विरक्ति प्राप्त करवाना चाहता है। यह पथ पहले वाले पथ से उतना ही भिन्न है जितना फूल का स्वाभाविक ढंग से खिलना कली को वलात खोल देने से भिन्न है।

श्लोक 38-39

इसलिए जिस वात पर जोर दिया गया है वह वुद्धियोग है, अर्थात वुद्धि से समागम करना, जो लक्ष्य की नितात सर्वातीत अवस्था से पहले का आरम्भिक चरण है। यदि पथ के वारे मे केवल वात ही नही करनी है वल्कि उस पर चलना भी है तो मनस् को अव तक जो इद्रियो से गठवधन था उसे छोड़कर वुद्धियुक्त होना चाहिए, यानी उससे जुड़ना चाहिए जो अपने से उच्चतर है। सीढी पर धीरे-धीरे चढ़ने मे उस प्रयास हानि का भय नही होता जो एक ही छलाग मे ससार की चोटी पर पहुचने की चेष्टा करने वाले के लिए रखी ही रहती है। इस क्रमवद्ध प्रगति से समस्त प्राणि-जगत की एकता[1] के नियम की अवहेलना भी नही होती। और अव यहा पर वुद्धि के वारे मे कुछ शब्द कह देना आवश्यक है।

1 सव कुछ को त्याग कर जीव की अव्यक्त की ओर उड़ान कुछ मायनो में इस नियम की अवहेलना है। इसी कारण महायान-सम्प्रदाय में इस मार्ग पर चलने वालो (प्रत्येक वुद्धो) पर आध्यात्मिक स्वार्थपरायणता का लाछन लगाया जाता है।

उत्तरकालीन सांख्य का खालिस दिमागीपन इतना स्पष्ट और कही नही होता जितना उसके बुद्धि के विवरण मे क्योकि उसमे बुद्धि को केवल मति, अर्थात् एक सामान्य ज्ञान शक्ति के रूप मे लिया गया है जिसके द्वारा कुछ देर की हिचकिचाहट और सशय के बाद मन किसी निश्चय पर पहुंचता है। यह सच है कि बुद्धि वह शक्ति है जो निश्चयात्मक ज्ञान देती है ("निश्चयात्मिका बुद्धि") परन्तु जो ज्ञान वह देती है वह केवल मतिमान उक्तियो का सग्रहण नही बल्कि एक जीता-जागता ज्ञान है जिसे अत.प्रेरणा कहना अधिक उचित होगा। अंतर इतना है कि अत.प्रेरणा से हमारा अर्थ किसी यदाकदा होने वाले स्फुरणो से होता है जबकि बुद्धि अपने स्तर पर अक्षुब्ध तेज से जलने वाली ज्योति है। कठोपनिपद मे बुद्धि को ज्ञानात्मन कहा गया है और वह एक ही साथ आत्मन् का ज्ञान भी है और इस ज्ञान को प्राप्त करने की शक्ति भी। प्रतीकात्मक रूप मे वह कृष्ण का पीताम्बर है और शिष्य के लिए तो विशेप महत्त्व की बात यह है कि बुद्धि व्यक्तित्व की सीमाओ से परे है।

मनस् के स्तर पर एक आत्मन् की ज्योति ऐसी अनेक विशिष्टताओ मे बिखर जाती है जो हरेक अपनी-अपनी जगह पर अद्वितीय होती है। परन्तु स्वय बुद्धि अवैयक्तिक है और सब के लिए एक ही है।

यह व्यवसायात्मिका बुद्धि जो सब प्राणियो मे एक ही है, साधारण मनुष्य के चंचल व ढुलमुल विचारो[1] से नितांत भिन्न है। यह समस्त असली ज्ञान का स्रोत है और जो इसे प्राप्त कर पाता है उसके लिए सब परम्परागत शास्त्रो को स्थान च्युत कर देती है। इसका यह मतलब नही कि शास्त्रो का कुछ महत्त्व ही नही है। नित्य सत्य को कर्मकाण्ड के आवरण मे ढकते हुए वे सामान्य जनसमूह का मार्ग-दर्शन करते है तथा उनकी अति स्थूल कामनाओं पर नियत्रण रखने मे सहायक होते है; परन्तु विचारशील ज्ञानाकांक्षी के लिए उनकी उपयोगिता कम ही है। गीता कहती है वेदो के विपय तीन गुण[2] है (त्रैगुण्य विषया वेदा) परन्तु शिष्य को सत्व मे दृढ रहते हुए उनसे परे पहुचने की चेष्टा करनी चाहिए। अधिकाश जन समूह की असफलता का कारण यह

श्लोक 42—46

1. उच्चतर मनस् के अलावा बुद्धि शब्द का प्रयोग साधारण बोलचाल में सामान्य मानसिक ज्ञान के लिए भी किया गया है। इसीलिए श्लोक 41 के उत्तरार्ध मे बुद्धि का बहुवचन रूप है।
2. मूल प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् और इसलिए उससे निकले समस्त नामरूपो के तीन गुण। इन शब्दो का अनुवाद कठिन है पर इन्हे क्रमश. सामजस्यमय शुद्धता, मनोवेगपूर्ण क्रियाशीलता और अधकारमय आलस्य कहा जा सकता है। अध्याय 14 देखिए।

है कि वे आशा व आशका (क्रमशः रजस् व तमस् की प्रव्यक्तियो) पर निर्भर है जबकि इस पथ के पथिक के लिए तो केवल सत्य के प्रति अनन्य आस्था दरकार है। रूढिवादी अपने शास्त्रो के आश्वासनो की दुहाई दिया करें पर उनकी सब पोथिया "विजानत शिष्य" (विजानत=जिसके पास ज्ञान या बुद्धि हो) के लिए उतने ही काम की है जितना किसी सब ओर जलमग्न जगह मे कोई तलैया होती है। इसीलिए बुद्धियोग का

श्लोक 52— 52

इतना महत्त्व है क्योकि जब यह योग स्थापित हो जाता है तब "हृदय की ग्रथियो" से, यानी उन वेडियो से जिनसे जीव भिन्न व्यक्तित्व के कारागार मे बधा रहता है, छुटकारा मिल जाता है। ऐसी उपरिव्यष्टि-बुद्धि से युक्त होकर ही जीव मोह के जाल से निकल, जीवन के साधारण सुख-दुखो और सत्य के परस्पर विरोधी व एकांगी दर्शनो से क्लात हुए बिना, अडिग स्थित रह सकता है। बुद्धि की सहायता के बिना अकेला मनस् निश्चय ही इन क्लातियो द्वारा ग्रस्त रहता है।

जो इस प्रकार की प्रज्ञा (बुद्धि का पर्यायवाची शब्द) मे स्थित होगा वह ही "अनामयम् पद" यानी शोक रहित स्थिति को प्राप्त करने की दिशा मे सफलता की आशा रख सकता है। बुद्धि के साथ इस प्रकार

श्लोक 47, 51

('युक्त होने का उपाय बताया गया है—कर्म मे कुशलता 'कर्मसु कौशलम्"), सफलता और असफलता के प्रति एक सा सतुलित दृष्टिकोण बनाए रखना। शिष्य को अपने मन को अपने कर्मों के फल से पूरी तरह विरक्त रखना है लेकिन साथ ही जो कुछ भी अपना कर्तव्य हो उसे नितात निस्सग भाव से करते भी जाना है। इस प्रकार कर्म करने से शिष्य को बुद्धि के अवैयक्तिक ज्ञान का निर्देशन प्राप्त होगा और वह स्वार्थपरक पाप-पुण्य की सीमा से परे चला जाएगा।

यह है उस कर्मयोग की विधि जो अगले अध्याय का विषय विशेष है और जिसके सैद्धान्तिक आधार पर वही विचार-विमर्श किया जायगा। इस सदर्भ मे यह कह देना काफी है कि कर्मयोग का उद्देश्य कामना प्रेरित इद्रिय विषय-भोग की प्रवृत्तियो पर नियंत्रण प्राप्त करना और मन को सुसगत करना है ताकि वह बुद्धि से युक्त हो सके और दैवी ज्ञान को प्रस्फुटित होने दे। यह ज्ञान केवल बुद्धि के माध्यम से ही पूरी तरह चमक सकता है। बुद्धि से नीचे के स्तर पर विच्छिन्न विशिष्टित्वो की लीला इस ज्ञान का अवरोध करती है और उसे खडित कर देती है। जब वे उससे सयुक्त हो जाते है जो स्वयं उनसे परे है तब जाकर ही एक रूप करने वाला दैवी ज्ञान प्रव्यक्त हो पाता है और द्वैत

भावना की वेड़ियाँ टूटने लगती है।

"मन को बुद्धि से युक्त करो" यह कहना तो आसान है, पर अक्सर ऐसे वचन शिष्य के लिए कुछ माने नही रखते क्योकि उसे अभी तक बुद्धि की कोई अनुभूति नही हुई है और वह नही जानता कि बुद्धि वास्तव में है क्या। इसके अलावा मन हठपूर्वक अपनी विभिन्नता बनाए रहता है और अपने को किसी और के साथ संयुक्त करने के लिए तैयार नही होता। इसीलिए साख्य की सैद्धान्तिक प्रणाली को एक ऐसे अभ्यास से सम्पूरित करना बहुत आवश्यक है जिससे मन को व्यावहारिक रूप मे नियत्रित और सुसंगत किया जा सके। अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर मे कि बुद्धियुक्त मनुष्य के क्या लक्षण होते है, श्रीकृष्ण कहते है कि अपने को अन्दर के अनुभावित सत्य के साथ युक्त कर शिष्य को इंद्रिय-विषय-वासना के जीवन से अपने आपको ऐसे खीच लेना चाहिए जैसे कछुआ अपने अंगो को वाह्य जगत् के सम्पर्कों से खीच लेता है। परन्तु केवल इंद्रियो के प्रत्याहार से ही काम नही चलता, क्योकि यद्यपि सतत इंद्रिय निग्रह करने वाले पर इंद्रिय विषयो का वश नही चलता फिर भी विषयो की कामना तो उसके हृदय मे तब तक रहती ही है जब तक इंद्रिय विषयात्मक जीवन से ऊँचा और कुछ नही दीख पड़ता।

श्लोक 56, 58, 59

अतत: आत्मन् के दर्शन के अलावा और किसी भी चीज से कामना जड़ से नही उखड़ती और इसीलिए शिष्य को यह शिक्षा दी जाती है कि वह नकारात्मक निग्रह से ही संतुष्ट न रहे बल्कि अपनी दृष्टि अपने अदर आत्मन् पर केन्द्रित रखे, चाहे वह अभी अलक्ष ही क्यों न हो। "अपने विचारो को चुप करा और अपना ध्यान पूरी तरह अपने स्वामी पर लगा जिसे तू अभी देखता नही पर महसूस करता है।"[1] थोड़ा-सा भी विचलन, मन का थोड़ा-सा भी उस इंद्रिय भोग-विलास वाले जीवन की ओर मुड़ना जिसकी ओर से शिष्य ने पीठ फेर ली है, नए सिरे से उन कामनाओ को शक्ति प्रदान कर देगा जिन्हें छोड़ने की चेष्टा की जा रही है। जैसे-जैसे शिष्य के काम-भाव (जिसे कुछ मनोवैज्ञानिक अचेतित या Unconscious कहते है) मे तनाव बढ़ता है ये कामनाएँ भीषण क्रोध के रूप मे फूट निकलती है और आध्यात्मिक प्रगति को तहस-नहस कर आतरिक अनुभूतियो को नष्ट-भ्रष्ट कर डालती है। जिन "स्मृतियो" के सहारे वह ऊपर उठने की आशा रखता था वे भूल जाती है।

श्लोक 62, 63

1. "वायस आफ साइलेंस"

ऐसा नही है कि इद्रिय-जीवन को एकदम समाप्त या वाह्य रूप से उसका निरोध करने को कहा जा रहा हो, गो कि कुछ अव्यावहारिक साख्य शास्त्री ऐसा उपदेश देते है। आवश्यक तो यह है कि आतरिक परावर्तन का अभ्यास किया जाय जिसके द्वारा उच्चतर स्तरो तक पहुँचा जा सके। ऐसा करने से अपने आप ही वह वाहरी सामजस्य आ जाता है जो वुद्धि की उपलव्धि के लिए आवश्यक है। रथ के अपने पुराने प्रतीक मे इंद्रियो के अश्वो को मन की लगाम द्वारा रोके रहना (निग्रिहीन) इगित है, परन्तु इरादा घोडो को रथ से खोल देने का या उनकी चाल को एकदम रोक देने का नही है। इस अभ्यास का उद्देश्य तो यह है कि कम से कम कुछ हद तक मन निष्काम कर्म करने से शुद्ध हो जाय और आसक्तियो के दासत्व से थोडा-वहुत मुक्त होकर हरदम अपने ही दृष्टिकोण पर अडा रहना वंद कर दे। फिर जैसे-जैसे कामना की आँधी हल्की पडती जाएगी, शिष्य के हृदय मे एक दिव्य शाति व ज्ञान के प्रतिविवित होने का आभास होगा, ठीक वैसे ही जैसे सनातन तारागण किसी सरोवर की गहराइयो मे प्रतिविवित होते है, और शिष्य वुद्धि के असली स्वभाव की प्रारम्भिक अनुभूति प्राप्त कर लेगा। यह अनुभूति उसके लिए केवल पुस्तको मे लिखे विवरणो से हजार गुना अधिक काम की है।

श्लोक 65, 71

मनस् को वुद्धियुक्त करने के आदेश का मतलव पहली वार उसकी समझ मे आने लगेगा और अव जाकर वह साधना मे सफलता की कुछ आशा लेकर अपने को लगा सकेगा। उसके सिर के ऊपर, वहुत दूर, परम आत्मन् का तारा, उसके प्रयत्नो का लक्ष्य, चमकता रहेगा हालांकि उसकी प्रखर ज्योति अभी एक छोटे-से विंदु के समान लगेगी। अँधेरे में वह धीमा-सा चमकेगा और जैसे उसकी किरणे वीच के चलायमान वायुमडल को वेध कर निकलेगी, वह टिमटिमाता-सा नजर आएगा। परंतु एक वार देख लेने पर उसे कभी भुलाया नही जा सकता और अपने-आपको श्रद्धा व भक्ति के साथ उसे समर्पित कर अधकार की भयावह खाई के उस पार देख सकने के लिए अपनी दृष्टि को पूरी तरह लगाए हुए शिष्य को और आगे वढते ही जाना होता है। उसे जो अनस्तित्व अंधकार की खाई जैसा लगता है वह ज्ञानी पुरुष की पूर्ण सजग दृष्टि मे दीप्त प्रकाश-पुज होता है—"ज्योति जो टूटे दियो से परे चमकती है, अनत दिवस का प्रभावान प्रकाश।"[1]

श्लोक 61, 69

1. प्लवायनस से तुलना कीजिए : "इन्द्रियो का क्षेत्र जीवात्मा की सुषुप्ति का है, क्योकि

(शेषाश पृष्ठ 19 पर)

"हे अर्जुन यह ब्राम्ही स्थिति है जिसे पाकर फिर कोई धोखा नही खाता", और यद्यपि अभी तक शिष्य को उस पार की दूर से ही झलक मिली है और विस्मृति की छायाएँ वार वार आती और ज्योति को उसकी आँखो से छिपाती रहेगी, फिर भी उसकी स्मृति सदा शिष्य के साथ रहेगी क्योकि अब वह "धारा मे पहुँच गया है" (श्रोतापन्न) और परम मुक्ति का वचन दे दिया गया है : "जो कोई अंतकाल में भी इसमे स्थित होता है वह ब्रह्म निर्वाण पाता है।"

श्लोक 72

"जितना भी जीव शरीर में स्थित है वह सोया हुआ है और असली जागना शारीरिक रूप से नही वल्कि शरीर से जागना होता है।"
"आन दि इम्पैसिसिविटी आफ दि इनकौरपोरियल"—On the Impassivity of the Incorporeal, 6.

अध्याय 3

कर्म योग

तीसरे अध्याय का आरभ शिष्य की संशयग्रस्त अवस्था से होता है। "यदि तू ज्ञान को कर्म से उत्तम मानता है तो, हे कृष्ण, फिर मुझे इस घोर कर्म मे क्यो लगा रहा है?" गुरु ने पहले साख्य ज्ञान की प्रसशा की पर

श्लोक 1

फिर उस कर्म को करने की आवश्यकता पर भी जोर दिया जिसे साख्य मतानुयायी विलकुल छोड चुके थे। अत मे उन्होने एक वार फिर वार्तालाप को ज्ञान की श्रेष्ठता की ओर मोड़ दिया और ऐसी अवस्था का वर्णन किया जिसमे कर्म और कुछ नही तो अनावश्यक तो है ही। कोई आश्चर्य की वात नही कि शिष्य उलझन मे पडा है और गुरु से लक्ष्य तक पहुचने के एक निश्चित मार्ग को स्पष्ट रूप से समझाने की विनय करता है।

जो भी हो, स्वयं शिक्षा मे कोई उलभन नही है। वात तो सिर्फ इतनी है कि ज्ञान के ऐसे निरूपण का आग्रह जो एकदम अति सुलझा हुआ, विलकुल निर्णयात्मक और अतिम हो, एक ऐसी माग है जो पूरी नही की जा सकती। सद्गुरु के सिखाने का तरीका यह नही होता कि हमेशा के लिए मान्य किसी पांडित्यपूर्ण प्रणाली को स्वीकार करने पर जोर देकर शिष्य के मन पर हावी हो जाया जाय। यदि शिष्य ऐसी स्वीकृति दे भी तो भी वह विलकुल वेकार है क्योकि इससे वह मनस के विचारात्मक स्तर के ऊपर नही उठ पाता। सच्चा गुरु तो सत्य के ऊपर से परस्पर विरोधी लगने वाले परतु वास्तव मे संपूरक, पहलुओ को सामने रख कर शिष्य को वुद्धि के उच्चतर अत:प्रेरणात्मक ज्ञान की सहायता से विचार के सामान्य स्तर से ऊपर उठने को वाध्य करता है और इस प्रकार उसके हृदय मे एक ऐसे नए सश्लिष्ट ज्ञान को जन्म देता है जो उसकी रग-रग मे समा सकेगा।

यदि इस वात को ठीक से न समझा गया तो पाठक यह गलती कर सकते है कि या तो गीता की विचारधारा को परिभ्रमित समझें या उसके किसी एक ऐसे पहलू को ही चुन लें जो उन्हे ठीक जंचता हो और अन्य को छोड़ दें। पर गीता

न तो परिभ्रमित सारसंग्रहवाद है और न एक पक्षीय संप्रदायवाद। उसका उद्देश्य परम लक्ष्य तक पहुंचाने वाले पथ, या योग, को अपने समानुगत व सपूर्ण रूप में दिखाना है। परंतु ऐसा करने मे यह अनिवार्य है कि विचारो के केवल एक ही सिलसिले को लेकर वस उसी के तार्किक परिणाम पर पहुँचने की प्रवल इच्छा रखने वाले मन को समय-समय पर झटका देकर अन्य पहलुओ को भी समझने के लिए मजबूर किया जाय।

शिष्य के प्रश्न के उत्तर में गुरु का कहना है कि आदि काल से प्रव्यक्त संसार के द्वैत के अनुरूप ज्ञानाकाक्षी दो मुख्य वर्गों मे बंटे रहे है। आधुनिक मनोविज्ञान अतर्मुखी और वहिर्मुखी व्यक्तियो की वात करता है जिनकी स्वाभाविक मनोवृत्ति क्रमश: आतमपरक और वाह्य जगत की ओर होती है। इन्ही के अनुरूप सांख्यवादियो का ज्ञान योग और कर्मयोगियों का कर्म योग है। स्वयं अपने-अपने स्वभाव के असंतुलन से प्रेरित होकर एकपक्षीय भाष्यकार मदा इन दोनों में से एक को मुख्य शिक्षण और दूसरे को गौण वताने का प्रयत्न करते है। परंतु विश्व का द्वैत आधारभूत नही है। अंत मे तो सव कुछ एकात्मक व्रह्म में मे समा जाता है और इसलिए कोई भी एकपक्षीय मत पूर्ण सत्य नही हो सकता।

श्लोक 3

कर्मयोगियो का सिद्धांत इस सीधी-सादी वात से प्रारंभ होता है कि कर्म मात्र की निवृत्ति एकदम असंभव है। मोटे-मोटे वाहरी कर्मों से वलपूर्वक अलग रहने पर भी आंतरिक कर्म वेरोक-टोक होते रहते है। और इतना ही नही, जवरदस्ती की वाह्य अकर्मण्यता के कारण वे और अधिक उच्छृंखल हो जाते है। मनोवैज्ञानिक रूप से यह निश्चित है कि अत्यधिक व लवी अवधि तक अंतर्मुखी रहने के परिणाम मानसिक स्वास्थ्य के लिए अनर्थपूर्ण होगे—जैसा कि शायद युग ने कहा है: अपने जाल में फँसाने वाले सव वाहरी संवंधों से निकल भागने के प्रयत्नो के फलस्वरूप मनस्तापी (neurotic) व निम्न कोटि के संवंध अहंभाव पर हावी हो जाते है। "केवल कर्मो का करना वद कर देने से जीव नैष्कर्म्य की स्थिति पर नही पहुंचेगा" और क्योकि कर्म आवश्यक है इसलिए हमे कर्म को पूरी तरह समझने की चेष्टा करनी चाहिए ताकि उसके घानक फंदे से वच सके।

श्लोक 4

कर्म जैसे साधारणतया किए जाते है उनकी असली खरावी यह है कि वे फल से सवंधित रहते हैं; हम अपने कर्मो के फलो से वंधे रहते है और उनके परिणाम चाहे सुखदायक हो चाहे दुखदायक, उन्हें झेलना ही पड़ता है। यह तथाकथित "कर्म का विधान" पाश्चात्य मानस को केवल एक अप्रामाणिक धार्मिक

सिद्धात या वहुत हुआ तो कोई दार्शनिक सिद्धात परिकल्पन लगेगा। परतु वास्तव मे वह ऐसा नही वल्कि एक प्राकृतिक तथ्य है जिसे कोई भी अपने अनुभव से जान सकता है। अनुभव के साधारण स्तर पर भी यह स्पष्ट है कि हमारा भाग्य अधिकतर हमारे अपने चरित्र-गुणो से निर्धारित होता है और ये हमारे भूतकाल की समस्त विचार-श्रृखला द्वारा निर्मित होते हैं—खास तौर से उन विचारो द्वारा जो अमल मे लाए गए हो। जो मनुष्य क्रूर विचारो का चिंतन करता है उसके कर्म भी सामान्यत: क्रूर ही होते हैं और इस तरह अन्य मनुष्यो मे भय व घृणा का पात्र वन कर वह कम से कम अपने ऊपर क्रूरता को आमत्रित तो करता ही है। साणारण दिन-प्रतिदिन के अनुभव हमे शायद इस प्रकार की सभावना से अधिक और कुछ नही समझा सकते; परतु इन मामलो मे साधारण अनुभव अतिम निर्णायक नही होता और जो आतरिक पथ, ज्ञान के मार्ग, पर आगे वढता है उसे तत्काल ही यह मालूम हो जाता है कि जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं वह कोरी सभावना नही वरन् एक अटल सत्य विधान है—

"By which the slayers knife did stab himself
The unjust judge hath lost his own defeneder.

"जिसके द्वारा खूनी का खजर खुद उसको ही घायल करता है और अन्यायी जज खुद अपना पैरोकार खो बैठता है।" गति विज्ञान के जगत मे यही विधान न्यूटन के इस प्रसिद्ध नियम मे व्यक्त है कि क्रिया और प्रतिक्रिया वरावर और विपरीत होती है। अपने ऐक्य मे प्राणि जगत भौतिक जगत से कुछ कम नही है और सव अलग-अलग जीवन एक दूसरे मे गुँथे हुए एक विशाल सपूर्ण प्राण रूप वने होते है। अतएव हर कर्म कर्म ही नही हर विचार भी—उस सपूर्ण मे तनाव पैदा करता है जिसका प्रत्युत्तर चाहे कितनी ही देर मे क्यो न आए "वरावर और विपरीत" प्रतिक्रिया के रूप मे आता जरूर है। मैं फिर से कहना चाहूँगा कि यह सिर्फ एक दिमागी उडान नही है जो किसी प्राच्य दर्शन शास्त्र की रूपरेखा मे ही ठीक बैठती हो। यह तो एक अनुभवजन्य गहन सत्य है जिसकी अवज्ञा करना अपने लिए उतना ही विपत्तिजनक है जितना प्रकृति के किसी और नियम की अवज्ञा करना। "हिंदू दर्शन" से विलकुल सवधित न होने वाले ईसा के इन दिव्य शब्दो मे कि "वे जो तलवार उठाते है, तलवार से ही मारे जाते है", भी यही अनुभूति है।

इस प्रकार, कर्म अपरिहार्य तो है ही, वधन मे डालने वाला भी है। सृष्टिक्रम मे जीव की अच्छी या वुरी अपनी जो भी स्थिति होती है उससे वाँध कर कर्म उसे पूर्ण के साथ समागम द्वारा मिलने वाली उस आत्मअतीतता (वे-खुदी) से वंचित कर देता है जो कि परम लक्ष्य है।

कर्मयोगियो द्वारा वताया गया मार्ग यह था कि कर्मकांड मे निर्धारित उस

विधान का सख्ती-सावधानी से पालन किया जाय जो कि हिंदू आचार रीति के अनुसार ब्राह्मण के जीवन और दिनचर्या को पूरी तरह विनियमित करता था। साथ ही योगी को ये कर्मशास्त्रो मे परिलक्षित सांसारिक वैभव, स्वर्ग प्राप्ति आदि फलो की कामना न रखते हुए करने होते थे। इस तरह कर्मयोगी कर्म की अपरिहार्यता और इतनी ही निश्चित उसकी बधन-शक्ति द्वारा उत्पन्न विकट स्थिति से वच निकलने की आशा करते थे। उन्होने यह निष्कर्ष विलकुल ठीक निकाला कि वधनशक्ति कर्म से नही वल्कि उस कामना से उत्पन्न होती है जिससे कर्म किया जाता है और इसलिए उन्होने यह सिखाया कि यदि फल की इच्छा को काटा जा सके तो कर्म रूपी साँप के जहरीले दाँत उखड़ जायेगे।

"यज्ञशिष्टाशिनि. संतो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः, भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात", अर्थात् यज्ञ का अवशेष खाने वाले सत्पुरुष सब पापो से मुक्त हो जाते है, पर जो सिर्फ अपने लिए खाना पकाते है वे वास्तव मे पाप का भक्षण करते है।

साख्य के वैराग्य के समान इस सिद्धात का भी यथा शब्द मतलव लगाना पर्याप्त नही होगा। यथा शब्द और असवद्ध रूप मे लेने पर यह सिद्धांत विफल हो जाता है क्योंकि वह ओजस्वी व सृजनात्तक कर्म-जीवन को प्राणहीन नीरस क्रियाकलापो मे परिणत कर डालता है और आत्मा को ऐसे औपचारिक झमेले मे फँसा कर त्रस्त कर देता है जो जीवन के सामान्य कर्मों पर विलकुल भी लागू नही होता। कर्मयोगियो के लिए तो कर्म वह अनिवार्य मुसीवत थी जिससे जीव को तव तक छुटकारा नही मिल सकता जब तक वह सशरीर है और वे वीरागनी मे तथा क्लाति के त्रास मे कामना से मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करते थे। शुद्ध साख्य योगियो के समान उनको यह विपुल व आश्चर्यमय जीवन दैव की एक भयानक भूल लगती होगी जो न हुई होती तो ही अच्छा था।

श्रीकृष्ण कर्म को ऐसे क्षुद्र व अधम रूप मे नही देखते। कर्मयोगियो के समान वे भी कर्म को यज्ञ मानते है—पर ब्राह्मणो के औपचारिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठानो से नितात भिन्न। निम्नस्तरीय, यानी इद्रिय-मनस् की, उच्चस्तरीय के लिए यज्ञ मे आहुति देनी है और जैसा कि पिछले अध्याय में कहा गया है, उस उच्चस्तरीय को बुद्धि से युक्त करना है।

अव इस बारे मे कुछ कहने का समय आ गया है कि वह कौन-सी प्रक्रिया है जिससे ऐसा किया जा सकता है। उपक्रम मे हमने देखा है कि उच्चस्तरीय मनस् अर्जुन और निम्नस्तरीय धृतराष्ट्र के बीच होता है दूसरा सारथी संजय, जो हृदय मे सनातन मान्यताओ की बात करने वाली आत्मा की आवाज है। ठीक उसी तरह जिस तरह बुद्धि "अद्वय प्राण" (महत आत्मन्) और व्यक्तिगत

अहभाव के बीच की कडी है वैसे ही निचले स्तर पर संजय अनुभाविक व्यक्तित्व और विशिष्ट जीवात्मा की कडी है। बुद्धियुक्त होकर मन उत्कर्ष की ओर उठता है और इसी तरह अनुभाविक व्यक्तित्व, यानी निचले मन, को संजय की आवाज का सेवक बनाने से व्यक्तित्व विकसित होकर अपने सच्चे स्वरूप से समागम करता है।

यही कारण है कि कर्म को कर्त्तव्य समझ कर करने पर इतना जोर दिया गया है। क्षुद्र अहं को कठोर आत्म-दमन द्वारा नष्ट नही करना है, बल्कि उसे हर हालत मे 'उच्चतर पक्ष की आवाज़ का आज्ञापालन करने की सिखलाई देनी है, ताकि वह उससे मिल कर एक हो सके। "सत्कर्म" तो करने ही है लेकिन सत्कर्म वे है जो इस आवाज के अनुरूप हो न कि किसी बाहरी शास्त्रीय नियम के। शिष्य को सदा इस आवाज को सुनना चाहिए और सुन कर उस पर अमल करना चाहिए। इस तरह क्षुद्र अहं अपनी कामनाओ की आसक्ति से मुक्त होगा और समय आने पर उच्चतर अह से मिल जाएगा। जब तक यह समागम नही होता तब तक अगला चरण, यानी बुद्धि से समागम, (महायान बौद्धो की ध्यान पारमिता) सम्भव नही है।[1]

श्लोक 8

कर्म के व्यावहारिक महत्त्व को बताने के बाद श्रीकृष्ण उसके नैतिक और सार्वभौमिक महत्त्व पर आते है। संक्षेप मे वे उस यज्ञ चक्र[2] का विवरण देते है जिससे प्रव्यक्त विश्व बनता है और जो यह दिखलाता है कि कर्म किस प्रकार अविनाशी पर आधारित है। दिग्-दिगन्त मे सब ओर परम पुरुष का बलिदान जन्य प्राण-रक्त वह रहा है। इस पालन कर्ता प्राण के अभाव मे तो समस्त लोक नष्ट हो जाएगे। और इसलिए वह सर्वोत्तम, लोकहित के लिए, निरतर इस प्रकार कर्म-यज्ञ मे अपनी आहुति देता रहता है। सब लोको

श्लोक 10, 16

1 अध्याय 6 देखिए जहा इस चरण का जिक्र है।

2 श्लोक 14, 15 को कोई पुराना बारिश लाने वाला जादू नही समझ लेना चाहिए। 'अन्न" का अर्थ है स्थूल भौतिक जगत जिससे नाम-रूप बने होते हैं। "पर्जन्य" यानी वर्षा का अर्थ है वह काम-शक्तियाँ जो इन नाम-रूपो को जन्म देती हैं। "यज्ञ" वह आत्मपरिसीमन रूपी बलिदान है जिसके द्वारा एक से अनेक बनते हैं, और "कर्म" मूल प्रकृति है जिसमे सब कृत्य निकलते हैं। (गीता अध्याय 8 श्लोक 3 और अध्याय 13 श्लोक 9 से तुलना कीजिए) सब कर्मों के उद्भव-स्थान के रूप मे मूल प्रकृति को "कर्म" कहा गया है, उसी को महायोनि (गीता अध्याय 14 श्लोक 3) या जीव मात्र के उद्भव-स्थान के रूप मे ब्रह्म (श्लोक 15) कहा है। जाहिर है कि "अक्षर" का तात्पर्य परब्रह्म से है।

मे सब प्राणियों में होकर वह महाप्राण अथक चक्कर लगाता रहता है और कोई भी एक प्राणी दम्भपूर्वक यह नही कह सकता कि उसका औरो से कुछ मतलब नही है। संसार का जो ज्ञान आज हमें इतनी सरलता से उपलब्ध है उसके लिए हम भूतकाल के असंख्य मनीषियों और अन्वेषणकर्ताओ के आभारी है और किसी भी नगर की सड़क पर हम पुराने जमाने के अनेक अज्ञात मजदूरो की झुकी हुई कमरो के ऊपर पैर रखे बिना नही चल सकते। हमारी मति भी अपनी आज की समस्त विचार सम्भावनाओ के लिए उन सब की आभारी है जिन्होंने सदियों पहले नई धारणाएं समझने के कठिन प्रयत्न किए, और हमारी दृष्टि भी आज जो कुछ है वह उस लम्बे कठोर संघर्ष का ही फल है जिसका लेखा-जोखा भी अब कही नही मिलता। परन्तु साधारण लेखा न सही, कर्म की पोथी मे तो वह ऋण स्पष्ट अमर अक्षरो मे दर्ज है जिसका भुगतान हमे अपने कृत्यो द्वारा करना होता है और जिससे हिमालय की कंदरा मे बैठे किसी बडे योगी को भी छूट नही मिल सकती चाहे वह इस ऋण की अवज्ञा भले ही कर ले। "एव प्रवर्तितं चक्रं नातुवर्तयतीह यः; अघायुरिन्द्रि-यारामो मोघ पार्थ स जीवति"। अर्थात् जो दुनियां मे इस संसार चक्रका अनुसरण नही करता, हे अर्जुन, ऐसा इद्रियो मे लिप्त प्राणी व्यर्थ ही जीता है।

इस तरह कर्म को शरीरधारी व्यक्तियो के लिए केवल एक भौतिक आवश्य-कता ही नही समझना चाहिए। वह तो एक नैतिक आवश्यकता भी है क्योंकि यज्ञ (बलिदान) कर्म से ही संसार उत्पन्न होते है और उस यज्ञ से ही पोपित हो कर "केन्द्रीय सूर्य" के चारो ओर घूमते है। चैतन्य (देवतागण) नाम रूपो का पालन-पोपण करता है और नाम रूप इस चैतन्य को साकार रूप मे बनाए रखते है। इस तरह समस्त जगत एक महायज्ञ में बँधा हुआ है और हर अलग लगने वाला हिस्सा बाकी सब से संबंधित है।

परन्तु यह समझना आवश्यक है कि बिना आत्मन् के ज्ञान के यह यज्ञ-कर्म असली मायनो सम्भव नही है। इसलिए सांख्य ज्ञान की शिक्षा कर्म की शिक्षा से पहले दी गई है। जब तक अद्वय आत्मन्, या कम से कम उसकी दिव्य ज्योति, का ज्ञान नही होता तब तक कर्मफल की कामना का पूर्ण त्याग किसी प्रकार संभव नही है और ऐसे त्याग की केवल लच्छेदार शब्दो मे बात ही की जा सकती है। आत्मन् की ज्योति का थोड़ा-बहुत ज्ञान तो होना ही चाहिए और जैसे-जैसे यह ज्ञान बढ़ता जाता है—सिर्फ सैद्धांतिक रूप मे नही बल्कि अनुभव के प्रत्येक क्षण मे विद्यमान एक जीवत सत्य के रूप मे—वैसे-वैसे शिष्य कर्मफल की कामना का त्याग कर पाता है, या यों कहिए कि कर्म-फल की कामना बिलकुल बेमतलब लगने लगती है और अपने आप छूट जाती है,

श्लोक 17,18

यद्यपि ऐसा केवल तभी तक होगा जब तक शिष्य उस ज्योति मे केन्द्रित रहेगा। अत मे जब लम्बे और अनवरत सघर्ष के बाद जीवन का आत्मन् मे यह केन्द्रीकरण स्थायी हो जाएगा, अर्थात् जब शिष्य आत्मन् से ही तुष्ट और उसी मे मग्न रहेगा, तो फिर उसको और किसी उपलब्धि की आवश्यकता नही होगी और "न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्शव्यपाश्रय." अर्थात् अपने किसी भी काम के लिए उसे किसी पर आश्रित होने की जरूरत नही रहेगी।

परंतु इस प्रकार "निजी" कर्म से निवृत्ति होकर शिष्य दैवी व विश्व कर्म से संयोग स्थापित कर लेता है। स्वयं श्रीकृष्ण के समान ही उसके बारे मे भी यह कहा जाएगा कि यद्यपि तीनो लोकों मे कुछ भी ऐसा नही जो उसने प्राप्त न कर लिया हो, फिर भी लोकहित के लिए वह अथक कर्म करने मे लगा रहता है। "अतद्रित" शब्द, जिसका अर्थ है "बिना थके या तग आए", ध्यान देने योग्य है। जिन यज्ञ कर्मों के साथ सयोग करने की आकांक्षा शिष्य रखता है वे ऐसे प्राणहीन व नीरस कृत्य नही है जिनका चित्रण हमारे मानस पटल पर "त्याग" व "कर्त्तव्य" जैसे शब्दो को सुनने से अक्सर हो जाया करता है। पथ के आरम्भ मे हमने देखा कि यह सोच कर शिष्य कितना उदास हो गया था कि अब तो उसके लिए बस एक नीरस जीवन ही रह गया है क्योकि उसे अपनी उन सब कामनाओ का हनन करना होगा जिनके कारण ही यह जीवन जीने लायक था। परतु यह एक भ्रम है जिसे दूर करना होगा "जैसे अज्ञानी कर्म के प्रति आसक्ति के कारण काम करते रहते है वैसे ही ज्ञानी को लोकसंग्रह के लिए अनासक्त होकर काम करना चाहिए।" सांसारिक लोगो के कामना प्रेरित कर्म का आवेश, नव यौवन का उत्साह और महत्त्वाकांक्षियो की अथक शक्ति इन सब को नीरसता के मरुस्थल में बहा कर नष्ट नही होने देना है बल्कि इन्हे बनाए रख कर इनका रूपांतर किसी महत्तर शक्ति मे करना होता है। सच्चा वैरागी कोई ऐसा नीरस, निर्जीव "पवित्र" पुरुष नही होता जिसके कारण आज धर्म के नाम से ही अनेक लोगों को चिढ हो गई है। वह तो ब्रह्म के उस अनत आनद पर आधारित उल्लासमय अनुप्राणित जीवन का स्रोत होता है जो अपनी सहज पूर्णता के कारण सृष्टि रूप मे परिप्लावित हो उठता है।

श्लोक 22-24
25

यह है कर्म का वास्तविक स्वरूप—यह तथ्य कि समस्त ब्रह्माण्ड यज्ञ पर आधारित है, औपचारिक आहुति-समारोहो पर नही बल्कि उस पर जिसके ये बाह्य कर्म प्रतीक मात्र है। यह वही महायज्ञ है जिसके बारे मे हम वेदो[1] मे पढते

1. ऋग्वेद, 10, 90.

है और वह जिसमें "परम पुरुष" की वलि विश्वाग्नि में दी गई थी और आसिरिस (Osiris) के समान जिसके अंग दिग-दिगन्त में विखरा दिए गए थे। इस महायज्ञ में योगदान करने को ही शिष्य से कहा जा रहा है।

श्लोक 27-30 यद्यपि वह वरावर कर्म करता है फिर भी वधन मे नही फँसता क्योकि सांख्य ज्ञान के परिचय से वह जान गया है कि सव कर्म केवल प्रकृति के रूप भेद द्वारा ही किए जाते हैं। उसके स्थूल व सूक्ष्म शरीर क्रियाशील ज़रूर होते हैं और अज्ञानी इन कर्मों में उलझ जाते हैं, पर जिसने पिछले अध्याय की शिक्षा को ठीक से समझ लिया है वह जानता है कि सच्चा स्वरूप, आत्मन्, सदा केवल निस्सग, निष्पक्ष और शांत साक्षी ही रहता है। अव उसे कर्म बाँध नही सकते और न शस्त्र उसे काट ही सकते है। और इस ज्ञान को दृढतापूर्वक अपने हृदय में जमा कर कृष्ण को महायज्ञ का प्रतीक समझ, उन्हे अपने सव कर्म अर्पित करते हुए, स्वार्थपरक आशा व आशंका से मुक्त हो, वह उत्साहपूर्वक पाप और दु:ख से युद्ध मे जुट जाता है, पाप उसके अपने निचले मन का और दु:ख अपने वन्धुओं का।

कोई यह न समझ ले कि पहली रणभेरी वजते ही युद्ध मे विजय प्राप्त हो जाती है। जो ज्ञान दिया गया है उसे निरंतर अभ्यास व संघर्ष द्वारा हृदय मे कूट-कूट कर भरना होगा। अभी तो लडाई कई वार लड़नी होगी और जो कोई अपनी कमियो की ओर आख और दुखी मानव जाति के आर्तनाद की ओर कान वंद करवाने वाले मिथ्या तर्क के फन्दे में फंस कर अपनी उपलव्धियो के गर्व में फूलेगा, वह अव तक प्राप्त हुए ज्ञान के लिए कुपात्र सावित होगा। अभी वह चाहे जो कुछ भी समझे, उसका पतन निश्चित है।

निस्सदेह संशय उत्पन्न होगे और यह कह-कह कर हृदय को त्रस्त करेंगे कि संघर्ष करना व्यर्थ है।

"All thing are vain and vain the knowledge of their vanity
Rise and go hence, there is no better way
Than patient scorn, nor any help for man
Nor any staying of this whirling weel."[1]

व्यर्थ है सब कुछ :
और इस व्यर्थता का ज्ञान भी तो व्यर्थ है
छोड़ चलो इस सव को
एक धीर उपेक्षा के अलावा

1. लाइट ऑफ एशिया।

मानव के लिए न तो और कोई सूरत है
और न उसके भाग्यचक्र के रुकने की कोई सम्भावना ।

सब प्राणी अपने-अपने भाग्यचक्र का अनुसरण करते हैं। आत्मन् सब का तटस्थ साक्षी है। भलाई और बुराई तो खाली शब्द मात्र है और बुराई से लडना भी व्यर्थ ही है। जब सब कर्म अनिवार्य रूप से प्रकृति के गुणो द्वारा ही करवाए जाते है और जीवात्मा तो इस सारी माया क्रीड़ा का निश्चेष्ट साक्षी मात्र है तो फिर निग्रह करने का क्या फायदा ?

श्लोक 33

ऐसे अधकचरे सत्यो के ऊपर विजय प्राप्त करनी होती है। यह सच है कि प्रकृति के नियम अटल है और हर कारण का अपना निश्चित परिणाम होता है। ब्रह्माण्ड के अतरंग मे आकर्षण और प्रत्याकर्षण की वह शक्ति छिपी है जो सब वस्तुओ को चलाती और बदलती रहती है। विलयन प्रवृत्ति वाले रासायनिक तत्त्वों से लेकर राग व द्वेप करने वाले मानव तक सब के सब विवशता के फौलादी पजे की इस शक्ति पर आश्रित है—हां सब के सब, अलावा उसके जिसने कामना को जीत लिया है और जो सब कर्म केवल अपना कर्तव्य (स्वधर्म) समझ कर ही करता है। जब तक शिष्य कुछ कर्म इसलिए करता है कि वे उसे अच्छे लगते है और कुछ इसलिए नही करता कि वे उसे बुरे लगते है तब तक वह निस्सहाय कालचक्र पर घूमता रहेगा। चाहे वह "धर्म भीरु" प्रकृति का हो और इसलिए केवल "सत्कर्म" ही करता हो, पर है तो वह अपनी प्रकृति का दास ही।

श्लोक 34,35

परंतु वह अद्वय आत्मन् तो सदैव अपने आप मे स्वतंत्र होता है। हां वह बंधा हुआ सा तब प्रतीत होता है जब उसकी निचली उपाधियों से उसका तदात्म्य हो जाता है-वे उपाधियां जो मुकुर के समान उसकी ज्योति को प्रतिबिंबित करती हैं। अंतरात्मा की सीढी पर शिष्य जैसे-जैसे चढता जाता है वैसे-वैसे आत्मन् की सहज स्वाधीनता और प्रदीप्त होती जाती है और प्रकृति की लीला को आख बद कर सहने के बजाय उस पर प्रभुता स्थापित करती है।

जो मन के कहने पर चलता है वह इंद्रियो के कहने पर चलने वाले से अधिक स्वतंत्र है और इससे भी अधिक स्वतंत्र वह है जिसका मन बुद्धियुक्त है और बुद्धि के प्रकाश से भरा-पूरा है—उस प्रकाश से जो उस पार वाली दिव्य ज्योति से आता है। अतएव अपने इंद्रियजन्य राग और द्वेष के प्रभाव से मुक्त होकर शिष्य को केवल कर्तव्यपालन हेतु कर्म करते हुए निरंतर अपनी सत्ता के

श्लोक 42

उच्चतर स्तरों तक उठने के सतत प्रयत्न करने चाहिए। किसी भी स्तर पर वह अपनी प्रकृति द्वारा बंधा तो है पर आत्मन् की सहज स्वाधीनता के कारण उसे इस बात का फैसला करने की स्वतत्रता है कि वह अपनी उच्चतर प्रकृति के कहे पर चले या निम्नतर के। जैसे-जैसे वह ऊपर उठता जाएगा आज की "उच्चतर" कल की "निम्नतर" होती जाएगी पर प्रत्येक मंजिल पर उसकी स्वाधीनता तब तक बढती जायगी जब तक वह अगम्य पर नही पहुंच जाता और समस्त कामनाएं उस एकता की अग्नि मे वैसे ही नष्ट नही हो जाती जैसे दरवाजे पर बाहर की बर्फीली हवा को छूते ही पतंगा नष्ट हो जाता है।

"एवं बुद्धे परं बुद्धवा, संस्तभ्यात्मानमात्मना, जहि शत्रु महाबाहो कामरूप दुरासदम"। अर्थात् इस तरह आत्मन् को बुद्धि से उच्चतर जान कर निचले क्षुद्र अहं को आत्मन् द्वारा नियंत्रित कर, हे महाबाहो, इस मुश्किल से काबू आने वाले शत्रु का वध कर।

श्लोक 43

शिष्य को इस अंतिम श्लोक पर मनन करना चाहिए क्योकि इसके थोडे-से शब्दो मे कामना को वश में करने का वह मर्म है जो बहुत-से तपस्वियों और दार्शनिकों की समझ में नही आया है। यह सच है कि यह मर्म शब्दो में नही समझाया जा सकता और इसका तो हृदय में अनुभव करना होता है, पर जिसने संस्तभ्यात्मानमात्मना यानि "निचले क्षुद्र अहं को आत्मन् द्वारा नियंत्रित कर" का अर्थ थोड़ा-बहुत भी समझ लिया है वह यह निश्चित जान ले कि उसका पांव अब सीढी पर है और यदि वह दृढतापूर्वक अपने ज्ञान को व्यवहार में लाएगा तो उसकी प्रगति निश्चित है। न तो देवता और न मानव ही उसकी अंततः लक्ष्य-प्राप्ति को रोक सकते है।

अध्याय 4

ज्ञान विभाग योग[1]

जिस अविनाशी योग को बहुत युगो पूर्व मैंने विपस्वान[2] को सिखाया था उसी की आज फिर तेरे लिए व्याख्या कर रहा हू" इस तरह चौथे अध्याय का आरम्भ होता है, और श्रीकृष्ण अपने द्वारा दी जाने वाली शिक्षा का स्रोत व प्रमाण स्पष्ट करते है। यह कोई ऐसी "नई" विद्या नही है जो किसी आचार्य विशेष की निजी सम्पत्ति हो। न ही यह ऐसा कुछ है जिससे कोई एक नया सम्प्रदाय चलाया जाय जो चारो ओर के जीवन से रूढ़ि की दीवारो द्वारा अलग कर दिया गया हो—दीवारे जिन्हे कठिन परिश्रम द्वारा तोडकर ही कारागार ग्रस्त जीव मुक्त हो सकते है।

श्लोक 1

यह बिल्कुल साफ-साफ समझ लेना चाहिए कि विचारो के क्षेत्र मे मिल-कियत नही चलती और विचार सोचने वाले की निजी सम्पत्ति नही होते बल्कि जैसा कि अफलातून ने ठीक सिखाया है, जब हमे कोई "नया" विचार आता है तो हम उस मे भाग ले रहे होते है जो सनातन है और जब दो व्यक्ति किसी

1. इस अध्याय मे यज्ञ कर्म मे सम्बन्धित ज्ञान की चर्चा है। इसके शीर्षक का शाब्दिक अनुवाद होगा, 'ज्ञान के विभाग का योग" जो कि सातवें अध्याय मे चर्चित पूर्णज्ञान से भिन्न है। जैसे पिछले दो अध्यायो की पृष्ठभूमि साख्य योगियो और कर्मयोगियो के सिद्धान्तो से बनी थी वैसे ही मीमामको के यज्ञ के सिद्धान्त इस अध्याय की पृष्ठभूमि का गठन करते हैं।
2. विवस्वान, मनु व इश्वाकु को प्रागैतिहासिक काल के दैवी राजाओ का प्रतीक माना जा सकता है। औपनिषदिक काल तक भी ब्राह्मणो को क्षत्रियो के पास गुप्त ज्ञान प्राप्त करने के लिए जाते हुए देखा जा सकता है। मिस्र मे भी ऐसा ही है। सब पुरोहितो से ऊँचा फराऊन होता था। राम, कृष्ण, बुद्ध सब के सब क्षत्रिय थे—ससार के शासक, और मनुष्यो के हृदय के भी। तिलक के अनुसार यही नाम अति प्राचीन वैष्णव सम्प्रदाय "पाचारत्रिक के भागवत" की गुरु परम्परा मे भी आते हैं। महाभारत शातिपर्व देखिए।

एक ही विचार का "चिंतन" करते है तो उनकी एकता का आधार यही होता है कि वे दोनो ही नित्य ज्ञान के किसी पक्ष विशेष मे भाग ले रहे है। विचार उन सीमित मनो से वृहत्तर होते हैं जो उनका चिंतन करते है और ज्ञान किसी भी आचार्य से वड़ा होता है। इसीलिए वुद्ध देव ने मौलिकता का कोई दावा नहीं भरा और वस इतना कह कर संतुष्ट रहे कि उन्होने जो कुछ सिखाया वह पूर्व वुद्धो की शिक्षा की गूंज मात्र है। ठीक इसीलिए श्रीकृष्ण यह साफ-साफ वताते है कि जो योग वे अर्जुन को सिखा रहे है वह केवल उस नित्य ज्ञान का पुनर्कथन मात्र है जो ऐसे ही दैवी प्रमाण के साथ युगो पहले विवस्वान को सिखाया था।

परन्तु यहां कोई यह न समझ वैठे कि "नित्य ज्ञान" का अर्थ किसी ऐसी शिक्षा से है जो किसी अति प्राचीन ग्रंथ मे सांगोपांग रूप से संजोई हुई है। यह ज्ञान तो स्वय ऐसा शव्द रहित सत्य है जो सदा सार्वभौमिक परिकल्पना मे विद्यमान रहता है; यह वह कसौटी है जिस पर सव शिक्षाओ का मूल्याकन होता है; वह स्रोत है जिससे सव धर्म और दर्शन शास्त्र उत्पन्न हुए हैं, और जो वैयक्तिकता के स्तर के पार एकदम अवैयक्तिक है। यही परम सत्य है। अति भाग्यशाली है वह पुरुष जिसके मन के माध्यम से इस ज्ञान ज्योति की एक किरण भी प्रव्यक्त हो पाती है, क्योकि यद्यपि कितनी ही गलतिया उससे भी हो सकती है फिर भी उसके हाथ मे वह सूत्र है जिसके सहारे यदि वह आगे वढ़ता रहे तो सिद्धांतों की भूलभुलैयां और संशय के दलदल से वच निकलेगा। यह वही ज्ञान है जिसने पुरातन काल के ऋषि-मुनियो और उन दैवी राजाओ को प्रेरित किया जिनका उल्लेख सव प्राचीन जातियो के विवरणों मे आता है। इस ज्ञान का, या इस ज्ञान के प्रव्यक्त रूप का, ही "इस संसार मे समय के साथ क्षय हो गया है" जवकि आपस मे झगडते हुए विभिन्न मत व सम्प्रदाय अपने-अपने प्रवर्तकों की की दिव्य वाणियों को अपने सिद्धातो के दायरे मे सीमित करने की चेष्टा करते है। ऐसी चेष्टाएं असफल तो होगी ही और ये वैसी ही व्यर्थ और वेमानी है जैसे किसी जीवित प्राणी को हवावद डिव्वे मे रखकर उसके प्राण को फड़कने की चेष्टा।

श्लोक 2

ज्ञान-योग, कर्म-योग, भक्ति-योग, ध्यान-योग, ये सव के सव उस महान "अक्षर योग" की एक पक्षीय झलकियां या छोटे-छोटे टुकड़े है जिसके सम्पूर्ण सुन्दर रूप की शिक्षा देना श्रीकृष्ण का उद्देश्य है।

श्लोक 3

वास्तव मे स्वय श्रीकृष्ण ही यह ज्ञान है जो एक वार नही अनेक वार इस पृथ्वी पर अवतरित होते है और अपनी एक-एक लीला से सव शिक्षाओं मे छिपे उस गूढ़ अर्थ को दर्शाते है जो उनके गुप्त दैवी स्वरूप का परम रहस्य है और

मन की पहुच के बिल्कुल परे है।

मानवीय जीवात्मा मे इस ज्ञान का जन्म ही प्रतिवर्ष जन्माष्टमी के उत्सव[1] के रूप मे मनाया जाता है। ये वह ज्ञान है जो अज्ञान व स्वार्थ के असुरो को नष्ट करता है और जिसके अन्य नाम प्रेम व त्याग है। यद्यपि वह अज्ञात और अमर है फिर भी यह ज्ञान-प्रेम मानव हृदय[2] मे समय-समय पर व्यक्त होता है और विशेष-कर ऐसे आध्यात्मिक सकट के समय मे जब भौतिकवाद और असतुलन की विश्व शक्तिया मनुष्यो के व्यक्तित्वो पर छाई होती है और बरबस उन्हे उनके आतरिक साक्षी से अलग करने पर मजबूर करती होती है। ऐसे काल मे आतरित जगत मे ऐसा आध्यात्मिक तनाव पैदा हो जाता है जो मानव हृदय मे मानसिक अशान्ति के रूप मे व्यक्त होता है। यही तनाव पृथ्वी के विभिन्न जन-समूहो मे भी बेचैनी पैदा कर उन्हे तुच्छ तृणो के समान युद्ध व क्रांति के दुख-समुद्र की लहरो के थपेडे खिलाता है।

श्लोक 6-8

ऐसी घनघोर आधी रात के समय अधकार मे बिजली की चमक के समान, महान रहस्य, अज्ञात का जन्म, अकर्मा का कर्म, उद्घाटित होता है और विश्व की ज्योति एक बार फिर अधकार मे चलने वालो के लिए प्रकट होती है। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते है कि जो उनके दैवी जन्म व लीला को "तत्वत" जानते है वे दुःख के चक्र मे न भटक कर उनके महत्तर पद[3] पद को प्राप्त होते है।

श्लोक 9

परन्तु यह जन्म केवल बाह्य जगत की ऋतु विशेष मे ही नही होना चाहिए। उत्कठापूर्ण और भूतकालोन्मुख नेत्रो से उस ज्योति की ओर देखते रहने से ही काम नही चलेगा जो किसी समय मथुरा, बुद्धगया या नजारथ मे ऐसी दिव्यता से प्रज्वलित हुई थी। प्रत्येक शिष्य के अधकारपूर्ण हृदय मे श्रीकृष्ण का जन्म होना ही होगा। प्रत्येक देश-काल मे बहुतो ने काम, क्रोध और भय के असुरो का नाश करने वाले नवजात ज्ञान से परिपूर्ण होकर उस सनातन सँकरी राह पर कदम बढाए है (उपनिषदो का अणुपथा पुराण.) और अधकार को चीरते हुए श्रीकृष्ण के परमधाम की प्राप्ति की है।

"सब प्रकार[4] से मनुष्य मेरे पथ पर चलते है" ऐसा कृष्ण कहते है, और

1. हिन्दू क्रिसमस, श्रीकृष्ण का जन्मदिन जो अगस्त-सितम्बर मे आता है।
2. इसका यह अर्थ नही कि अवतरण केवल हृदय मे ही होता है। यहां आतरिक (आध्यात्मिक) महत्त्व पर जोर दिया गया है, पर कहने का मतलब यह नही है कि श्रीकृष्ण ने बाह्य जगत मे भी "जन्म" नही लिया था।
3. अवतार पर टिप्पणी देखिये परिशिष्ट "घ"।
4. एक अन्य अनुवाद, "सब दिशाओ से" है परन्तु शकराचार्य और श्रीधरस्वामी दोनो ने ही "सर्वश: का अर्थ "सर्व प्रकारे ." किया है।

वास्तव मे दूसरा पथ यह भी नही—"नान्याः पंथा विद्यते यनाय"[1] दुख-समुद्र के आरपार तो केवल प्रकाश का सेतु ही है—सतरंगा

श्लोक 11 इन्द्रधनुषी पुल, और विभिन्न मजिलो को चाहे कोई कुछ भी नाम क्यो न दे और चाहे मुख्यतः ज्ञान-शक्ति या भावना या निस्वार्थ कर्म की लाठी के सहारे यात्रा को पूरा करने का प्रयास करे, पर पथ है एक ही—आत्माओ की सीढ़ी (Ladder of Souls) जो अनेक मिस्री प्रपत्रो[2] मे अंकित है और जिसे संसार के सब प्राचीन आचार्य जानते थे, "ऐसी सीढी जिसका तल शिष्य की असफलताओ और पापो के दलदल मे रहता है और चोटी निर्वाण के दिव्य प्रकाश मे खोई रहती है।"[3] हर्मिस ट्रिस्मेजिस्टस टल ने इसके वारे मे सच ही कहा, "यदि तू इस पथ पर पैर रखेगा तो यह तुझे हर जगह दिखाई देने लगेगा जब और जहां तू उसकी आशा भी नही रखता था तब और वहां भी।"

परन्तु केवल पथ के सैद्धांतिक ज्ञान भर से शिष्य उसका अनुसरण करने की क्षमता प्राप्त नही कर सकता। पथ पर चलने के लिए तो स्वय उसकी प्रत्येक मंजिल बन जाना पड़ता है। "इस पथ पर जहा कही भी कोई जाता है उसकी आत्मा स्वयं वह जगह ही बन जाती है।"[4] चेतना को पग-पग उठाना होता है और कुछ साख्यवालो के समान यह सोचना बिल्कुल बेकार है कि यदि केवल कर्म का त्याग किया जा सके तो आत्मा पिंजरे से छूटे हुए पक्षी के समान फुर्र से ऊपर उड़ चलेगी। बेकार इसलिए है कि यदि स्थूल बाहरी कर्म जबरदस्ती छोड भी दिए जाए तो भी मन के सूक्ष्म कर्म तो बने ही रहेगे और आत्मा को हमेशा की तरह पूरी तरह जकडे रहेगे।[5]

वास्तव मे पथ पर चलने का एकमात्र उपाय कृष्ण, यानी उस आत्मन् का ज्ञान है जो हर छोटे-बड़े कर्म की अदृश्य भूमिका के रूप मे सदैव उपस्थित रहता है—चाहे वह लेखनी को इस पृष्ठ पर चलाने का कर्म हो

श्लोक 14 चाहे लाखो मनुष्यो को युद्ध मे झोकने का। जैसे कोई भी गति-चेष्टा अंतरिक्ष के विधान के अंदर ही हो सकती है, वैसे ही जो कुछ भी घटित होता है वह आत्मन् के प्रकाश के

1. श्वेताश्वतर उपनिषद् 6, 15
2 उदाहरणार्थ "बुक ऑफ दि डेड" 48, थीवीस सन्करण।
3. वायस ऑफ साइलैंस
4 ज्ञानेश्वरी, 6, 160
5. श्लोक 13 के "चतुर्वण्य" के वारे मे अध्याय 18 देखिये।

अदर ही। साथ ही जैसे स्वयं अतरिक्ष किसी भी हरकत से लिप्त नही होता वैसे ही आत्मन् भी किसी कर्म मे लिप्त नही होता। इसीलिए कृष्ण कहते है कि जो उनको जानते है वे कर्म के पाश से मुक्त हो जाते है।

ऐसे मनुष्य बुद्धिमान होते है क्योकि वे कर्म मे अकर्म और अकर्म मे कर्म देखते है। अर्थात् वे यह देख पाते है कि यद्यपि समस्त चलायमान जगत के बीचो-बीच चितन-रत आत्मन् अचल रहता है, फिर भी समस्त कर्मो का उद्भव इसी आत्मन् से होता है या यो कहिए कि सब कर्म इस शात निस्सग ज्योति के दायरे मे ही होते है। यही है वह ज्ञान जिसकी अग्नि सब कर्मो को भस्म कर देती है और स्वार्थपरक फलो की कामना को नष्ट कर उस मनुष्य को साधु बना देती है जो अपने मन व शरीर के सदा कर्म-रत रहते हुए भी कुछ नही करता, क्योकि उसको किसी से भी आसक्ति नही होती।

श्लोक 18, 19-23

"गतसगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः यज्ञायाचरत. कर्म समग्र प्रविलीयते", अर्थात्, जो आसक्ति-रहित, बधन-मुक्त विचारो को ज्ञान मे केन्द्रित रखने वाला है और जिसके सब क्रिया-कलाप त्यागपरक है, उसके सब कर्म धुल जाते है।

जो सहज मानव वृत्ति बहुत-से लोगो को तर्क-वितर्क के बावजूद भी अकर्मण्य जीवन से मुख मोड लेने को प्रेरित करती है वह निस्सदेह सही है। कर्म को अस्वीकार करना ब्रह्म और जगत मे ऐसा द्वैत स्थापित करना है जिससे जगत हमारे बीच केवल एक विशाल सार्वभौमिक भूल या उससे भी बदतर एक ऐसी भयकर नृशसता के रूप मे ही रह जाता है जिसकी घृणित दुर्गन्ध दिगदिगन्त मे व्याप्त हो। परन्तु ऐसा है नही। हकीकत मे कोई बुनियादी द्वैत नही होता। बांधने वाला कर्म नहीं है क्योकि प्रव्यक्त विश्व के उमडते ज्वार भी परब्रह्म की उतनी ही सच्ची प्रव्यक्ति है जितना निर्मल साक्षी आत्मन् का प्रशात आनद। हमको बाधते तो कर्म के प्रति हमारे भ्रात मनोभाव है,—"हृदय ग्रन्थिया" जो अज्ञान से उत्पन्न होती है और हमको इस बहकावे मे डाल देती है कि हम सब ऐसे अलग-अलग व्यक्ति है जिनका एक-दूसरे से कोई मतलब नही है और जिन्हे अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए मनचाहे कर्म करने की आजादी है। यह है जो हमको बाधता है, कर्म नही और इसीलिए कृष्ण बार-बार कर्म-फल से आसक्ति न रखने के विषय पर आते है। स्वार्थपरक कर्म करने वाले को उतनी ही आज़ादी है जितनी जाल मे फसे पक्षी को होती है।

जब एक बार साफ-साफ समझ मे आ जाय कि प्रव्यक्ति भी परब्रह्म का ही एक पहलू है तो यह जाहिर हो जाएगा कि कर्म करने का कोई ऐसा

तरीका भी अवश्य होगा जो जीव को वाध नही लेता। अब यही वोध शिष्य के हृदय में होना आरंभ होता है। सत्य की अनुभूति को अपने पूरे अस्तित्व ने उतार पाने के लिए तो अभी वड़ा लम्वा व कठिन मार्ग तय करना होगा, लेकिन विवेक बुद्धि से यह देखता है कि कर्ता, कर्म और क्रिया सव के सव निर्मल निन्य-सत्य के प्रव्यक्त रूप है और यदि ममस्त कर्म ब्रह्माग्नि में आहुति के रूप में समर्पित कर दिए जायं तो कर्मो का वंधन रह नही जाता क्योकि इस बंधन का मूल कारण वह अज्ञान अव हट चुका है जो वुनियादी एकता की जगह द्वैत या अनेकता स्थापित करता था। यह अज्ञानजन्य द्वैत, या अनेकता, की भावना चाहे पूरी तरह न भी मिटी हो फिर भी इतना तो मालूम हो ही गया है कि वह सिर्फ़ असार छायाभास है—ठीक वैसे ही जैसे धोखे से रस्सी सांप के समान दिखाई देती है।

श्लोक 24

यदि इस ज्ञान को सार्थक करना है तो इसे व्यवहार मे लाना होगा और इसलिए अव गुरु उन विभिन्न अभ्यासों को बताते है जिनसे यह ज्ञान शिष्य के सम्पूर्ण जीवन मे व्याप्त किया जा सकता है। कोई इंद्रिय निग्रह का अभ्यास करते है ताकि आगे उस ऊंचे स्तर पर पहुच सकें जिसमे संययित इद्रिया उस आत्मन् की सेवा मे निवेदित की जा सके जो सव प्राणियो मे स्थित है। कोई अपने धन, ज्ञान या तपस्या से प्राप्त घनीभूत चरित्रवल से यथाशक्ति सेवा करने का प्रयत्न करते है। और कुछ योगाभ्यास द्वारा उस आंतरिक संतुलन को प्राप्त करने का प्रयत्न करते है जो कर्म के कोलाहल मे आत्मसंतुलन वनाए रखता है और जिसके द्वारा यथासमय दूसरो को सहायता भी दी जा सकती है।

श्लोक 25-30

ऐसे सब साधक अपने आपकी विभिन्न प्रकार के यज्ञो मे सव जीवधारियो मे स्थित आत्मन् के लिए आहुति देने को तत्पर रहते है, परन्तु इन सव यज्ञो की उत्कर्प सिद्धि होती है ज्ञान-यज्ञ[1] मे जो जीवन-प्रद ज्ञान को पाने का प्रयत्न है। यह प्रयत्न अपने आप को ज्ञानी वनाने के लिए नही किया जाता वल्कि इसलिए किया जाता है क्योकि इस ज्ञान मे ही सव की मुक्ति है।

श्लोक 33

सव कर्म और सव प्रयत्नों की सार्थकता और सफलता इस ज्ञान को पाने

1. ज्ञानयज्ञ के अर्थ के लिए अध्याय 18 श्लोक 70 देखिए।

मे ही है परन्तु जैसे नया प्राण किसी प्राणी से ही उत्पन्न होता है वैसे ही ज्ञान की ज्योति भी ऐसो के संसर्ग से ही प्रज्वलित हो सकती है जिनके हृदय मे वह पहले से दीप्तिमान हो। शिष्य को किसी ऐसे ज्ञानी गुरु के चरणो का आश्रय लेना चाहिए जो सबके हृदय मे वास करने वाले उस जगद्गुरु स्वरूप सनातन ज्ञान का प्रतिरूप हो। कुछ कहेगे कि यदि गुरु हृदय मे पहले ही उपस्थित है तो फिर वाह्य गुरु की आवश्यकता ही क्या है। निस्संदेह गुरु अपने अदर है परन्तु हम केवल कामना की चीख-पुकार सुनने के इतने आदी होते है कि हृदय मे गूजता, पर अभी तक धीमा, वह स्वर अनसुना ही रह जाता है। अक्सर ऐसा होता है कि शिष्य कामना और अशुद्ध भावना के वहकावो को अत.-प्रेरणा रूपी गुरुवाणी समझने की भूल कर बैठता है। इसीलिए उसे किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा मार्ग-निर्देशन की आवश्यकता होती है जिसका सम्पूर्ण अस्तित्व उस ज्ञान से भर गया हो और इसलिए स्वय उसकी वाणी अतर्यामी गुरु की वाणी ही हो गई हो, लेकिन उसे वह ऐसे शब्दो मे अभिव्यक्त करता हो जिन्हे शिष्य के वाहरी कानो से सुना जा सकता है।

श्लोक 34

क्योकि पृथ्वी कभी भी सत्य को जानने वालो से विहीन नही रहती, ऐसे गुरु उचित समय पर सदा मिल ही जाते है। ऐसे ज्ञानी पुरुष चाहे कितने ही विखरे हुए और एक-दूसरे से असम्वन्धित क्यो न प्रतीत हो, होते वे सब एक ही जाति के है—उस महान जाति के जिसका प्रकाश अधकार मे चमकता है यद्यपि अधकार को उसकी थाह नही मिलती, जो जाति सदा अमर रहती है क्योकि जैसे-जैसे युग प्रतियुग ज्ञान की ज्योति एक हाथ से दूसरे मे दी जाती रहती है वैसे-वैसे इस जाति को नया जीवन मिलता जाता है।

परन्तु वेचैनी के साथ दुनिया भर की खाक छानने से गुरु नही मिलता। जिस रास्ते पर जाने से आतरिक व वाह्य दोनो ही गुरु मिलते है वह अदर का रास्ता है और उस पर प्रारभिक कदम अपने आप रख लेने के वाद ही वाहरी मार्गदर्शक मिल सकता है। इस मजिल पर पहुचने पर ही, यानी जव शिष्य अपने अह को सब मे व्याप्त आत्मन् पर निछावर करने को तैयार हो, गुरु सामने आ सकते हैं और आते है. "जव शिष्य तैयार होता है तव गुरु प्रकट हो जाते हैं।"[1] जिनके ध्येय स्वार्थमय हो, चाहे वह स्वार्थ कितना भी

श्लोक 34

1. लौकिक मूढाग्रह के अनुसार कोई गुरु विना दक्षिणा के दीक्षा नही दे सकता। यद्यपि ऐसी रीतिया भ्रष्ट होती हैं फिर भी यह एक गहन सत्य की प्रतीक है। जो भी गुरु ढूढते हैं उनमे पूछा जाता है "जिस ज्ञान को तुम पाना चाहते हो उसके वदले मे क्या अर्पण करते हो और क्या दोगे?"

'परिष्कृत' क्यो न हो, उसके लिए कोई गुरु प्रकट नही होगा, क्योकि गुरु से उसको कोई फायदा नही होगा। गुरु का काम तो आंतरिक वाणी को स्पष्टतर करना होता है और यदि शिष्य ने उस वाणी को सुनना ही नही सीखा है तो आंख मूंदकर किसी बाहरी अनुशासन का आज्ञापालन करने से हानि ही अधिक हो सकती है। इससे उसका अपना स्वावलम्बन नष्ट होता है और जो वाणी पहले ही धीमी थी वह और भी धीमी हो जाती है।

परन्तु जब शिष्य विकास की समुचित अवस्था पर पहुंच जाता है और उसे अपना गुरु मिल जाता है तब उसे आत्म-विलोप के अनुशासन और गुरु-चरणों में आत्म-समर्पणरूप सेवा के द्वारा गुरु के साथ ऐसा तादात्म्य कर लेना चाहिए जिससे जो गुरु मे चमकता है वही शिष्य मे भी प्रकाशित होने लगे।

तब जाकर शिष्य देखने लगेगा कि सब प्राणी ("भूतान्यशेषेण") एक महत् आत्म की ज्योति के अदर वैसे ही स्थित है जैसे सब वस्तुएं आकाश के गर्भ मे होती हैं। और इस ज्ञान प्रकाश की नौका मे वह उस पार जाने लगेगा। जैसे आग ईंधन को भस्म कर देती है ठीक वैसे ही ज्ञान का प्रकाश भिन्नता व अनेकता को नष्ट कर देता है।[1] जो कर्म क्षुद्र अहं को इतनी बुरी तरह जकड़े रहते है वे उसके सच्चे स्वरूप का कुछ नही बिगाड़ सकते क्योकि कर्म अज्ञान से बांधते है और सत्स्वरूप ज्ञान के कारण मुक्त रहता है।

श्लोक 35

ज्ञान की शरण लेने से पुराने पापो के बंधन तो कट जाते है लेकिन कोई यह न समझ ले कि यहां स्वेच्छाचारिता की कोई गुंजाइश है। ईश्वर और माया दोनों की सेवा एक साथ कोई नही कर सकता। अहंकारपूर्वक आत्म-विशिष्टता का दावा करना ही पाप का मूल है और जो ऐसा करता है वह ज्ञान से बहुत दूर रहता है क्योकि ज्ञान का सार तो आत्म-बलिदान है।

यह सच है कि ज्ञान सबके हृदय मे छिपा है, महापापियो के हृदय मे भी, परन्तु जो योग मे सिद्ध ("योगसंसिद्धः") यानी यज्ञ-कर्म करने मे सिद्ध हो वही उसे अपने हृदय मे समय आने पर पाता है। इसके लिए शिष्य को श्रद्धा[2] की आवश्यकता होती है। यह श्रद्धा सम्प्रदाय-वादियों का अंधविश्वास नही बल्कि जीव की आत्म-समर्पण

श्लोक 36-39

1. जो ईसाई मूढाग्रह मे अधिक नही फसे हैं वे शायद यहा ईसा मसीह के सूली पर चढ़ाए जाने मे श्रद्धा रखने के फलस्वरूप पापियो की मुक्ति का अर्थ समझ सकेंगे। मसीह का रक्त ज्ञान-प्रकाश है जो सबके हित मे अह का बलिदान देने पर बहता है। इस प्रकाश मे स्वभावत. इतनी शक्ति होती है कि यदि बड़े से बडा पापी भी इसके शरणागत हो जाए तो वह तर जाएगा।

2 श्रद्धा के स्वरूप की विवेचना अध्याय 17 मे और अधिक की जायेगी।

की वह दृढ आकाक्षा है जो ज्ञान के उदय से पहले उसकी ही एक छाया होती है। और फिर केवल इस श्रद्धा से ही काम नहीं चलता। शिष्य का अपनी इद्रियो के ऊपर नियत्रण भी होना चाहिए अन्यथा वह उसे उडा ले जाएंगी "जैसे हवा नाव का हरण कर ले जाती है"[1] और जो आकाक्षा के पाल अमरत्व की यात्रा के लिए चढाए गए थे वही जीव को तेजी से मृत्यु की काली चट्टान की ओर ले जाएंगे।

और सबसे अधिक शिष्य को सशय[2] से बचना चाहिए, उस संशय से जो समुद्र के ऊपर कुहरे के समान धीरे-धीरे छा जाता है और दिशा-सूचक तारो को छिपा-कर जीव को हताश कर देता है। समय-समय पर जैसे शिष्य आगे बढने का प्रयास करेगा, सशय का यह कोहरा उसके हृदय को आच्छादित करता रहेगा। जिस ज्योति से उसका मार्ग-निर्देशन होता रहा है वह मंद पड जाएगी और छिप जाएगी और उसे अब तक की सारी उपलब्धि व्यर्थ प्रवंचना मालूम होगी।

श्लोक 40

अब उसे दिखाना होगा कि वह किस खान का पत्थर है क्योकि यदि वह हिल गया और हतोत्साह हो गया तो सब कुछ खो बैठेगा। उस ज्ञान रूपी कुतुबनुमे का सहारा पकडे हुए, जिसकी अब उसके पास बस एक दिमागी याद भर रह गई है। उसे बढते ही जाना होगा—इस विश्वास के साथ कि समय आने पर कोहरा उड जाएगा और वे जाने-पहचाने तारे एक बार फिर चमकने लगेगे। अततः ज्ञान ही सशय को चुप करा सकता है। जब तक किसी भिन्न अस्तित्व मे विश्वास बना रहता है तब तक ही उस अस्तित्व के अनिष्ट का डर लगा रहता है क्योकि जो अलग है वह तो एक दिन समाप्त होगा ही। केवल वह ज्ञान ही जो आत्मन् को अनेक मे व्याप्त एक के रूप मे जानता है भय की फुसफुसाहट को बद कर सकता है और सशय के कुहरे को भेद सकता है। जो मरने से नहीं डरता वही जीवित रह सकता है और ऐसी निर्भयता उसी की हो

श्लोक 42

1. गीता अध्याय 2, श्लोक 67.
2. यहा केवल दिमागी सशय के बारे में नही कहा जा रहा है जो ज्ञान की हर प्रगति से पहले आमतौर से हुआ करता है। न ही यह रूढिवादी सिद्धांतो के बारे में सशय है क्योकि ऐसे सब सिद्धातो के अवलबन को तो जड से निकालना जरूरी है। जिस सशय से बचने को कहा जा रहा है वह तो अब तक हुई अनुभूति की वास्तविकता के बारे में होने वाला सशय है और यह हर हालत में प्रगति की प्रतिक्रिया स्वरूप अनिवार्यत होता है। यदि इस पर विजय प्राप्त हो सकी तो और प्रगति होगी परन्तु यदि इसके सामने घुटने टेक दिए तो सब विकास बद हो जाएगा।

सकती है जिसने बुद्धियोग द्वारा प्रकाश से तादात्म्य कर लिया हो और कर्मयोग द्वारा क्षुद्र अह को परम आत्मन् पर निछावर कर दिया हो। जबकि क्षुद्र अहं दु.ख की जलती हुई आंधी में सूखे पत्तो की तरह बिखरे रहे होगे तब ऐसे मनुष्य की ही चट्टान की भांति आत्मन् मे स्थिति रहेगी।

"इसलिए, हे अर्जुन, परम आत्मन् के ज्ञान रूपी खड्ग से अपने हृदय मे जमे अज्ञान-जन्य सशय को काट कर योगातिष्ठ हो और उठ खड़ा हो।"

अध्याय-5

संन्यास योग

"हे कृष्ण तू पहले कर्मों के त्याग की प्रशसा करता है और फिर (कर्म) योग की। निश्चयात्मक रूप से मुझे वता कि इन दोनो में श्रेष्ठ कौन है।"

श्लोक 1

अव जो ज्ञान शिष्य की चेतना मे छन कर जा रहा है वह विभिन्न पंथो का ऐसा दिमागी ज्ञान नही है जो किसी अशमात्र को ही पूर्ण मानकर चलता हो। यह तो वह एकात्मकारक ज्ञान है जो मन की छिन्न ज्योतियो का उस प्राणमय एकता मे सायुज्य कर देता है जिस तक विना सहायता के केवल मति नही पहुच पाती। जो इस अवस्था पर पहुच गया हो वह आसनस्थ वुद्ध की विभूति को देखकर अपने हृदय मे यह जाने विना नही रह सकता कि केवल त्याग ही शांति दे सकता है। इसी प्रकार जब भगवान श्रीकृष्ण का वहुमुखी प्रनिभा स्वरूप—योद्धा राजनीतिज्ञ, प्रेमी, मित्र इत्यादि—देखेगा तो विश्व चक्र के वीचो-वीच नितात मुक्त दैवी कर्म की इस अद्‌भुत प्रव्यक्ति को पहचाने विना भी न रह सकेगा।

तर्क परक मन तो आग्रहपूर्वक कहेगा कि ये असगत आदर्श है और थोथे तर्क से शिष्य को एक या दूसरी ओर ले जाने का प्रयत्न करेगा। परन्तु शिष्य को अपनी आत्मा के इस आतरिक ज्ञान से लगे रहना चाहिए जो उसे यह सिखाएगा कि ये अनमेल लगने वाले वास्तव मे एक ही सत्य के दो पहलू है। वही व्यक्ति ठीक से देखता है जो यह देख लेता है कि साख्य वालो के सिखाए कर्म-त्याग का सच्चा अर्थ वही है जो कर्म-योगियो के कर्म का है।

श्लोक 4, 5

दरअसल शब्द तो केवल उन उगलियो के समान है जो चद्रमा को इगित करती है और यद्यपि मन की विश्लेषणात्मक पकड उगली से चिपकी रहती है, आत्मा अपनी अन्त प्रेरणा के द्वारा उस तक पहुंच जाती है जो दूर उस पार है।

सच्चा त्याग इच्छाशक्ति का जोर लगाकर एकाएक नही किया जा सकता यद्यपि जब वह आता है तव विजली की गति व तेज की तरह मालूम होता है। "सन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्नुमयोगतः"।

श्लोक 6

विना योग के संन्यास पाना कठिन है ।" जब तक एक अलग खुदी की भावना वनी रहती है तब तक सच्चा त्याग असंभव है क्योंकि आसक्ति तो उस व्यक्तिगत अहं पर आधारित है जो आसक्तियो व राग-द्वेप का वह काल्पनिक या मायावी केन्द्र है जिससे मनुष्य का तथाकथित स्वरूप वनता है ।

मनोवैज्ञानिक वताते है कि अहं भाव हीनं शिशु मे कैसे धीरे-धीरे अहं वनता है, कैसे अनुभव के साथ वह विकसित व जटिल होता जाता है और कैसे अ-ग्रथित अनुभव मे होने वाले तनावो के फलस्वरूप यह अहं विकृत होकर दो या अधिक व्यक्तियो मे विभाजित हो जाना है और फिर कैसे विरोधी तनावो मे सामंजस्य लाकर इन्हें एकरूप किया जा सकता है । जो वात वुद्धदेव ने वहुत पहले सिखाई थी वही मनोवैज्ञानिक भी वताते है कि इस सदा वदलते अनुभव-प्रवाह मे ऐसा कुछ भी अमर, स्थायी, दृढ व न वदलने वाला केंद्र नही है जिसे वास्तव में आत्म या खुदी कहा जा सके । यह अह जिसे हम इतना प्यारा मानते है और जिसके लिए और सव कुछ छोडने को तैयार रहते है, किसी भंवर के खोखले केंद्र के समान निरा खोखलापन है, गणित के एक विंदु के समान है जो वरावर अपनी स्थिति साल के साल ही नही वल्कि हर घंटे ऐसे वदलता रहता है जैसे कोई मनुष्य व्यवसाय मे एक और घर या क्लव में दूसरा व्यक्तित्व-ग्रथन वदलता रहता है ।

इसलिए श्रीकृष्ण सिखाते है कि शिष्य को आत्म की ऐसी मिथ्या भावना को पूरी तरह नष्ट कर देना चाहिए और यह समझना चाहिए कि "वोलना, लेना, देना" आदि जो कुछ भी वह करता है उनका उसके सच्चे स्वरूप से मतलव नही है वल्कि इन प्रक्रियाओं मे "इंद्रियां ही अपने विपयार्थो मे घूमती हैं" ।

परंतु चाहे उसका केंद्र खोखला[1] हो, भंवर तो असली ही होता है और यद्यपि भिन्न-भिन्न जीवधारियो मे कोई स्थायी अहं नही होता फिर भी स्वयं जीवन की सत्यता तो निश्चित है । एक वह जीवन है जो मानव मात्र का प्रकाश होता है—"ऐसा प्रकाश जो अंधकार मे चमकता है यद्यपि अंधकार को उसकी थाह नही मिलती ।" यह महाप्राण, आत्मन्, सव जीवधारियों का असली स्वरूप, सनातन की श्वास है जिसके वारे मे ऋग्वेद का कहना है : "वस वह एक, श्वास-हीन, अपने ही स्वभाव से सप्राण था, उसके अलावा वस कुछ भी नही था और ।"

यही महत् जीवन सब जीवधारियो का प्राण है, यही सव का आंतरिक मर्म है और यदि उसे अहं कहा जा सके तो यही सवका सच्चा अहं है । इस महत जीवन मे ही अमरत्व मिल सकता है । जव यह समझ मे आ जाय कि सव कर्म भंवरो की स्थिति उस प्रकाश समुद्र की

श्लोक 10

1. यानी किसी वस्तुत्व से विहीन परिशिष्ट "ख" देखिये ।

गोद मे ही है तब जाकर ही शिष्य "अपने कर्मों का शाश्वत मे स्थापन" कर सकता है और मायावी सीमित केंद्र को त्याग कर आसक्ति से ऐसा छुटकारा पा सकता है जिसके कारण उसके कर्म मुक्त व दिव्य हो जाते है।

अब शिष्य को अपनी अहंवादिता से छुटकारा पाने की कोशिश करनी चाहिए। अपनी भिन्न अहताओ के लिए कर्म करना छोड उसे अब उस महत्तर अह के लिए कर्म करना चाहिए जो सब मे स्थित है। इसका व्यावहारिक अर्थ यह है कि उसे धन व प्रतिष्ठा लाभ की इच्छा न रखते हुए लोक-कल्याण के लिए कर्म करना चाहिए। शरीर, मन व इंद्रिया पहले की तरह ही काम करती रहे परंतु उनके कार्यों की सार्थकता केवल उनके अपने अंदर के बिंदु मे ही नही बल्कि उस रहस्यमय वृत्त में मानी जानी चाहिए जिसका केंद्र तो सब जगह है और परिधि कही नही है।

जब इस निष्काम कर्म के योग मे उसे कुछ सफलता मिलने लगेगी तो शिष्य को अपने अदर कुछ परिवर्तन होता हुआ दिखाई देगा। मायावी वैयक्तिक केद्र के खाली व नीरस आधार बिंदु की जगह, जहा अभी तक अंधेरा था, वहा अब उसे एक ज्योति जगमगाती दिखेगी। जहा पहले एकदम सन्नाटा था, वहा अब नाद सुनाई देगा।

इस अवस्था के बारे मे ही चीनी ग्रंथ "सीक्रेट आफ दि गोल्डन फ्लावर" का कहना है : "जब कोई इस जादू को इस्तेमाल करने लगता है तो ऐसा लगता है कि जैसे अपने अस्तित्व के बीचोबीच कोई अन-अस्तित्व है। समय आने पर जब कार्य सपन्न हो जाता है और शरीर के पार एक अन्य शरीर बन जाता है तो ऐसा लगता है जैसे अन-अस्तित्व के बीचोबीच अस्तित्व हो। एक सौ दिन के सपन्न कार्य के पश्चात् ही ज्योति वास्तविक होती है और तब जाकर ही वह आत्माग्नि बनती है। सौ दिन के बाद अपने आप ज्योति के बीचोबीच सच्चे ज्योति पुज (यांग) का बिंदु विकसित होता है। अकस्मात् बीज-मुक्ता उत्पन्न हो जाती है, जैसे स्त्री और पुरुष ने आलिगन किया हो और गर्भाधान हो गया हो।"

"अपने मन के द्वारा सब कामना प्रेरित कर्मों को त्याग कर शरीर के नौ
श्लोक 13 द्वार वाले नगर मे न कर्म करता हुआ न कर्म करवाता हुआ,
अंतर्यामी अधिष्ठाता आनद से बैठा रहता है।"

बात यह है कि हमारे अंदर का केद्र मायावी तब तक ही है जब तक हम उसे एक स्वाधीन अहं, अन्य सबसे अलग इकाई, मानते है। वास्तव मे अदर जो बिंदु है वह तो एक झरोखा है, यानी एक दृष्टिकोण जिसके जरिए अविनाशी स्वय द्रष्टा होकर बाहर अपने आपको एक बाह्य विषय के रूप मे देखता है।

जैसे झरोखा खुद तो खाली होता है परंतु फिर भी वह केंद्रस्थान होता है जिसके द्वारा सर्वव्यापी सूर्य की ज्योति उस वस्तु जगत को प्रकाशित करती है जिसकी वस्तुएं भी ज्योति कहलाने वाली ऊर्जा के ही अन्य रूप है, वैसे ही अहं भी एक अभिसरण केंद्र है जिसके द्वारा अद्वय चैतन्य की ज्योति उस बाह्य जगत को प्रकाशित करती है जो महत् आत्मन् या सार्वभौमिक मनस् का ही दूसरा पहलू है।

प्राणी जगत के असख्य अन्य केंद्र स्थानो के द्वारा दीप्तिमान होने वाली ज्योति से नितांत अभिन्न वह ज्योति ही सच्चा स्वरूप है और जैसा मूल श्लोक में लिखा है, वह आनदपूर्वक देह मे निवास करती हुई न कर्म करती है, न करवाती है। अपने आप मे अविक्षुब्ध यह आत्मन् व्यक्तित्व के भले व बुरे कर्मो द्वारा छुआ भी नही जाता और ऐसा अभेद्य दुर्ग होता है जिसमे आश्रय पाकर शिष्य को युद्ध के उतार-चढाव से किसी हानि का भय नही रह सकता। साथ ही ऐसा करना स्वार्थपरक पृथकता का द्योतक भी नही होता क्योकि ऐसी अवस्था मे तो उसका समस्त जीवन से तादात्मय होता है।

श्लोक 14-15

जैसा कि "विभु" (सर्वव्यापी) शब्द के उपयोग से स्पष्ट है, इस आंतरिक स्वरूप को कोई नित्य रहने वाली ऐसी इकाई नही मानना चाहिए जो प्रत्येक शिष्य के लिए पृथक-पृथक हो। समस्त लोको मे ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नित्य नहीं है और इस आतरिक बिंदु को एक स्थायी पृथक स्वरूप, चाहे उच्चतर स्वरूप ही क्यों न सही, मानना वही गलती एक उच्चतर स्तर पर करना है जो सामान्य जीवन मे हम अपने को औरो से बडा समझने मे करते है।[1]

जब तक पृथकता का यह भ्रम रहता है तब तक "ज्ञान अज्ञान से ढका रहता है" परंतु जब इस पृथक अस्तित्व से चिपटे रहने की इच्छा को त्याग दिया जाता है तब शिष्य हृदय के आंतरिक द्वार से होकर उस प्रदेश मे पहुंच जाता है जिसमे वह सबके साथ मिलकर एक हो

श्लोक 15-17

1. यही सत्काया दृष्टि का वह महान पाखड सिद्धान्त है जिसके विरुद्ध अपने शिक्षण मे बुद्धदेव इतने सक्रिय रहे। इस सिद्धान्त के अनुसार ऐसे स्थायी चिदाणु होते है जो सदा एक-दूसरे से पृथक होते हैं। जिसको इस पुस्तक मे उच्चतर स्वरूप या सच्चा अहं भाव कहा गया है वह निस्सदेह अपेक्षित रूप मे स्थायी वैयक्तिक केन्द्र है परन्तु वास्तव मे वह महत् आत्मन् का अभिसरण बिन्दु ही है और अलग इकाई नही है। इसकी पृथकता केवल इसके अनुभवो के वस्तु विषय मे है न कि अपने आप मे। यदि बिल्कुल सही-सही कहा जाय तो महत् आत्मन् भी स्थायी नही है क्योकि वह प्रव्यक्त विश्व का भाग है और प्रलय के समय वापस परब्रह्म मे चला जाता है। इस तरह यथार्थत: तो एक परब्रह्म ही नित्य है।

जाता है और जहाँ अद्वय आत्मन् की ज्ञान ज्योति अविरोध चमक कर उस नाम रहित नित्य परम को प्रकाशित करती है। सब ही नाम तो मन के विभेदकारी विश्लेषण पर आधारित है और इसलिए जो सब मे एक व अविभेद्य है उसको कोईनाम कैसे दिया जा सकता है। इसलिए प्राचीन ऋषियो ने उसे केवल "तत्" ही कहा, वह सत्य "जिससे, समझ न सकने के कारण, इन्द्रियो सगेत मन वापस लौट जाता है।[1]

शिष्य को 'तत्' का यह पहला बोध नही है। बहुत पहले अध्याय दो मे उसको इसकी पहली अत:प्रेरणात्मक झलक मिली थी। परतु उस समय वह उसके सामने अव्यक्त के रूप मे प्रकट हुआ था—जो कुछ भी है उसकी अपरिवर्तनीय भूमिका के रूप मे। फिर अध्याय चार के स्तर पर पहुचकर उसने "उसे" संसार के सब कर्मो के रहस्यमय उद्गम स्थान के रूप मे थोडा और अधिक स्पष्ट देखा। इस तरह प्रगतिशील उत्थान चक्र मे घूमते हुए उसकी नजर साफ होती जा रही है और अब खुले हुए आतरिक द्वार मे से झांक कर वह देख रहा है कि जो नित्य है वह तो सबमे एक ही है—विद्वान ब्राह्मण मे या तुच्छ चाण्डाल मे, पशुओ मे या मनुष्यो मे। परम नित्य ब्रह्म निर्मल और सब मे बराबर है। और जिस शिष्य ने यह ज्योति देख ली वह वास्तव मे देख लेता है कि यह सोचना कि मनुष्यो के भले व बुरे कर्मो से उस पर जरा भी असर पड सकता है, एकदम मूर्खता है। जैसे सूर्य का शुद्ध प्रकाश गदी वस्तुओ पर पड कर दूषित नही होता वैसे ही ब्रह्म ज्योति पर उन शरीरो की विभिन्नता का कोई असर नही पडता जिन्हे वह प्रकाशित करती है। यह एक सीधा-सादा तथ्य है जिसे जो चाहे देख सकता है और जो इसे देख पाता है वह अब अपने सह जीवधारियो को एक बिल्कुल नए तरीके से देखने लगता है। सुदर या वीभत्स, सब नकाबो के पीछे एक ही शुद्ध ज्योति होती है और शिष्य अब मनुष्यो को केवल प्रशसनीय, विवेचनीय या दडनीय प्राणियो के रूप मे नही देख सकता है। अब उसकी दृष्टि बस उस ज्योति पर जमी रहती है और उसका एकमात्र विचार यही होता है कि शरीरो के अवरोध को पार कर कैसे इस ज्योति को और तेजी से चमकने मे सहायता की जाय। इस विचार से कर्म करते रहने पर धीरे-धीरे उसके व्यवहार मे स्वार्थपरक कर्मो का वह परित्यजन आ जाता है जो सच्चा त्याग होता है।

इस पथ पर कर्म और आत्मदर्शन साथ-साथ चलते है और इसीलिए गीता की शिक्षा बारी-बारी से कभी ज्ञान और कभी कर्म की ओर इस तरह झुकती है कि निरे दिमागी लोग चक्कर खा जाते है। शुद्ध व अनुशासित कर्म

1. तैत्तिरीय उपनिषद् 2, 4, 1

आंतरिक चक्षु को खोलकर शिष्य को सर्वोच्च का वह दर्शन कराता है जिसको देखने की क्षमता उसमे अब आ गई है। परंतु यह दर्शन सिर्फ़ एक निजी आह्लाद बनकर ही नही रह जाना चाहिए। कर्म मे परिवर्तित होकर इसे व्यक्तित्व मे एकदम घुलमिल जाना चाहिए और उसके बाद ही आंतरिक चक्षु के सामने अन्य कोटि के दर्शन आ सकेंगे और प्रगति का एक नया दौर शुरू हो सकेगा।

इस खंड (दृष्टांत के लिए श्लोक 17 या 24) को सरसरी तौर पर पढने से शायद ऐसा प्रतीत हो कि यह पूर्ण उपलब्धि का वर्णन है और अब शिष्य एकदम सीधे और शॉर्ट कट वाले रास्ते से आगे जा सकता है। परंतु शिष्य की दशा इस अवस्था मे उस व्यक्ति के समान होती है जिसका सिर तो आंतरिक द्वार से निकल गया हो पर शरीर बहुत बड़ा होने के कारण न निकल पा रहा हो। जिसका दर्शन हुआ है उसे एक बार फिर व्यवहार मे लाना होगा। शिष्य के शरीर यानी व्यक्तित्व का आत्मदर्शन से प्रकाशित कर्म द्वारा ऐसा परिमार्जन करना होगा कि वह आगे निकलने मे अब कोई अवरोध न रहे। ये श्लोक पूर्ण उपलब्धि की स्थिति का विवरण करते प्रतीत होते है परन्तु है ये केवल हौसला बढाने के लिए और मन मे उस लक्ष्य को बनाए रखने के लिए जिसकी ओर सारी कष्टपूर्ण साधना और आत्मनियंत्रण के प्रयत्न प्रवृत्त होते है।

अत. दृढतापूर्वक उस ज्योति पर अपनी दृष्टि गड़ा कर जिसे उसने इंद्रियो के छायाचित्रों के पीछे देखा है उसे नित्य मे स्थित रहने का प्रयास करना चाहिए और वास्तविकता के निर्मल संतुलन को व्यवहार मे लाकर

श्लोक 21-22 इद्रिय स्पर्शो के सुखद या दुखद झोको मे न बह जाने का प्रयत्न करना चाहिए।

इद्रियबोध तो अब भी पहले ही की तरह आते-जाते रहेगे परतु जो आतरिक दर्शन उसे हुआ है वह उसे इंद्रियो के सुख व दुख के

श्लोक 23 अनुभव होते रहने पर भी साथ ही उनसे अलग बने रहने की एक नई शक्ति प्रदान करेगा।

सुख या दुख का भेद इद्रियबोधो के अपने किसी गुण विशेप के कारण इतना नही होता जितना हमारे अंदर होने वाली आकर्षण या प्रतिकर्पण की भावना के कारण। जब शाश्वत प्रकाश के सहारे शिष्य इस आंतरिक प्रतिकर्षण पर विजय प्राप्त कर लेता है तो उसे पता चलता है कि यद्यपि दुख के इद्रियबोध अपने आप मे तो वैसे के वैसे ही रहते है तथापि किसी अवर्णनीय ढग से वे कुछ बदल-से जाते है और उनमें अब शिष्य की सत्ता पर हावी रहने और उससे आंख बंद कर प्रतिक्रिया करवाने की शक्ति नही रह जाती, यद्यपि नियंत्रित व युक्तिपूर्ण प्रतिचेष्टा की उसमे अब पहले से अधिक क्षमता आ जाती है। ये इंद्रियबोध अब उसके स्वामी नही रह जाते जो कि जब जी मे आया तब धड़-

चढाते हुए चेतना मे घुस आए और अपनी सहज अधी प्रतिक्रियाओं की अनिवार्य रूप से माग करें। अव तो वे केवल ऐसी घटनाए होकर रह जाते है जिन पर ध्यान दिया जाता है, जिनका अध्ययन किया जाता है और आवश्यकता पडने पर जिनकी परिचर्या भी की जाती है। तीसरे अध्याय के अन मे दी गई काम को वश मे करने की शिक्षा अव फलीभूत होने लगती है। पहले शिष्य के पास अवांछनीय इद्रियवोधो को झेलने के लिए न तो कठोरतापूर्वक मन को मारने के अलावा और कोई साधन था और न कामना के ज्वार को रोकने के लिए व्यक्तिगत इच्छा-शक्ति के अलावा और कोई तरीका। यह तरीका—जो अपर्याप्त तो है ही—बहुत वार असफल भी रहा होगा। परतु अव वात दूसरी ही है। अव तो उसे वस इतना करना है कि अपने आप को आतरिक दुर्ग मे स्थापित कर ले और कम से कम जव तक वह वहा रहेगा तव तक कामनाए उसके देखते ऐसे खत्म होती जाएगी जैसे किसी गर्म मकान से निकलने पर वर्फानी हवा को छूते ही पतगे खत्म हो जाते है। यह सच है कि ये कामनाए फिर जीवित होकर उठ खडी होगी और फिर से इनका सामना करना पड़ेगा, परतु यह वहुत बड़ी उपलब्धि है कि जहा पहले जोर से दात भीच कर कामना पर विजय प्राप्त करनी पड़ती थी वहा अव इच्छाशक्ति के अपेक्षाकृत छोटे-से प्रयत्न से ही शिष्य अपने दुर्ग मे पहुंच सकता है और वहा पहुचने पर तो विजय निश्चित ही है।

परतु इस अवस्था मे यदि थोडा-सा भी वैयक्तिक गर्व तरगति हो गया तो सव कुछ नष्ट हो जायगा। कामना पर इच्छानुसार कावू कर सकने की यह शक्ति है तो महान परतु ब्रह्म निर्वाण प्राप्ति के लिए यानी वैयक्तिक कामनाओ को शाश्वत के शात प्रकाश मे पूरी तरह "वुझाने" के लिए अभी वहुत कुछ करना है। इसके वाद ही शिष्य ऋषि वन सकेगा और वुद्ध के इस विजय घोष को गुजायमान कर सकेगा .

"देख लिया अव तुझे, हे घर वनाने वाले! अव फिर तू मेरे लिए घर नही वनाएगा। सारी कडिया टूट चुकी है और शहतीर के टुकडे-टुकडे हो गए है। मेरा चित्त शाश्वत मे स्थिर है, कामनाए सव वुझ गई है।"[1]

गर्व का मतलव है द्वैत भावना का होना और इस भावना को तो हमेशा के लिए समूल नष्ट करना ही होगा। इसीलिए शिष्य को फिर से वताया गया है कि

श्लोक 25

उस दुर्ग मे ससार के दुख व क्लेश से भागकर अपने स्वार्थ हेतु आश्रय लेने को नही जाना चाहिए। ब्रह्म तो सव मे वही एक है और जिसने अपने आप मे वोधिसत्व की सर्वग्राही करुणा विकसित कर ली हो वही वुद्ध का परमवोध प्राप्त कर सकता है।

1. धम्मपद, 154.

फिर भी इस स्तर तक पहुंच पाना ही बहुत बड़ी बात है। यदि वैयक्तिक गर्व का दमन किया जा सके तो शिष्य की और आगे प्रगति सुनिश्चित है क्योंकि "ब्रह्म निर्वाण उनके पास ही रखा होता है" जो आत्मन् को जानते है और, इसके फलस्वरूप, पहले बताए अभ्यास द्वारा अपने को काम-क्रोध से विमुक्त कर लेते हैं। अगले अध्याय मे वह विधि इंगित की जायेगी जिससे शिष्य की चेतना उस खाई को लांघ सकेगी जो उसके चेतित मन (Conscious mind) और उस पार के प्रकाश सागर के बीच अभी तक मौजूद है। परन्तु यहां याद रखना चाहिए कि जो यहां तक पहुंच चुका है, जिसने आंतरिक द्वार के उस पार का प्रकाश देख लिया है, जिसने अपने क्षुद्र अहं पर पूरा काबू पा लिया है और जो सब प्राणियो के हित मे रत हो (सर्वभूताहिते रताः) ब्रह्म निर्वाण केवल उसके ही पास रखा होता है।[1]

जो अब तक पथ पर श्रद्धापूर्वक नही चला है उसके लिए किसी ध्यान योग द्वारा चेतना को बोधि की ओर स्फुरित करने का प्रयत्न करना बिल्कुल बेकार है।

श्लोक 28 — इस समयपूर्व अभ्यास से तो बस खतरनाक माध्यमीय मनोविकार, व्यक्तित्व का मनस्तापी विसघटन या शायद विक्षिप्ति ही हो सकती है।

परन्तु योग्य शिष्य के लिए, उसके लिए जिसने इंद्रिय, मन व बुद्धि[2] पर काबू

1 श्लोक 271 आखें ऊपर पलट कर अचेतावस्था में कुछ हठयोगियो के समान बैठने के बारे मे नहीं है बल्कि उसमे इस स्तर तक पहुचने के बाद शिष्य के सहज व्यवहार का वर्णन है। इन्द्रिय स्पर्श का बाह्यीकरण कर, यानी उन्हे अपने से बाहर की चीज समझ कर शिष्य अपनी आख, अर्थात् दृष्टि केन्द्र, को भृकुटियो के बीच के प्रतीक स्वरूप बिन्दु पर ले जाता है। साधारण आख से देखने का अर्थ है सामान्य दृष्टि से देखना, हृदय द्वारा या हृदय से देखने का अर्थ है व्यक्तिगत सच्चे स्वरूप या मनस् से देखना और भृकुटियो के बीच के बिंदु से देखने का अर्थ है तीसरे, आध्यात्मिक ज्ञान के, नेत्र से देखना या बुद्धि के सर्वप्रकाशक, अविक्षुब्ध ज्ञान से देखना। महायान बौद्ध शास्त्रो के प्रतीकात्मक विवरण से तुलना कीजिए, सद्धर्म पुण्डरीक के उपक्रम मे लिखा है: "और उस समय भगवान बुद्ध की भौंहो के बीच के भवर से एक किरण निकली। वह अठारह लाख बुद्ध क्षेत्रो मे व्याप्त हुई · और जो भी प्राणि छ. दशाओ मे से एक मे थे वे सब के सब दृष्टिगोचर हो गए।" वायस आफ सायलेन्स मे भी देखिए: "तब हृदय से उठकर यह शक्ति छठे मध्यवर्ती स्थान मे जाएगी, उस स्थान मे जो तेरी आंखो के बीच है। वहां वह अद्वय प्राण की सास बन जाएगी। तेरे गुरु की वाणी, सब कुछ को परिपूरित कर देने वाली वाणी बन जाएगी।" बुद्धि ही अद्वय प्राण या महत् की सास है।

2 बुद्धि पर विजय पाने को यहा पूर्वानुमानिक समझना चाहिए। यह विजय मुक्ति प्राप्ति से पहले होगी।

पा लिया है, जो सब स्वार्थी उद्देश्यों से मुक्त है, जिसने सुख भोगो की कामना, कर्म-परिणामो का भय और बाधा पहुंचाने वालो के प्रति

श्लोक 29 क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली है और जिसने चाहे द्वार से ही देखा हो पर उस शाश्वत कृष्ण को देख लिया हो जो सब की एक आत्मा है, जो वह है जिसके लिए विश्व यज्ञ किया गया था, जो सर्वलोको का महेश्वर है, जो सब प्राणियो का प्रेमी (सुहृद सर्वभूताना) है, उस शिष्य के लिए सब दरवाजे खुल जाते है, उसकी प्रगति सुनिश्चित होती है और वह जल्दी ही शाति प्राप्त कर लेता है—ऐसी शाति जो सत्यबोध से ही मिल सकती है।

अध्याय-6

ध्यान योग

कुछ मनीषि पथ को विशुद्धि मार्ग, प्रजा मार्ग व ऐक्य मार्ग नामक तीन अवस्थाओं मे विभाजित करते है। कुछ हद तक गीता के पहले छ: अध्याय विशुद्धि मार्ग के समरूप हैं। छठा अध्याय प्रज्ञा मार्ग मे अवस्थान्तर होने का द्योतक है। जैसा पिछले अध्याय मे कहा गया इसमे मानसिक साधना की एक विधि दी गई है जो चेतना को अटूट रूप मे, साधारण जाग्रतावस्था से उठाकर उन ऊँचे स्तरों तक पहुंचा सकती है जो अब तक जैसे पर्दे के पीछे से काम कर रहे थे। उनकी झलक कभी-कभी प्रेरणा के स्फुरणो मे दीख तो जाती थी परन्तु वह सदा उस पार, इच्छाशक्ति से वाहर किसी अज्ञात नियम के अनुसार स्वच्छंद रूप से क्रियाशील रहते थे।

इस विधि को "ध्यान योग" कहते हैं और यह लगभग पंतजलि के योग सूत्रो मे प्रणालीवद्ध की गई विधि के समरूप है परन्तु आरम्भ मे ही यह साफ-साफ जान लेना चाहिए कि यह अभ्यास किस व्यक्ति पर असर करेगा और किस पर नही। यह बड़े मर्म की बात है, क्योकि, वहुतेरे लोग ध्यानाभ्यास को सर्वश्रेष्ठ योग समझते है और प्रारम्भिक अति महवत्त्पूर्ण अवस्थाओं को पार किए बिना ही इसका अभ्यास करने को आतुर रहते है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पिछले अध्याय के अत मे दिए गए गुणो से विहीन व्यक्ति ध्यानाभ्यास से केवल भूत-पिशाचादि के प्रभाव और मानसिक विकृतियो को ही आमन्त्रित करेगा।[1]

सच्चा योगी या संन्यासी वह नही होता जो सामाजिक कर्त्तव्यो की प्रतीक

1. समयपूर्व ध्यानाभ्यास के प्रति यह चेतावनी केवल उन लोगो के लिए है जो आत्मा की सीढ़ी पर ध्यान की प्रणाली से ज़वरदस्ती चढने का प्रयास करते है। परमेश्वर के प्रतीक या गुरु के स्वरूप का ध्यान करना, आत्मा व ससार विपयक नित्य सत्यो पर मनन और अपने स्वभाव का शात विश्लेपण ऐसे अभ्यास हैं जो पथ की प्रत्येक अवस्था मे लाभकर व उपयोगी होते हैं।

"अग्नि" व "क्रियाओं" को छोडकर ध्यानमग्न होने के लिए हिमालय की गुफा की ओर दौड जाता है, वल्कि वह जो अपने निर्दिष्ट कर्त्तव्यो को कर्मफल की इच्छा के विना करता है।

श्लोक 1

त्याग कर्म का नही वल्कि उस "संकल्प" या उस रचनात्मक इच्छाशक्ति का करना होता है जो वस अपने ही लक्ष्यों को पूरा करना चाहती है। इस प्रकार का मनोभाव कितने ही ऐसे प्रयत्नशील योगियो मे देखा जा सकता है जो योग द्वारा आत्मन को पाने के वजाय वह मनोवल प्राप्त करना चाहते है जो परिस्थिति को उनकी व्यक्तिगत इच्छाओं के अनुरूप वदल सके।

श्लोक 2

सच तो यह है कि कर्म, निस्वार्थ कर्म, ही योग का द्वार है। फूल कली को वलात खोलने से नही खिलता, और जव शिष्य "योगारूढ" हो जाता है तव जाकर ही ध्यान की सौम्यता आगे वढने मे सहायक हो सकती है।

श्लोक 3

अपने को ऐसा पहुँचा हुआ मान वैठना एक आम गलती है लेकिन यह मजिल दर असल है वहुत ऊँची। योगारूढ उसी को कहा जा सकता है जिसकी आसक्ति अव इद्रिय विपयो मे और स्वार्थपरक क्रिया कलापों मे न रह गई हो और जिसने भावी को अपने संकल्प द्वारा मनचाहे ढाँचे मे ढालने की इच्छा को पूरी तरह छोड़ दिया हो।

श्लोक 4

अभी तक जो खाई वैयक्तिक अहं को जीवात्मा या उच्चतर स्वरूप से अलग किए है उसके पार क्षुद्र अहं मे केन्द्रित चैतन्य को ध्यानाभ्यास द्वारा स्फुरित कर सकने से पहले यह आवश्यक है कि दोनो स्वरूपो मे सामंजस्य स्थापित हो जाय। यदि ऐसा सामंजस्य हो, निचला अहं अपनी वैयक्तिक इच्छाशक्ति का दावा न करता हो, अपने अवेगो पर नियन्त्रण किए हो और अपने आपको उच्चतर स्वरूप के काम के लिए निमित्त मात्र वनाने मे समर्थ हो तो आत्मन् उसका मित्र होकर उसे प्रेरणा व मार्ग निर्देशन प्रदान करता है। यह है वह आतरिक गुरू जिसका पहले उल्लेख हो चुका है। परन्तु यदि क्षुद्र अहं को जडता के अवसाद मे डूवने दिया जाय और वह अपने क्षुद्र लक्ष्यो की सिद्धि मे ही लगा रहे तथा गर्वपूर्वक अपनी विशिष्टता के दावे पर अडा रहे तो अवश्य उसे आत्मन् शत्रुवत् लगेगा। प्रेरणादायक न होकर अव आत्मन् उन दुर्भाग्यो, अरिष्टो अथवा 'तकदीर की मार' के रहस्यमय मूल के रूप मे प्रकट होता है जो

श्लोक 5,6

उस विधान की याद दिलाता है कि वास्तव मे सब जीवन एक ही है ।[1]

यह जानने के लिए कि वह इस अवस्था पर पहुंच गया है कि नही गीता मे कुछ लक्षण दिए गए है और आगे बढ़ने की चेष्टा करने से पहले उसे अपने मन मे निष्पक्षतापूर्वक जाच करके यह देखना चाहिए कि वे उसमे है या नही । यदि निचला अहं सचमुच नियंत्रित व सामजस्य पूर्ण है तो उच्चतर अहं सदा मन के सव क्रियाकलापो की शान्त भूमिका के रूप मे प्रतीत होगा, जो 'विरोधी शक्तियों का द्वंद' अन्य लोगो के मन को उद्वेलित किए रहता है वह इस आंतरिक सौम्यता को विक्षुब्ध करने की शक्ति नही रखता । योगी कहलाने का दम भरने वालों के दो अचूक परीक्षक—मान का परितोषण व अपमान का मृत्यु तुल्य दंश—उस व्यक्ति पर कुछ भी असर नही कर सकते जिसका एक मात्र मान अपने गुरु की स्वीकृति और एक मात्र अपमान उच्चतर अहं को निचले अह के आधिपत्य में रहने देने का कलंक है। जो अपने अंदर पवित्र ज्ञान की प्राणमय सरिता को महसूस कर सकता है उसके लिए धन कुछ भी नही है, और जो भेद-प्रभेद औरो के लिए इतने महत्त्वपूर्ण है वे उसे विलकुल वाहियात लगते है जिसने सव में उस 'अद्वय प्राण" की झलक देख ली हो ।

श्लोक 7, 8, 9

अव जाकर ध्यान योग के अभ्यास का समय आता है । अतएव गीता मे इस विधि पर कुछ शिक्षाएं दी गई हैं । वुनियादी तौर पर विधि यह है कि चित्त वृत्तियों पर इतना कावू हो जाय कि उन्हें इच्छानुसार शांत किया जा सके ताकि चैतन्य मे सत्य की अनुभूति ऐसे हो सके जैसे प्रशान्त सरोवर मे शाश्वत तारिकाएँ प्रतिविवित होती है ।

मूल पाठ मे सूक्ष्म निर्देश दिए गए है क्योकि पूरी प्रक्रिया लिखी नही जा सकती। यह प्रक्रिया प्रत्येक शिष्य के लिए भिन्न होती है और गुरु से सीखनी पडती है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस अवस्था पर गुरु सदैव उपलब्ध होता है। यह सच है कि ऐसी पुस्तके भी है जो ऐसे अभ्यास के बारे मे खुलासा आदेश देती प्रतीत होती है परतु उनके इन आदेशो की "पूर्णता" भ्रांतिजनक होती है। चित्रकारी पर कोई ग्रथ पढकर कलाकार वन जाना ध्यान-विधि की पुस्तकें पढकर योगी वन जाने से सरल है और इसके कोई फरक नही पड़ता कि

1. शायद यह इस सत्य की ही (चाहे किसी अन्य दृष्टिकोण से ही सही) कुछ अनुभूति थी जिसके कारण युग ने कहा, "केवल असमंजस्य मे ही हमे साहकी" का पता चलता है; हमे ऐसा कुछ मिलता है जो हमारी इच्छा शक्ति की अवहेलना करता है और जो विचित्र होने के साथ ही हमारे प्रति शत्रुवत् भी हो सकता है ।"

ऐसी पुस्तकें कल लिखी गई थी या पांच हजार साल पहले।

यहा जो थोडी-बहुत टिप्पणियां दी गई है वे पाठक को मूलपाठ पढने में सहायता देने के लिए है और इनमे अभ्यास के लिए यथेष्ट निर्देशन बिलकुल नही है।

पहली आवश्यकता ऐसे शात स्थान की है जहा मित्रों व मिलने वालों के आने से ध्यानाभ्यास मे विघ्न न पडे। ऐसे आने वालों की उपस्थिति से शिष्य के मन के यों उद्वेलित होने की आशंका है कि अमुक मेरे बारे मे क्या सोच रहा होगा। इस कथन का तात्पर्य कि देश "शुच" होना चाहिए भी यही है कि स्थान ऐसे अवगुणो से रहित हो जिनसे शिष्य के मन मे क्षोभ उत्पन्न हो और वह इधर-उधर भटके। कतिपय प्राकृतिक स्थल जैसे नदी तट, पर्वत शिखर या खुला आकाश विशेप तौर पर अच्छे होते है क्योकि ये मन को शांत करते है और साथ ही इनका प्रतीकात्मक महत्त्व भी है जिसका बड़ा सबल प्रभाव होता है—चाहे उसकी ओर सचेत रूप से ध्यान न भी दिया जाय।

श्लोक 10,11

आसन के बारे मे निर्देश एकदम व्यावहारिक है। आसन न तो इतना ऊंचा होना चाहिए कि तन्मयावस्था (या अधिकतर निद्रा!) आने पर गिरने का भय हो और न इतना नीचा कि बिच्छू इत्यादि विपैले कीडो का डर हो। अन्य विशेप निर्देश ये है कि आसन आराम से बैठ सकने लायक मुलायम हो और योगी को सीलन से बचाए रख सके। इसीलिए बरसाती कपडो से पहले के युग मे मृगचर्म का उपयोग होता रहा। इन छोटी-मोटी बातो से अधिक महत्त्व का निर्देश यह है कि शिष्य अपने मन को शांत तथा आशा व लोभ से मुक्त रक्खे अर्थात उस मनोवृत्ति का त्याग करे जो चीजों को अपने लिए हासिल करने के चक्कर मे रहती है और निचले मन की विशेपता है।[1]

अगला विषय अग विन्यास है और इसे भी आसन ही कहते हैं। इस योग मे जिन आसनो का जिक्र है उनका शरीर मे स्थित किन्ही स्नायविक या तान्त्रिक चक्रो पर दबाव डालने से कुछ मतलब नही है। जैसा कि पंतजलि ने कहा है, आसन सुखद और स्थिर होना चाहिए। सुखद का अर्थ यह नही कि आसन

श्लोक 13

1. ध्यान (पाली-झान) प्रारम्भ करने से पहले पाच "बाधाओं" (काम छद, यानिमद, व्यापाद यानि मात्सर्य; स्त्यान-मृत्य यानि मन्दता, औधत्य-कुकृत्य, यानि चिन्ता, और विचिकित्सा यानि व्याकुलता) को मन से हटाने की बौद्ध विधि से तुलना कीजिए। श्लोक 16 व 17 मे बौद्ध 'सम्यक मार्ग' पर दिए गए जोर पर भी गौर कीजिए। इस सादृश्य को दिखाने का मन्तव्य तह दिखाना नही है कि वस्तु विपय एक जगह से दूसरी जगह उधार ले ली गई है बल्कि यह कि सच्चा योग जहा कही भी मिलता है एक ही होता है।

आराम कुर्सी पर लेटने जैसा हो क्योंकि उससे तो ध्यान लगने के वजाय नीद आने की अधिक संभावना है। आसन ऐसा होना चाहिए जिसे काफी देर तक, विना अंगो के सोए या थकावट महसूस किए, कायम रक्खा जा सके और साथ ही जो मानसिक जागरूकता बनाए रखने मे भी सहायक हो। इसीलिए मेरुदंड को सीधा रखने का परपरागत निर्देश है।

नेत्रो की दृष्टि की दिशा के वारे मे भी लोगों मे काफी भ्रम है। इधर-उधर घूमती नज़र का अर्थ है इधर-उधर घूमता मन और इसीलिए दृष्टि को एक दिशा मे लगाए रहना चाहिए। व्यवहार में देखा गया है कि ऐसा करने का सवसे अच्छा उपाय यह है कि नज़र को नाक की रेखा की दिशा में रखकर पलकों को आधा वंद किया जाय। इसको भृकुटियों के बीच मे दृष्टि को स्थित करना नहीं समझ लेना चाहिए जिसका वहुधा उल्लेख होता है और जिसका असली मतलव यह है कि चेतना के केंद्र कोवुद्धि मे ले जाया जाय (पिछले अध्याय के पृष्ठ 47 पर फुटनोट देखिए) "जव कोई अपना चिंतन दो नेत्रो के बीच केंद्रित कर लेता है तव प्रकाश अपने आप प्रवाहित होने लगता है।"[1]

यद्यपि यहां पर इसका उल्लेख नही है (पिछले अध्याय मे है), सास भी नियमित व निर्विघ्न होनी चाहिए क्योंकि विचारो के प्रवाह व सांस की लय मे अति महत्त्वपूर्ण संबंध है। जिस चीनी पुस्तक का अभी जिक्र हुआ है उसके अनुसार "सांस हृदय से आती है, अतः लय रहित सास हृदय की विक्षुब्धता से निकलती है। इसीलिए सांस धीरे-धीरे लेनी चाहिए ताकि वह कान से सुनी न जा सके।" वस इतना ही। लवी-चौड़ी प्राणायाम विधियों का इस योग मे कुछ काम नही है।

ये सव तो तैयारियां हैं जिन्हे कोई भी समझ सकता है परंतु योग का सार इससे अधिक कठिन है और ऐसा है कि उसे शव्दो मे नही सिखाया जा सकता।

1. विल्हेल्म (Wilhelm) द्वारा अनुवादित चीनी ताओ पुस्तक "दि सीक्रेट आफ दि गोल्डन फ़्लावर"। इसी पुस्तक के निम्नलिखित उद्धरण से तुलना कीजिए : "इसलिए जीवन-संवर्धन के क्षेत्र मे प्रवेश करने के तरीके को गुरु विशेषरूप से स्पष्ट करता है और लोगो से दोनो आंखो द्वारा नासिका के अग्रभाग को देखने, पलको को झुकाने, दृष्टि अतर्निहित करने, चुपचाप सीधा वैठने और हृदय को दशाओ के मध्य वाले चक्र ("दृष्टि-कोण" या केन्द्रीय सन्दर्भ विन्दु, उच्च अहभाव) पर केन्द्रित करने को कहता है। विचारो को नेत्रो के मध्य स्थान पर रखने से ज्योति का नि सरण हो पाता है। तत्पश्चात आत्मा (वुद्धि) घनीभूत होकर दशाओ के मध्य वाले चक्र मे प्रवेश करती है। दशाओ के मध्य का चक्र निचला अमृत क्षेत्र (निचला अमर यानि उच्चतर अहंभाव) है जो शक्ति का स्थान है (अर्थात् इच्छाशक्ति का आसन) है।" कोष्ठको के अंदर के शव्द जोड़े गए हैं।

यह "मन की वृत्तियो का उपसंहार करना, "हृदय को दशाओं के मध्य मे स्थित करना, चित्त को एकाग्र करना और उसे आत्मन अर्थात् दो नेत्रो के बीच अपने आप प्रवाहित होने वाले प्रकाश की ओर मोडना" है। यही आवश्यक बात है और यही कामभाव के प्रति उस विरक्ति को उत्पन्न करती है व बुद्धि योग स्थापित करती है जिनसे ज्ञान प्राप्त होता है। कुछ आलोचको के अनुसार यह दशा मानसिक शून्यता की होती है परंतु ऐसा है नही, और न ही यह दशा किसी गुप्त तान्त्रिक उपकरण द्वारा उत्पन्न हो सकती है। चैतन्य का केन्द्र अपना ध्यान वाह्य, ऐन्द्रिक व वैचारिक, दृश्य जगत से खीच मध्य विंदु से होकर—जो वह स्वयं ही है—बुद्धि के आध्यात्मिक जगत मे निकल आता है। और असलियत तो यह है कि यह जगत वही पुराना जगत है जो कि अब एक नई दृष्टि से देखा जाता है। यह वही जगत इसलिए है क्योकि वास्तव मे तो सब जगत मिथ्या है। जो कुछ भी सच्चे अस्तित्व वाला है वह उस "एक" मे है और हम जो कुछ भी जगद स्वरूप देखते हैं वह हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर है, हम जिसे देखते हैं वह "एक" है। जैसा कि मैत्रि उपनिषद मे कहा है : "चिंतन ही संसार है और इसीलिए इसकी शुद्धि ध्यानपूर्वक की जानी चाहिए। जैसा किसी का चितन हो वैसा ही वह वन जाता है। यही एक सनातन रहस्य है।"[1]

आजकल प्रचलित पदो का प्रयोग करते हुए एक थोथी स्पष्टता लाने का प्रयत्न करना वेकार है। जो इसके लिए तैयार हो उसकी समझ मे यह प्रक्रिया आ जाएगी। "यहां, इसी ससार मे यह ब्रह्म तक पहुंचने का मार्ग है। यहाँ, इसी संसार में, यह द्वार का खुलना है। इससे मनुष्य अंधकार के उस पार जाएगा। जव पाँचो इंद्रियज्ञान (निचले) मनस् के साथ रुक जाते हैं और बुद्धि (यहा उच्च मनस्) भी निश्चल हो जाती है तो कहते है कि वही सर्वोत्तम पथ है।"[2]

यहा ब्रह्मचर्य और आकांक्षा की नितांत शुद्धता परम आवश्यक है। ब्रह्मचर्य को निरे यतीजनोचित यौन निग्रह से नही गडबड़ाना चाहिए। इसका मतलब यौन आवेग के निरोधन मात्र से नही, अपितु उप पर नियत्रण से है, जो अलग-अलग परिस्थितियों मे अलग-अलग तरह से किया जाता है। चाहे उसका निपुसीकरण शारीरिक हो या मानसिक, निपुंसक के यौन भाव हीन आचरण मे कोई खूवी

श्लोक 14

1 मैत्रि उपनिषद, 6, 34

2. मैत्रि, 6, 30 हर्मिस के शब्दो से भी तुलना कीजिए : "जब भी मैं अपने अदर उस सरल (अर्थात् अनेकात्मक नही केवल एकात्मक) दर्शन को आते देखता हू···तब मैं अपने आप को भेद कर एक ऐसे शरीर मे चला जाता हू जो अमर है और अब जो मैं पहले था वह नही रहता बल्कि 'मनस' मे जन्म लेता हूँ। ऐसा करने की विधि सिखलाई नही जाती" ("सीक्रेट सरमन आन दि माउटेन" से। कोष्ठको के अदर का भाग जोड़ा गया है)।

नही होती और हिंदू परंपरा इस बात की पुष्टि करने मे बिलकुल सही है कि अपने यौन जीवन पर नियंत्रण रखने वाला गृहस्थ भी सचमुच उतना ही ब्रह्मचारी है जितना पूर्ण कौमार्यव्रत का पालन करने वाला यती। जो कुछ भी हो, यह याद रखना चाहिए कि काम वासना की मनोरथ सृष्टि का आंतरिक जगत भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है जितना प्रजनन का बाह्य जगत। यौन भाव के आंतरिक व बाह्य दोनो रूपो के नियंत्रण के बिना ध्यान योग से खिलवाड़ करना सरासर आग से खेलना है।

दूसरी ज़रूरी बात यह है आकाक्षा पूर्णरूपेण उस "एकमेव अद्वितीयम्" पर ही केंद्रित होनी चाहिए अन्यथा ध्यानाभ्यास से भ्रातिपूर्ण मायावी दृष्य दिखाई देंगे जिनसे शिष्य पथ भ्रष्ट होकर मानसिक इंद्रजाल में फँस जाएगा और शायद अपने आपको अवतार या कोई अन्य महापुरुष समझने लगेगा।[1]

श्लोक 14

ऐसी भ्रान्तियो से बचने का उपाय केवल आकांक्षा की शुद्धता और सद्गुरु का सान्निध्य ही है। यह कभी नही भूलना चाहिए कि कोई भी दृष्या अतीन्द्रिय (Psychic) अनुभव किसी भी बात का तिलमात्र भी प्रमाण नही हो सकता। सच्चा ज्ञान तो केवल आत्मन् का होता है और किसी भी द्वैतभाव वाले ज्ञान पर भरोसा नही किया जा सकता चाहे वह बाह्य इंद्रियों के माध्यम से हो या भीतरी। उदाहरण के लिए ईसा के सूली पर चढ़ाए जाने या कृष्ण के जन्म का मानसिक दर्शन कर लेने को इन घटनाओ की ऐतिहासिकता का प्रमाण समझ लेना घोर मूर्खता है। यदि ये ऐसे प्रमाण हो भी तो इससे कोई महत्त्व की बात साबित नही होती क्योकि ऐसे मानसिक दर्शन उक्त घटनाओं के आंतरिक महत्त्व को समझने में वैसे ही असमर्थ होते है जैसे कि उन घटनाओं के भौतिक दर्शन उस समय के देखने वालों को समझा सकने मे थे। असल मे प्रत्येक परिस्थिति मे आत्मन् का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान हैं। इसीलिए कहा गया है कि सुरक्षित वही है "जो मुझ आत्मन् को सब मे और सब भूतप्राणियो को मुझ मे देखता है (यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति)।"

इसीलिए आत्मन् पर इतना जोर दिया गया है। योगी को अपना ध्यान आत्मन् पर केंद्रित कर, आत्मन् द्वारा आत्मन् पर दृष्टि गड़ा कर आत्मन् से योग स्थापित करना चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नही है कि कोई भी सच्चा योग, बिना सहायता, केवल

श्लोक 30

1. ऐसे भ्रम भारत व अन्य देशो मे प्राय. देखने मे आते हैं और सदैव जानबूझ कर किए गए पाखण्ड ही नही होते। अक्सर ऐसे भ्रम का सबसे पहला शिकार स्वयं अवतार ही होता है।

वैयक्तिक इच्छाशक्ति द्वारा संभव नही है। विचारो को स्तब्ध कर केवल अचेतावस्था पर तो पहुँचा जा सकता है परंतु अहता को आत्मन् को अर्पित किए बिना वास्तविक योग नही हो सकता। यह सच है कि ध्यानावस्थित होने का प्रारंभिक प्रयास निचले स्तर से ही किया जाता है परतु केवल इच्छाशक्ति द्वारा मन को पूरी तरह शात करना किसी कोण स्तूप को उसके शिखर के वल खडा करने के समान है और एक ऐसी सतुलन क्रिया मात्र है जो यदि संभव हो भी तो भी इतनी अस्थिर होती है कि उससे कुछ उपयोगी नतीजा नही निकल सकता।

सच्चा ध्यान तो तब लगता है जब शिष्य अपने आप को उस आत्मन् को समर्पित कर देता है और उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है जो प्रत्येक विचार व इद्रिय ज्ञान के अटल साक्षी के रूप मे विद्यमान है। जब ऐसा हो जाता है तब जाकर ही योगी का मन "वायुरहित स्थान मे दीपक" के समान अविचल होता है।[1]

श्लोक 19

जिस किसी ने भी गम्भीरता से ध्यान लगाने का प्रयास निचले स्तर से ही किया हो वह जानता है कि ऐसी अवस्था प्राप्त करना अति कठिन व विलक्षण मानसिक कलाबाजी के समान लगता है। सच्ची प्रक्रिया कठिन तो है परन्तु निचले प्रयास की अपेक्षा बहुत सरल है जिसमे मिली असफलता इतने लोगो के अवसाद का कारण होती है।

उच्चस्तरीय स्वरूप की कुछ अनुभूति के बिना ध्यान मे सफलता प्राप्त कर पाने की इस असम्भवता के कारण ही इसके अभ्यास के बारे मे अब छठे अध्याय मे पहुंच कर शिक्षण दिया गया गया है। अब तक कर्म को कारण कहा गया है "कर्म कारण मुच्यते" यानि चैतन्य के उच्चतर स्तर या योग देने वाली बुद्धि की प्रारम्भिक अनुभूति देने का उपाय कर्म को ही बताया गया है।[2]

श्लोक 3

"बुद्धि से दृढतापूर्वक लगे रह कर वह शनै: शनैः उपरति प्राप्त करे" और इस प्रकार पक्की तरह उस आत्मन् मे स्थित होकर, जिस तक पहुंचने के लिए बुद्धि सेतु के समान है, शिष्य के लिए यह सम्भव होगा कि सब विचारो के रुक जाने के बावजूद वह ऐसी स्थिर, प्रशांत आनदपूर्ण चेतना की स्थिति मे बना रहे "जिसको प्राप्त कर

श्लोक 25

1. स्पष्टत गीता से बहुत पुरानी इस उपमा का अर्थ समझने मे बहुत से लोग चूक जाते हैं। जहा हवा चल रही हो वहा दीपक की लौ को अविचल करने की चेष्टा करना व्यर्थ है। अविचल होने से पहले मन को उस देश मे जाना होगा जहा वासना की आँधियाँ नही चलती।

2 (अध्याय 2 देखिये)।

उसे इससे बड़ा और कोई लाभ सम्भव नहीं लगेगा" और जिसे संसार के सव के सव दुख व कष्टो के आघात भी विचलित नही कर सकते।

"दुख के साथ जोडने वाली कडी के इस टूटने को ही योग समझना चाहिए।" अति गहन हैं ये शब्द जिनकी गहनता बुद्ध के इस कथन को याद करके और बढ़ जाती है कि अनुभव मात्र दुख है क्योकि वह सीमित और अनित्य है। सव सीमित अनुभवो से यह सम्वंध विच्छेद ही सफल योग का रहस्य है या यो कहिए कि यह उसका आधा रहस्य है और शेष आधा है "आत्मसंस्था" यानि आत्मन् मे स्थित रहना। ये दोनो नकारात्मक व सकारात्मक प्रक्रियाएं वैसे ही साथ चलती है जैसे सीढी चढते हुए कोई मनुष्य एक डण्डे की पकड ढीली करते हुए साथ ही साथ अगले डण्डे को पकड़ लेता है।

श्लोक-22,25

यही दो प्रक्रियाए श्लोक 35 में वर्णित "वैराग्य व अभ्यास" है। इनके विना चंचल व अस्थिर मन का निग्रह व सीढी पर ऊपर चढना सम्भव नही है। असख्य युगों से मन वहिर्मुखी रहा है और उसे वासना विषयों से आसक्त होने की खुली छूट मिली रही है। इसलिए यह आशा नही करनी चाहिए कि इन सव विषयो से एक झटके मे ही उसे मुक्त किया जा सकता है। जो बांस अधिक समय तक भार से दवा रहा हो वह भार हटाने भर से ही सीधा नही हो जाता, उसमे आए हुए मोड को दूर करने के लिए अथक परिश्रम करना पड़ता है। मन के साथ भी ऐसा ही है; दीर्घ काल से वासना की शक्ति द्वारा मुड़े हुए मन को पहले इन वासनाओं से मुक्त करना होगा और फिर सतत अभ्यास द्वारा उससे जोडना होगा जो स्वयं उससे ऊंचा है।

यह अभ्यास एक , या कई, घण्टे प्रति दिन ध्यान मे बैठने की वात नही है। दिन भर (और एक मानी मे तो सोते समय भी) जितना हो सके उतना, ध्यान कीअवधि मे प्राप्त वैराग्य और अंतर्दृष्टि को अपनी चेतना मे वनाए रखने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। शिष्य को चाहिए कि शान्ति के इन क्षणो मे जो कुछ भी समझ हासिल हुई हो उसे पूरे दिन मजबूती से पकडे रहे क्योकि अनियन्त्रित चितन का थोड़ा सा भी समय अवसाद, का एक घंटा या केवल पॉच मिनट भर का क्रोध सव किए कराए पर पानी फेर देता है और पेनैलपी के जाल की भाँति सुवह का वनाया अगले दिन नष्ट हो जाता है।

यह एक लम्वा व कठिन सघर्ष है जो शिष्य को अक्सर निराशापूर्ण लगेगा। प्रगति धीरे-धीरे होती है और उपलब्धि वहुत दूर नजर आती है। हो सकता है कि मंजिल पर पहुंचने से पहले मृत्यु की रात आ जाए परंतु उसे धैर्य नही खोना चाहिए क्योकि यह तो ऐस पथ है जिस पर कई जन्मो तक चलना होता है और शिष्य निश्चित

श्लोक-37,43
45

होकर इस सार्वभौमिक नियम पर अवलंबित रहे कि छोटे से छोटा प्रयत्न भी कभी व्यर्त नही जाता है और जैसे कोई मनुष्य आज के अधूरे काम को कल पूरा करता है वैसे ही अपने अगले जन्म मे वह वहाँ से शुरू कर सकेगा जहाँ इस जन्म मे छोडा है।

यदि सतत प्रयास वना रहता है तो अन्तत. सफलता सुनिश्चित है और अत: मे जैसे जाडो के तुपारपात द्वारा जकडा हुआ वृक्ष एकाएक वसत मे हराभरा हो जाता है वैसे ही कई जन्मो की कठोर तपस्या भी सफल होती है और शिष्य ज्योति मे प्रस्फुटित होकर ब्रह्म सस्पर्श प्राप्त करता है। सनातन सत्य से इस संपर्क के पश्चात् अव वह सनातन केवल धुँधली-सी पृष्ठिभूमि या आंतरिक द्वार से कभी-कभी दिखने वाली झलक नही वल्कि एक वास्तविक सस्पर्श के रूप मे प्रतीत होता है, ऐसा स्पर्श जो जीव को आनदविभोर कर देता है।

श्लोक 44,28

अपने वैयक्तिक हानि-लाभ व आशा-आशंका वाले पृथक सीमित अहं का भाव अव समाप्त हो गया है और उसकी जगह इस अनुभव ने ले ली है कि एक अद्वय आत्मन् सव जीवधारियो मे स्थित है और सव जीवधारी उस व्यापक आनंद सागर की भँवरों के समान है।

श्लोक 29

इस अवस्था को पथ का तीसरा मुख्य मार्ग चिह्न समझना चाहिए। पहला था पथ मे प्रवेश; दूसरा हृदय मे दैवी जन्म की चेतना; और अव कहा जा सकता है कि अद्वय आत्मन् मे समस्त जीवन के ऐक्य की प्रचुर अनुभूति के रूप मे यह तीसरा चिन्ह भी आ गया है जिसे कुछ परंपराओ मे अलौकिक परिणय (Mystic Marriage) भी कहा जाता है। यह वौद्धो की पाँचवी (किसी परंपरा मे छठी) अवस्था अथवा "ध्यान पारमिता" है जिसके पश्चात् तेजपूर्ण प्रज्ञा पथ शिष्य के पैरो के पास खुला पडा होता है। जो यहाँ तक पहुंच सका है वह तीन वार महान है। क्षुद्र अहं को सच्चे स्वरूप से अलग करने वाला पुल अव पार किया जा चुका है और दैवी ज्योति की अद्भुत किरणो से व्यक्तित्व के प्रकाशित होने मे अव कोई वाधा नही रह गई है।

अव योगी कही भी हो और कुछ भी करता हो, वह वरावर अमर दैवी एकत्व मे स्थित रहता है। नित्य कृष्ण के स्पर्श से उसके हृदय मे प्रेम की ज्योति जग उठी है, उस प्रेम की ज्योति जो महान मुक्तिदाता है और सव वाधाओ को नष्ट कर देता है। स्वयं अपने से मुक्त होकर उसकी उत्ताल तरंगो पर वहते हुए अव वह अपने को या औरो को ही नही वल्कि हर कही और हर चीज मे कृष्ण का नील वर्ण स्वरूप ही देखता है। शत्रु की क्रुद्ध भृकुटियो के

श्लोक 31

नीचे और मित्र की मुस्कुराती नजरों मे उसे केवल दैवी प्रियतम के दिव्य नेत्र ही दिखाई देते है और वह सबके हृदय मे बसने वाले इस अविनाशी की पूजा हेतु अपना सर्वस्व उंडेल देता है।

पूजा एक ऐसा शब्द है जिसको सुनकर हमारे मनों मे गिरजों व मदिरो की स्तुति व अर्चना तथा स्वर्ग के सुख भोगकी तसवीरे आने लगती है। परंतु शिष्य अब जिस पूजा को करता है वह निताात भिन्न है। इसमे तो आत्मसमर्पण से कम और कुछ हो ही नही सकता। यह प्रेम की प्रभुतावान शक्ति द्वारा कराई गई आत्मविस्मृति की सेवा रूप पूजा है।

जिसका परमेश्वर प्रत्येक नाम रूप मे विराजमान है उसे मंदिर की क्या आवश्यकता, और दैवी सौदर्य को संसार की निराशामय वीभत्सता द्वारा विकृत होते देख व दैवी आनंद को मनुष्यों के अगणित दुखों से ढका पाकर वह अपनी सेवा किए बिना कैसे रह जाएगा ?

अपने को अनुशासित कर लेने वाला तपस्वी महान होता है; सत्य के प्रशांत ज्ञान मे स्थित ज्ञानी महान होता है ; कर्मरत मनुष्य भी महान होता है क्योकि वह चाहे अचेत रूप से ही सही निरंतर सक्रिय सार्वभौम शक्तियो का निमित्त होता है। परंतु इन सबसे श्रेष्ठ होता है योगी क्योकि उसमे इन तीनों का सलेपण है। अपने हृदय मे दैवी प्रियतम से आलिगनबद्ध हो वह उसे सबमे स्थित अद्वय *आत्मन्* के रूप मे देखता है और अपने अनुशासित व्यक्तित्व को आत्मसमर्पण की बलिवेदी पर रखकर वह निरंतर सृष्टि के कल्याण मे रत "ज्ञान प्रेम" की अथक सेवा में लगा रहता है। "स मे युक्ततमो मत—मेरे मत में वह सर्व श्रेष्ठ योगी है"।

श्लोक-46

अध्याय 7

ज्ञान-विज्ञान योग

इस अध्याय के साथ बौद्ध जनो का प्रज्ञा मार्ग आरभ होता है और शिष्य के आंतरिक नेत्र के सामने उस दिव्य ज्ञान का उदय होने लगता है "जिसको जान लेने पर यहाँ और कुछ जानने की आवश्यकता नही रहती।" परन्तु यह मान लेना भूल होगी कि आने वाले श्लोको मे इस ज्ञान का विवरण है या दिया जा सकता है। किसी दो आयातमक चित्र का जैसा संवंध उसकी तीन आयाम वाली असलियत के साथ, या नक्शे का असली जमीन के साथ, होता है केवल वैसा ही संवंध इस या किसी और विवरण का उस अद्भुत ज्ञान के साथ है और कोई अपने आपको इस भ्रम मे न डाले कि इस व्याख्या के कथनो को समझना और प्रवुद्ध हो जाना एक ही वात है।

श्लोक 2

प्रारभ से ही इस वात को ध्यान मे रखना चाहिए कि यह ज्ञान अति दुलर्भ है। ज्यादातर लोगो को तो इस ज्ञान के अस्तित्व तक के वारे मे कुछ पता नही होता और यद्यपि कठोर प्रयत्नो के फलस्वरूप थोडे-वहुतों के पैर इस ज्ञान की ओर ले जाने वाले पथ पर पहुँच भी जाते है तथापि किसी एक समय इसके पूर्ण स्वरूप को एक या दो ही प्राप्त कर पाते है। यह सव कुछ शिष्य को हतोत्साह करने के लिए नही वल्कि इसलिए कहा जा रहा है कि अब जवकि वह प्रज्ञा मार्ग पर आ पहुंचा है वह अपने को नम्र वनाए रख सके। कही थोडा-सा प्रकाश देख लेने पर ही वह अपने को कोई देवता न समझ वैठे और तलहटी की छोटी-सी पहाडी की चोटी पर चढ कर यह न समझने लगे कि वह शाश्वत हिमशिखर पर पहुँच गया है।

श्लोक 3

यह अद्भुत ज्ञान, जिसका अव विवरण दिया जाने वाला है, आखिर है क्या ? यह कृष्ण का ज्ञान है— अमर आत्मा का, उस निर्मल सनातन सत्ता का जो समस्त परिवर्तनो की पृष्ठभूमि है। आगे जो कुछ दिया गया है उसे पढते समय

इस वात को ध्यान मे रखे रहना चाहिए क्योकि कृष्ण की पूजा करने वाले तो वहुतेरे है परंतु पथ पर पहुँचने वालों मे से भी थोड़े ही ऐसे है जो उनके वास्तविक स्वरूप को जानते है। वास्तव मे कृष्ण क्या या कौन है यही इस व अगले चार अध्यायों मे वताने का प्रयास किया गया है। यहाँ शिष्य को शब्दो से सतर्क रहना चाहिए क्योकि जैसा उपनिषद मे कहा गया है—"यस्यामत तस्य मंत मंत यस्य न वेद सः—जो इसे जानता है वह इसे नही जानता परंतु जो इसे नही जानता वह जानता है।"[1] जिस ज्ञान का शब्दो में वर्णन हो सकता है वह सच्चा ज्ञान नही है। यदि केवल दिमाग से ही इसके अर्थ लगाए जाने है तो यह विवरण व्यर्थ है और इसके शब्द ऐसे झिलमिलाते पर्दो के समान है जिनसे होकर शिष्य को 'उस' तक पहुँचना होगा "जिससे सव शब्द, मन के समेत, वापस आ जाते है क्योकि वे उसे प्राप्त नही कर पाते।"

परम ऐक्य को समझ सकने से पहले शिष्य को प्रव्यक्त विश्व की दोहरी प्रकृति को समझना पडता है। चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म, चाहे जीवित प्राणी हो या वह जिसे हम 'मृत' पदार्थ अथवा अधिभूत कहते है, समस्त प्रव्यक्त वस्तुओं के दो पहलू होते है और इन्हे समझना चाहिए। ये है सदा परिवर्तनशील नाम रूप व कभी न वदलने वाला चैतन्य जिस पर वे आधारित होते है। पचतत्त्वो[2] के हों या विचार क्षेत्र के, सूक्ष्मतर नाम रूप होते हैं वे सव अनित्य लीला ही जो कि उच्चतर या जीव-भूत प्रकृति पर आश्रित होते है। इस साक्षी चैतन्य से अलग किसी नाम रूप का अस्तित्व ही नही हो सकता।

श्लोक 4, 5

यह पूछा जा सकता है कि चलिए यह तो हुआ पर उस खलिस जड़ पदार्थ (brute matter) के वारे मे हमे क्या कहना है जिससे सारी दुनिया वनी है। आज जव भौतिक वैज्ञानिकों ने भी पदार्थ को "सम्भाव्यता की तरंगो" के रूप में स्वीकार कर लिया है हमारा यह उत्तर जन-साधारण को अधिक मान्य होगा कि ऐसा कोई जड़ पदार्थ होता ही नही। जड़ का विश्लेषण करते जाइए तो अत मे वह जैसे गायव ही हो जाता है या एक ऐसा कुछ होकर रह जाता है जो अज्ञेय तो है ही, अ-भौतिक भी है। जैसा कि प्लाटाइनस ने वाकई ठीक कहा था, अपने आप में अधिभूत एक अस्वीकरण मात्र है : वह तो 'चैतन्य' में नित्य-परिवर्तनशील नाम रूपो का अव्यक्त आधार है।

1 केनोपनिपद, 2, 3

2. "चैतन्य" के लिए परिशिष्ट 'क' देखिये, 'अधिभूत" के लिए परिशिष्ट 'ख' और पंचतत्त्वों के लिए परिशिष्ट 'ज'।

इस विषय पर आगे चलकर और भी कहा जाएगा। यहाँ इतना जान लेना काफी है कि चैतन्य और नामरूप[1] दोनो ही वह गर्भ है जिससे सब जीवधारी जन्म लेते है। परन्तु इस द्वैत के पार 'वह' है जिससे

श्लोक 6, 7

यहाँ कृष्ण अपना तादात्म्य स्थापित करते हैं। वह अद्भुत, अवोधनीय जो दर्शन शास्त्र की थोथी परम एकता नही वल्कि वह भरपूर अकथनीय असीमित आश्चर्य है जो चैतन्य व नामरूप दोनो का ही आधार है और जिस पर सब कुछ ऐसे पिरोया हुआ है जैसे तागे पर मणियाँ।

यह है कृष्ण का वह वास्तविक स्वरूप जिसके बारे मे वे स्वयं कहते है कि वहाँ तक वहुत कम व्यक्ति पहुँच पाते है। इस अदृश्य आश्चर्य के सामने—शून्यता जो परिपूर्ण है, पूर्णता जो शून्य है—शब्द निरर्थक परिचय पत्रो के समान वेकार सावित होते है और पूरे विश्व की थाह लेने वाला मन भी यहाँ चकरा कर डूब जाता है और मौन हो जाता है। जिन्होने इसे जाना है उनके होठ आदरपूर्ण भय से सिल जाते है। यह जानकर कि वे उसे जानते नही वे इस अगाध समुद्र मे अपने विचार की डोर से थाह लेना वन्द कर देते है। इस पावन रहस्य के आगे हमे नतमस्तक हो जाना चाहिए और अपने शब्दो को उस क्षेत्र के लिए ही रखे रहना चाहिए जो उसके लिए उपयुक्त है।

परन्तु जानना तो इस अगाध रहस्य को ही है, और इसलिए कोई ऐसा उपकरण, कोई ऐसा रास्ता, निकालना ही होगा जो 'उस' का ज्ञान करा सके जिस तक मन की पहुँच नही है। इसलिए कृष्ण कहते है कि यद्यपि प्रव्यक्त विश्व माया है फिर भी वह दैवी माया है और उसके स्पदनशील हृदय मे वे स्वयं ही स्थित है।

प्रत्येक वस्तु, मे पृथ्वी मे, अग्नि मे, जल मे, सूर्य मे, चन्द्र मे और समस्त प्रभावान वस्तुओ मे, वलवान, ज्ञानी तथा तपस्वी मनुष्यो मे व समस्त प्राणियो मे शिष्य को वह सार खोजने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे

श्लोक 8-12

उनका अस्तित्व वनता है। वाह्य नामरूप तो आकस्मिक घटना स्वरूप और मायावी होते है। उनसे विचलित हुए विना शिष्य को उस वास्तविक सार को दृढता से पकडे रहना चाहिए जिसकी वेडौल आकृतियाँ ही ये नाम रूप होते हैं। यह वास्तविक सार वे दैवी परिकल्पनाएँ हैं जो सदैव जीवित रहती है और ये ही हर चीज़ को अंदर से ढालती है, "अंधी मिट्टी को रूप देती है।"[2]

1. महत्-आत्मन् के स्तर पर सयुक्त
2. लाइट ऑफ एशिया

शारीरिक आँख तो केवल परिवर्तनशील नाम रूपो को ही देखती है और इस झूठे दृश्य से ही पूरी तरह परिभ्रमित हो जाती है। अफलातून के गुफा निवासियो की भाँति मनुष्य केवल दीवार पर चलती छायाओ को ही देखते है। वे न तो प्रकाश को देखते है और अभी तक न ही उन अधिक सच्चे रूपो को देख पाते है जिनकी ये छायाएँ है। इस दैवी माया को पार करना निस्संदेह कठिन है क्योकि दीर्घकाल से भौतिक वस्तुओ मे ही फँसे रहने के कारण हमारे मन केवल वाहरी वातों पर ही जमे रहना सीख गए है। रोग या आरोग्य के हिसाव से ही शरीरो को देखने मे प्रशिक्षित डाक्टर आसानी से कलाकार की दृष्टि द्वारा नही देख सकता और वाहरी तथ्यों को ही महत्त्व देने के कारण प्रकृति के स्वामी वन जाने वाले हम आसानी से उच्चतर दृष्टि प्राप्त नही कर पाते और न अपनी परंपरागत विचार-प्रणाली को उलट पाते है।

श्लोक 13,14

दृष्टि या विचार प्रणाली का यह परिवर्तन ज्ञान-योग है और जैसा कि कठोपनिषद का कहना है—"···कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्यामैक्षदावृत्तचक्षुर चक्षुर मृत्तवमिच्छन—अमरत्व की इच्छा रखने वाले कुछ धीर पुरुपो ने आवृत्त चक्षुओं से उस अनश्वर आत्मन को देखा"। शिष्य को इस वहुरूपिया माया की ओर से आँख पलटनी होगी। माया के स्थान पर उसे "मुझे" देखना होगा—'मै' जो समस्त तेजस्वी वस्तुओ मे अग्नि का दैवी परिकल्पन हूँ, समस्त वलशील वस्तुओ मे दैवी वल और समस्त प्राणियो मे दैवी जीवन हूँ।

इस तरह नित्य आत्मन् की ओर उन्मुख होकर ही माया को पार किया जा सकता है। वाहर की ओर देखने वाले और माया से मोहित हो जाने वाले आसुरिक[1] पथ पर चलने वाले व्यक्ति इस संसार मे अपने पैर नही जमा सकते और इसकी निरंतर चलायमान तरंगों के थपेड़ों के साथ यहाँ से वहाँ धक्के खाते रहते है।

श्लोक 15

इसके विपरीत वे लोग है जो आंतरिक पथ पर चलते है और कृष्ण की सेवा[2] करते है। इनका वर्ग विभाजन इनकी ही अनुभूति के अनुसार किया जाता है। सवसे पहले आते है "आर्त ' जिन्होने देख लिया है कि जीवन केवल दुख ही दुख है।

"Ache of the birth, ache of the helpless days.
Ache of hot youth and ache of manhood's prime;

1. आसुरिक पथ वाहर जाने वाला प्रवृत्ति मार्ग है जिसके वारे मे आगे चलकर और कहा जाएगा। अध्याय 16 देखिए।
2. 'भजन्त्ते' शब्द जिसका आमतौर से 'पूजा करना' अर्थ लगाया जाता है, 'भज्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'सेवा करना'।

Ache of the chill grey years and choking death
These fill your piteous time.[1]

"दर्द जमन्ते का, दर्द असहाय दिनो का
उन्मत्त कौमार्य
और यौवन के उभार का दर्द
बुढापे के ठंडे रसहीन वर्ष, छटपटाते मृत्यु के क्षण
इन्ही से भरा है तेरा दयनीय जीवन।"

जीवन अनित्य है और सब कुछ एक न एक दिन चला जाता है, यह देख लेने पर इस वर्ग के मनुष्य दुखी होकर इस सब से मुह मोड लेते है और उस कृष्ण से अपने मन को सात्वना देना चाहते है जो समस्त दुखो के पार है और अविचल है।

भगवान बुद्ध के चार आर्य सत्यो मे यही सबसे पहली अवस्था है। इसे पहली इसलिए कहा गया है क्योकि यह केवल दुख से भागने की प्रवृत्ति पर आधारित है।

अपनी अन्तर्दृष्टि से शिष्य ने यह देख लिया है कि जीवन मे दुख ही दुख है और जिन्हे सुख कहते हैं वे निरे धोखे हैं, इसलिए वह निराश होकर अपनी आँखें फेर लेता है। यदि जीवन थोडा और सुखमय होता तो वह इस तरह कृष्ण की ओर उन्मुख न होता।

अगला वर्ग है "जिज्ञासु" जनों का जो ज्ञान की खोज करते है। ज्ञान से प्रभुत्व व बल प्राप्त होता है और दुखमय जीवन को देख लेने के वाद ऐसे व्यक्ति उस ज्ञान को ढूढते है जिससे जीवन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया जा सके।

इसके वाद अर्थ की इच्छा रखने वाला 'अर्थार्थी'[2] आता है। यह जानकर कि कामना की वहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ ही दुख का कारण है और समस्त प्रव्यक्त जीवन अपने स्वभाव से ही अनित्य है, वह समस्त कामनाओ व प्रव्यक्त वस्तुओ से अपना मुह मोडकर इस अनामयम पदम मोक्ष की शोक युक्त दशा, की इच्छा रखता है जो ससार के शोक सागर से वहुत ऊपर है।

परन्तु इस अवस्था के पार एक और आत्मसमर्पण के मार्ग पर चलने वाले ज्ञानी

1. लाइट आफ एशिया।
2. अर्थार्थी को अक्सर गलत समझा जाता है और इसके मायने उस व्यक्ति से लगाए जाते हैं जो धन व सासारिक पदार्थों की इच्छा रखता हो। श्लोक के शब्दो के क्रम से साफ जाहिर है कि यह असली अर्थ नही है। अर्थार्थी उस 'अर्थ' की इच्छा रखने वाला नही है जो "अनर्थ' है वल्कि उसका जो वास्तविक अर्थ, "परमार्थ" यानि मुक्ति है।

की अवस्था भी है। मुक्ति की इच्छा रखने वाले के लिए संसार और निर्वाण मे द्वैत भावना होती है और वह एक को छोड़कर दूसरे की ओर जाता है। परन्तु ज्ञानी वह है जो यह जानता है कि समस्त द्वैत भाव मिथ्या है। जैसे 'यहां' वैसे ही 'वहां' उसके खुले नेत्र एक अद्वय के अतिरिक्त कुछ नही देखते। वह अपने लिए इस अग्निग्रस्त संसार की सीमाओ से मुक्ति नही चाहता क्योकि उसने यह देख लिया है कि "सब कुछ वासुदेव[1] ही है" और उपनिषद के शब्दो मे, उसे मालूम है कि "जो वहा है वो ही यहां भी है ; जो यहा नही है वो कही नही।"

श्लोक 17-19

असंख्य जन्मों के प्रयास के फलस्वरूप ही यह अति दुर्लभ, अति अद्‌भुत दिव्य अनुभूति प्राप्त होती है। पथ पर चलने वाले सब मनुष्य श्रेष्ठ होते है पर उन सब मे श्रेष्ठ वह ज्ञानी होता है क्योकि उसकी अनुभूति उसे सब प्राणियो मे वास करने वाले अद्य आत्मन् से युक्त कर देती है। किसी स्वार्थपरक लाभ की इच्छा न रखते हुए वह संसार के कड़ुए पानी का त्याग नही करता बल्कि अपने प्रभु की सेवा मे वह उसमे मिठास घोलने का प्रयत्न करता है। उसे अपना 'अहं' प्यारा नही बल्कि अद्य आत्मन् प्यारा होता है और इसीलिए वह कृष्ण का परम प्रिय होता है। क्योकि उसे पता होता है कि कृष्ण के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व ही नही है इसलिए वह कृष्ण की सेवा के अलावा और किसी लाभ या लक्ष्य की आकांक्षा नही रखता। कृष्ण के ही समान वह प्रेम व वलिदान की भावना से प्रेरित होकर अपने आपको अर्पण कर देता है। कृष्ण के आत्मन् से वह पूरी तरह एक हो जाता है और इस तरह अपने आपको सब के अंदर स्थित अद्वय जान कर वह सर्वोच्च पथ पर आरूढ हो जाता है।

इन ऊंचाइयों तक पहुंचने वाले विरले ही होते है। किसी पारितोपिक की इच्छा रखे वगैर पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण करना उनके वस का नही जिनके हृदय कामना से मलिन हों। चाहे वह कृष्ण का नाम अपनी स्तुतियो मे क्यो न लेते हों, जो पूजा अधिकतर मनुष्य करते है वह कृष्ण की वास्तविक पूजा नही है। अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर वे "अपनी प्रकृति के अनुसार" अन्य देवताओं की पूजा करते है।

श्लोक 20

कौन है ये देवता और कैसी पूजा होती है उनकी ? जैसा कि हम देख चुके है समस्त प्रव्यक्त प्रकृति मे अधिदैव और अधिभूत का द्वैत होता है। कही भी नामरूप रहित जीवन नही है और कही भी विना अधिदैव के नामरूप नही है।

1. कृष्ण का पितृनाम, परन्तु यहा इसका अर्थ "सब मे स्थित ज्योति" है।

आधुनिक दृष्टिकोण से मृत कही जाने वाली प्राकृतिक "शक्तियां" वास्तव मे उस एक "जीवित शक्ति" के विभिन्न रूप है जो समस्त विश्व को अपनी नित्य लीला मे नचाती है। ये शक्तिया "व्यक्ति" स्वरूप नही है परंतु प्राचीनकाल मे इनकी जीवित प्रकृति[1] के प्रतीक के रूप मे इन्हें व्यक्तिगत नामरूप दिया जाता था। इन्द्र, अग्नि, तथा अन्य वैदिक देवगण प्राकृतिक शक्तियो की प्राण उस "जीवित शक्ति" के ही विशिष्टीकृत प्रतीक है। इस शक्ति के भौतिक स्वरूपो को स्वयं वह शक्ति नही मान लेना चाहिए जैसे कि हमे अपने शारीरिक ढांचे को उसमें स्थित आत्मा नही समझ बैठना चाहिए।[2]

आधुनिक मनुष्य इन प्राकृतिक शक्तियो के वाह्य रूप के नियमो की जानकारी करके उनसे अपने मतलव सिद्ध करना चाहता है। यही काम करने के लिए प्राचीन काल मे मनुष्य अन्य साधनो का प्रयोग करता था। विभिन्न विधियो द्वारा वह अपनी चेतना और प्रकृति मे व्याप्त महाप्राण के वीच तालमेल स्थापित कर प्रकृति की जीवित किंतु इच्छाशक्ति-रहित शक्तियो को अपनी मानुषिक कल्पना व इच्छाशक्ति प्रदान कर उन्हे भीतर से अपने नियंत्रण मे रखने की चेष्टा करता था।

इस प्रकार 'देवताओ' से अपने अभीष्ट प्राप्त करना संभव है। परंतु ऐसा इसलिए है क्योकि इन अनेकानेक शक्तियो के पीछे एक महाशक्ति, सार्वभौमिक संगति है जिसे वैदिक काल मे 'ऋत' कहा जाता था। यही कृष्ण है जो पर्दे के पीछे से ऐसे भक्तो की श्रद्धा को दृढ किया करते है और अपने सनातन नियमो द्वारा इन आराधको को उनके कामो का फल दिलवाते है।

श्लोक 21-22

यदि उययुक्त साधन का ज्ञान हो तो सव कुछ उपलब्ध हो सकता है परंतु कीमत सवकी चुकानी पडती है क्योकि सव कुछ कर्म के नियम के अधीन है और

1 यह भी याद रखना चाहिए कि सिद्धिया (Psychic Powers) जव प्रकट होती है (कम से कम जव मनुष्यो को प्रकट होती हैं) तो मानवीय या अर्धमानवीय रूप मे होती हैं। "व्यक्तित्वकरण" मानसिक (Psychic) जगत का विशेष गुण है।

2 यह आधुनिक धारणा कि चूंकि वायु और तरगें नियमो के अनुसार चलती हैं इसलिए वे 'मृत' है गलत है। क्या हमारे शरीर नियमो के अनुसार काम नही करते? वात तो यह है कि सारे ब्रह्माड मे कोई ऐसा नामरूप नही है जो महानियम के अधीन न हो और न ही कोई वस्तु ऐसी है जो 'मृत' हो। सव नामरूप सर्वव्यापी महाप्राण मे स्थित हैं और इसी मे विचरते हैं।

वैदिक देवताओ का एक दूसरा पहलू भी है जिसमे वे चैतन्य के विभिन्न स्तर हैं। परन्तु यहा हमारा इस पहलू से कोई मतलव नही है।

क्रिया व प्रतिक्रिया को अलग नही किया जा सकता। इसीलिए कहा गया है कि इन पूजाओं के फल सीमित होते है और "देवताओ के उपासक देवताओ को प्राप्त होगे और मेरे भक्त मुझको"।

कोई यह न समझ ले कि "मै" देवगणो मे से ही एक देवता विशेप है। कृष्ण तो अव्यक्त, सनातन, अविनाशी, सर्वोत्तम है लेकिन उनके भी किसी एक स्वरूप विशेष को सर्वोपरि मानना व्यर्थ है यदि इसके पीछे बराबर यह भावना हो कि वे कई देवताओ मे से एक देवता है और क्योकि वे हमारे आराध्य है इसलिए सर्वश्रेष्ठ है। समस्त प्रव्यक्ति अपेक्षित और अनुबधित है। प्रव्यक्त अनेकता मे सब एक-दूसरे पर आश्रित होते है और कोई सर्वोच्च नही होता। सनातन अद्वय अनेकों मे एक नही है, वह तो सदा "एकमेवद्वितीय" गुप्त, अजन्मा व नित्य परिवर्तनशील माया के पार है। प्रव्यक्त जगत मे उसे कोई नही पा सकता। अनेकता की माया मे फसकर मनुष्य उसे बेकार ही "अरे वह यहा है, अरे वह वहां है" कहकर ढूढते है परतु वे अनेक पहलुओ मे से किसी एक के अलावा और कुछ नही पाते और इस तरह उस अद्वय को कभी प्राप्त नही कर पाते।[1]

श्लोक 25

केवल द्वंद्व को ही देख पाने वाले मनुष्य इस संसार के मोहजाल मे फसे रहते है। राग व द्वेप के भंवर मे चक्कर खाते हुए सिर्फ अनेकता को ही देखते हुए वे लगातार "मृत्यु से मृत्यु" को ही प्राप्त होते रहते है। वे कृष्ण के अविनाशी स्वरूप को नही जान सकते क्योकि अद्वय को केवल अद्वय ही जान सकता है।

कृष्ण का यह स्वरूप केवल उस योग द्वारा ही पाया जा सकता है जो अद्वय को अनेको के अंदर[2] व साथ ही उनके पार भी ढूढता है और जैसा कि उपनिषद का कहना है "उसे जानकर मनुष्य पूरी तरह मृत्यु को पार कर लेता है। वहां जाने का कोई अन्य पथ नही है।"[3] सब अग्नियों की अग्नि, जीवनों का जीवन, ज्योतियो की ज्योति "वह" समस्त नामरूपो के उस पार है। भूत, वर्तमान, भविष्य सब उसके लिए एक है।

1 एकहार्ट (Eikhert) के कथन से तुलना कीजिए : "कुछ लोग ईश्वर को ऐसे देखने की आशा रखते हैं जैसे वे किसी गाय को देखते हैं।"

2 "अनेको मे एक" और "अनेको के अन्दर" मे फर्क पर गौर कीजिये। वास्तव मे "अनेको के अदर" भी बिल्कुल सही नही है क्योकि जैसा हम अध्याय 9 मे देखेंगे "वह" अनेको के अदर नही बल्कि अनेक उसके अदर हैं। फिर भी इस अवस्था में उसकी अनुभूति ऐसे होती है गोया कि वह उनके अदर हो।

3. श्वेताश्वतर उपनिषद 6, 15.

परतु यह ज्ञान उसी को प्राप्त हो सकता है जिसके पापों का अंत आ पहुचा हो। पाप का अर्थ किन्ही मानवीय मत के अनुसार वनाए हुए मनमाने नैतिक नियमों का किन्ही "पुण्य" ग्रन्थो में दिए हुए नियमो का उल्लघन करना नही है। पाप तो अपनी पृथकता को वनाए रहने का हठ है, जहा एकता हो वहां अनेकता वनाए रखने का दुराग्रह है। पाप वह अज्ञान है जो पृथक वैयक्तिक अह को वास्तविकता समझता है और अपनी ही स्वार्थ-सिद्धि मे लगा रहता है चाहे उससे सारी दुनिया ही क्यो न नष्ट हो जाय।[1] दुराग्रह के कारण ही सब पाप होते है और सत्य तक वही पहुच पाता है जिसने इस पाप का त्याग कर दिया हो और जिसके शुद्ध निस्वार्थ कर्म सबके हृदय मे वास करने वाले अद्वय की सेवा मे ही अर्पित होते है।

श्लोक 28

अद्वय आत्मन् पर आश्रित ऐसे निस्वार्थ पुण्यकर्मीजन सदैव जन्म वा मृत्यु के जाल से इस आत्मन् की मुक्ति मे तत्पर रहते हैं। ये मुक्ति के साधक ही सच्चे मुमुक्ष है क्योकि इन्होने जान लिया है कि सब जीवधारी वस्तुत. एक है और ये केवल अपनी ही मुक्ति की इच्छा की अवहेलना कर देते है। सच्चे ज्ञानी भी यही हैं क्योकि वे आद्य अव्यक्त त्रिमूर्ति को जानते है—अद्वय सनातन ब्रह्म और उसके दो पहलू, अव्यक्त आत्मन् (कठोपनिषद का शांत आत्मन्) और अव्यक्त मूल प्रकृति जिसे यहां अखिल कर्म[2] (की सम्भाव्यता) कहा गया है।

श्लोक 28-30

परन्तु सिर्फ अपने मे ही यह ज्ञान काफी नही है। ऊपर जिनका जिक्र किया गया वे तीनो सदैव अभिन्न होते है। वे उस "खाई" के पार होते है जो अव्यक्त तथा व्यक्त को अलग करती है और जो "स्वार्थी" मार्ग पर चलता है वह उनके असीम अनंत आनन्द मे सदैव के लिए खो जाना चाहता है। कृष्ण का भक्त ऐसा नही चाहता। वह तो यज्ञ (वलिदान) पथ पर चलकर आसिरिस (Osiris) के क्षत-विक्षत अगो को फिर से जोड़ना और सृष्टि समुद्र मे डूवी मणियो को संचय कर खजाने मे (अध्याय 9 श्लोक 18 देखिए) रखना चाहता है।

1. भगवान वुद्ध के इस शिक्षण का अर्थ कि जव तक आत्मा (यहा इसका अर्थ पृथक् अह से है) मे विश्वास रहेगा तव तक निर्वाण नही हो सकता, यही है। ईसाई भी यही कहते हैं कि पाप से मुक्ति केवल ईसा मसीह मे ही मिलती है। जो यह जानते हैं कि ईसा सव मे विद्यमान अद्वय आत्मन् है वे इसका अर्थ समझ सकते हैं। इसीलिए ईसा ने कहा था : "अलावा मेरे जरिए पिता के पास कोई नही पहुँच सकता।"
2. पारिभाषिक पदो की व्याख्या के लिए अगला अध्याय देखिये।

ऐसे साधक के लिए सर्वातीत सनातन का यह ज्ञान काफी नही है। निर्वाण और संसार दो अलग-अलग सत्य नही है क्योकि जो कुछ है वह सब वासुदेव ही है और जो कुछ वहां है वह यहां भी है। जो इस पथ पर चल

श्लोक 30

कर आत्मन् का ज्ञान केवल उसकी नित्यता मे ही नही वरन् यहां परिवर्तनशील जीवन और नामरूप की लीला मे भौतिकता की सूली पर अपनी बलि देकर पाना चाहता है वह ईसा के शब्दों मे 'मनुष्यो का मछुआ' बन जाता है। अन्य लोग ससार को तिरस्कारपूर्ण नेत्रों से देखें और मृत्यु की घड़ी आने पर अंधकार के पार अकेले ही अकेले की ओर उड़ान भरे। परन्तु जो पूर्णरूप से संयुक्त हो गया हो और जिसने यहां अनेकों मे 'एक' को देख लिया हो उसके लिए मौत की काली खाई रह नही जाती। वह चैतन्य के पूर्ण प्रकाश मे दैवी यात्रा के फल समेट कर ईशोपनिषद के शब्दो में "अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा, विद्ययाऽमृतमश्नुते—अनेक के ज्ञान द्वारा मृत्यु को पार कर 'एक' के ज्ञान से अमरत्व प्राप्त करता है।"

अध्याय 8

अक्षर ब्रह्म योग

शिष्य पथ पर जितना ही आगे बढता जाता है उसके हृदय मे प्रवेश करने वाली ज्योति उतनी ही निर्मल होती जाती है। पिछले अध्याय के अंत मे कुछ पारिभाषिक शब्द आए थे और अव समझ मे आने लगता है कि ये पद उस "अस्तित्व की सीढ़ी" या "इद्रधनुषी पुल" के वारे मे हैं जिससे जीव नीचे उतरा है और जिससे उसे अव ऊपर चढना होगा। इस सीढी का वर्णन विभिन्न पुरातन परम्पराओ मे विभिन्न शब्दो से किया गया है, उदाहरण के लिए यहूदियो के कवाला का सफीरी वृक्ष, परन्तु जो शिष्य इस अवस्था तक पहुच गया हो वह महान् आचार्यो के इन विभिन्न प्रतीको का अर्थ समझ लेता है क्योकि असलियत तो उन सव के पीछे एक ही है।

सव कुछ के पार और एकदम अकेला स्थित है वह परम सनातन अक्षर ब्रह्म, गुह्यातिगुह्य व अज्ञेय, जो कुछ है, था, या होगा उस सव का महामूल।

श्लोक 3 — सव नामो के पार इस अकथनीय परम पुरुष मे न तो द्रष्टा और न दृश्य, न ज्ञाता न ज्ञान और न ज्ञेय का ही अस्तित्व रह सकता है।

समस्त प्रव्यक्ति इस ब्रह्म के आत्म-परिसीमन के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती है। अव द्रष्टा रूप होकर ब्रह्म स्वय अपने को दृश्य रूप मे देखता है तो पहला द्वैत पैदा होता है यद्यपि यह अभी तक अव्यक्त ही होता है। "सर्वातीत द्रष्टा" के रूप मे अद्वय का स्वभाव, जिसे यहां "अध्यात्म" कहा गया है, अलग जैसा हो जाता है और ब्रह्म का दूसरा पहलू "मूल प्रकृति" सनातन दृश्य के रूप मे रह जाता है।[1] समस्त दृश्य जगत की आधारशिला, यह मूल प्रकृति स्वभावतः ही प्रव्यक्त "अनेको" की जननी है। अद्वय आत्मन् की ज्योति को प्रतिविंवित

1 इस सार्वभौमिक आविर्भाव के अधिक खुलासा विवरण के लिए अध्याय 13 व परिशिष्ट 'च' देखिए, परिशिष्ट 'ट' का चित्र भी देखें।

करने वाली, यही समस्त अनेकता की मूल है। इसके श्याम वर्ण अस्तित्व मे ही वे सब कर्म बीज संचित रहते हैं जो "सूर्य" की किरणों के प्रकाश मे अंकुरित होकर महान "संसार वृक्ष"[1] बन जाएंगे।

क्योंकि वह इस प्रकार कर्म की मूल है, गीता ने इसे कर्म कहा है ("कर्म-संज्ञित:) परन्तु यह याद रखना चाहिए कि मूल प्रकृति अपनी स्वतंत्र सत्ता रखने वाला ऐसा कोई आदि पदार्थ नही है जिसकी उन्नीसवी शताब्दी के वैज्ञानिक कल्पना करते थे। वह तो ब्रह्म का बहिर्व्यक्त पक्ष मात्र है। इसी अव्यक्त आधार मे सब नाम रूपों का अस्तित्व है, इसी में वे रहते है और इसी मे वे चलते है। मूल प्रकृति ब्रह्म का ही एक पक्ष है और उस ब्रह्म से पृथक उसका कोई अस्तित्व नही होता। इस बात को न समझ सकने के कारण ही उत्तरकालीन सांख्य मत वाले द्वैतवाद की ओर चले गए थे। बस इस द्वैतवादी समझ[2] को हटाइए और मूल प्रकृति उस ब्रह्म मे विलय हो जाती है जिसकी वह प्रतिमूर्ति मात्र है। यदि ब्रह्म को बाहरी रूप मे प्रकट होना है तो वह मूल प्रकृति के रूप मे ही हो सकता है।

अब प्रव्यक्त विश्व की ओर आने पर हम देखते है कि अव्यक्त पुरुष व अव्यक्त प्रकृति के समागम से एक तरफ तो परिवर्तनशील संसार, अधिभूत, उत्पन्न होता है और दूसरी तरफ साक्षी चैतन्य, अद्वय प्राण या अधिदैव का जन्म होता है जिसे कठोपनिषद मे महत् आत्मन्[3] कहा गया है।

तत्पश्चात् "अधियज्ञ" या वह अलौकिक यज्ञ आता है, जिसके द्वारा अद्वय प्राण, कृष्ण, अनित्य नाम रूपो से अपने आप को संयुक्त करता है। ठीक जैसे "अव्यक्त द्वय" की एकता अव्यक्त परब्रह्म मे मिलती है वैसे ही व्यक्त प्राण व नामरूप का मिलन कृष्ण के यज्ञ कर्म मे होता है। यही ऋग्वेद का वह अलौकिक यज्ञ है जिसमे पुरुष के शरीर के टुकडे कर जीवधारियों का जगत निर्मित किया गया था। यही ईसा का भौतिकता की सूली पर चढना और अपना रक्त अर्पण करना है ताकि संसार के द्वैत का समाधान हो सके।

---

1. कबाला की एक रुचिकर समानता के लिए परिशिष्ट "च" देखिए।
2. यह द्वैतपरक समझ वैयक्तिक नही वरन् सार्वभौमिक है और उस अद्भुत 'कुछ' पर आधारित है जिसे विभिन्न मतो मे ईश्वर-इच्छा (Will of God) दैवीलीला, सनातन विधान (Eternal Law) या माया कह कर पुकारा जाता है। ये सब नाम उस "एक" के कुछ पहलुओ को ही व्यक्त करते हैं। परन्तु प्रव्यक्ति से बाहर होने के कारण वह स्वयं शब्दातीत है। अति गूढ होने के कारण उसके स्वभाव की कल्पना भी नही की जा सकती परन्तु उसकी वास्तविकता का प्रमाण यही है कि आखिर सृष्टि का सृजन तो हुआ है। इसे समझाने के प्रयास मे शंकराचार्य असामंजस्यपूर्ण व परस्पर विरोधी कथन कर बैठे और बुद्धदेव ने इस विषय पर चुप रहना ही उचित समझा।
3. किसी-किसी परम्परा मे इसे तृतीय नाद (The Third Logos) भी कहा गया है।

अनेकानेक आकृतियो मे अपना प्रतिबिंब देखकर अद्वय आत्मन् ने अपने गुह्य योग की इच्छाशक्ति द्वारा उनसे तादात्म्य स्थापित किया व उनकी परिमितता मे हाथ बटाया। इस प्रकार व्यक्तियो, दैवी आसिरिस के बिखरे अंगों का जन्म हुआ, यानी मानव की उस केन्द्रीय सत्ता का जन्म जिसे कभी (उच्च) मनस् और कभी अहकार[1] कहा गया है। यही वे अमर चिगारिया (Immortal Sparks), वे दिव्य जगमगाते तन्तु (Shining Threads) है जो अगणित नामरूपो मे मरते रहते है और फिर भी अदृश्य रूप से कल्प भर के अमरत्व मे एक जन्म से दूसरे मे जाते रहते है।

इस महायज्ञ का वर्णन हर्मिस ट्रस्मेजिस्ट्स के पोमाड्रिस (Poemandres) मे भी है :

"पुरुष (The Cosmic Man) ने उस (प्रकृति) के जल मे अपने जैसा रूप देखा और उस पर आसक्त हो उसके अदर रमण करना चाहा। इस इच्छा के साथ ही कर्म भी आया और इसलिए पुरुष ने विवेकहीन नामरूप मे प्राण डाल दिया। और प्रकृति ने अपने प्रियतम को आलिगन मे ले अपने को उसके चारो ओर पूरी तरह लपेट लिया। और प्रेमी होने के नाते वे एक-दूसरे मे घुल-मिल गए। यही कारण है कि संसार मे सब प्राणियो से ज्यादा मनुष्य में ही दोहरा-पन होता है। शरीर के नाते वह मर्त्य है परन्तु असली आदमियत के नाते वह अमर है।"

मनुष्य की इस दोहरी प्रकृति के कारण ही यह अति आवश्यक है कि हर घडी, और विशेष रूप से शरीर छोडने के समय, शिष्य उससे अपना तादात्म्य करे जो उसके अदर अमर है। उसे अमर कृष्ण को पकडे रहना चाहिए न कि मर्त्य शरीर को। कल्पना ही समस्त विश्व को चलाने वाली शक्ति है। विश्व का द्वैत कल्पना से ही आया और कल्पना द्वारा सयुक्त होकर ही अधियज्ञ पूरा हुआ। मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही हो जाता है। इसीलिए यह बहुत ही जरूरी है कि शिष्य अपनी कल्पनाशक्ति का उचित प्रयोग करे। अपने चिंतन मे विनाशी शरीर से तादात्म्य कर वह उस शरीर के साथ ही मृत्यु को प्राप्त होता है, परंतु यदि वह

श्लोक 5-7

1. "अहकार" का शाब्दिक अर्थ है "मैं" को बनाने वाला। इस पद का उपयोग वैयक्तिक, अह तथा उच्चतर अह दोनो के ही लिए किया जा सकता है। उत्तरकालीन लेखनो मे इसका अर्थ निचले अह से है परन्तु गीता मे अधिकतर निचले के लिए "मनस्" और उच्चतर के लिए "अहकार" का उपयोग किया गया है। "उच्च मनस्" पद का उपयोग गीता मे नही किया गया है, परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, मैत्रि उपनिषद (6, 24) मे इसे शुद्ध मनस् कहा गया है। अहकार का अर्थ भी यही है पर जोर अभिज्ञता करने वाले पहलू पर न होकर "मैं" अथवा अपने अस्तित्व पर है।

अपने को उससे जोड़ सके जो अमर है तो वह भी अमरत्व लाभ कर लेगा।

यहां प्राचीन शास्त्रो के प्रमाणों की दुहाई नही दी जा रही है। यह तो एक सीधा-सादा तथ्य है जिसके बारे मे गीता का कहना है कि "नास्त्यत्र संशय— इसमे किसी प्रकार का कोई भी सदेह नही है"। जिसे शक हो उससे केवल यही कहना है "अपने को इस काबिल बनाओ, आजमाओ और फल पाओ।" आज-माओ और देखो, तुम स्वयं ही तो अमर आत्मा हो : "ओ रे अमर पक्षी, तू मरने के लिए थोड़े ही पैदा हुआ था। कोई भी भूखी पीढ़ियां तेरा दमन नही कर पाएगी।"

परन्तु जैसा कि पौराणिक कथा मे आया है, अमृत विश्व समुद्र के मंथन से ही निकलता है। जो अपने को बस यह शरीर ही माने बैठा हो, आत्मा का अमरत्व उसका क्या भला करेगा ? जब मृत्यु-शय्या पर पहुंच गए, उस समय के सद्विचारो पर ही निर्भर रहना व्यर्थ है। जो जीवन में "अभ्यासयोगयुक्तेन"—सतत अभ्यास द्वारा अपने को अजर-अमर रूप मे जानने का प्रयत्न करता है वही शात चित्त होकर प्रयाण काल के भ्रमो से बच सकता है और "आत्मा के पुल" पर से होकर अपनी सत्ता को नित्य सत्य में स्थित कर पाता है।

श्लोक 8

इस "सतरंगे पुल" पर पांच मजिले है—चैतन्य के पांच द्वार जिनमे से होकर जीव को निकलना पड़ता है। सबसे पहले आता है "कविपुराण— "प्राचीन द्रष्टा"[1], सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जो कामना के रक्तिन वर्ण का है। यह वह ज्योति है जिसे हम काम-चेतना के रूप मे जानते हैं और जो आन्तरिक व बाह्य इन्द्रियो के द्वारा प्रकाशित होने वाली ज्योति है। इसी ज्योति से जीव-धारियो के जगत का निर्माण होता है और इस स्तर से ही आरोहण प्रारम्भ होता है।

श्लोक 9

1 "कवि" शब्द का प्रयोग वेदो के कवि ऋषियो के लिए भी हुआ है और इससे यह जाहिर होता है कि सृष्टि क्रिया मूल रूप से परिकल्पना की क्रिया है। यह स्तर वही है जो नास्तिको का "इल्डा-ब्राओथ" है। ब्रह्मा शब्द का प्रयोग दूसरे माने मे भी किया गया है (दृष्टात के लिए इसी अध्याय का श्लोक 16 देखिए) जहा इसका प्रयोजन प्रव्यक्त सत्ता के सर्वोच्च स्तर मे यानी सार्वभौमिक परिकल्पना या सृजनात्मक जगत के स्तर से है। ऐसे दोहरे प्रयोग के कारण उलझन नही होनी चाहिए। दोनो ही सृजनात्मक शक्ति के प्रतीक है परन्तु एक तो एकता के, यानी प्रव्यक्त एकता के स्तर पर है और दूसरा अनेकता के स्तर पर यानी जो वधारियो के जगत मे श्वेताश्वतर उपनिषद (5, 2) मे एक 'रक्त वर्ग ऋषि" के बारे मे कहा गया है जिसको प्रारम्भ मे उत्पन्न किया गया था।

पाच स्तरों के लिए परिशिष्ट (ड) देखिए।

इसके वाद आता है "अनुशासितारम्" अर्थात् अतर्यामी अधिष्ठाता जो "अणोरणीयासम्" यानी छोटे से भी छोटा है। यह उच्चतर स्वरूप या अध्याय पांच का आन्तरिक "विन्दु" है जो शुद्ध मनस् मे चमकता है। यही खेत वोने वाला और यही फसल काटने वाला है। धन्य है वह जो इस अन्तर्यामी स्वामी के आधिपत्य मे रहता है।

इसके ऊपर है वुद्धि; "सर्वस्य धातारम्"— सवका आधार जो प्रकाश का सागर है और जिसमे अलग-अलग चिनगारिया मिलकर एक प्राणमय ज्योति वन जाती है। यह वह ज्योति है जो मनस् से ऊपर चमकती है और जो विभिन्न दृष्टिकोणो को एक सर्वदर्शी ज्ञान मे सयुक्त करती है। यह वह गुहा है जिसके उस पार अकल्पनीय रूप की महासत्ता, वह सार्वभौमिक परिकल्पना है जिसे कृष्ण[1] कहते है और जो प्रव्यत्य अस्तित्व की चरम सीमा है। यह सृजनात्मक जगत का स्तर है और जो इसकी उत्तुगता तक पहुच गया हो वह अखिल सृष्टि मे व्याप्त रहस्यमय भवसागर के अनवरत उतार-चढाव की गर्जना को सुन सकता है।

इसके पार है अव्यक्त प्रकृति का अधकारमय, अज्ञात गूढ रहस्य और फिर उसके भी पार अव्यक्त आत्मन् की वह शात शुभ्र ज्योति जलती है जो तिमिरा-तीत सूर्य है।

और फिर इसके भी पार है परम शाश्वत, अनामी रहस्य जिसको एकाक्षर ऊ[2] से प्रतीयमान किया जाता है। जो मनुष्य चैतन्य पथ का अनुसरण कर पाता है और इद्रियो को मन मे, मन को वुद्धि मे और वुद्धि को महत् आत्मन् मे विलय कर उसके भी पार जाता है वह उस परमशाश्वत के परमानन्द मे प्रवेश कर लेता है और पुनः जन्म नही लेता।

1, यानी कृष्ण का एक पहलू। पूरी गीता मे श्रीकृष्ण अपना तादात्मय विभिन्न स्थानो पर विभिन्न स्तरो से स्थापित करते है।

2 पाश्चात्य देशो मे ऊ और उसके "कपन" के वारे मे वहुत वकवास सी लिखी गई है जिसमे मे कुछ अव वापस भारतवर्ष मे आ रही है। मैने एक हिंदी धार्मिक पत्रिका मे पढा कि किसी "पाश्चात्य वैज्ञानिक" ने कैसे "ऊ" के मन्त्रोच्चारण से उत्पन्न कपनो द्वारा काच का गिलास तोड दिया और वैक ऑफ इगलैण्ड या ऐसी ही किसी इमारत को चूर-चूर करने से जरा पहले ही रुक गया। इस अक्षर का सही अर्थ माण्डूक्य उपनिषद मे देखना चाहिए। आवश्यकतानुसार "कपन" जैसे विषयो पर लिखने से न चूकने वाली एच० पी० व्लावात्स्की से भी जव शिष्यो ने "ऊ" के शुद्ध उच्चारण के वारे मे पूछा तो उन्होने कहा "ऊ का अर्थ है सत्कर्म, केवल होठो से आवाज निकालना नही, उसका उच्चारण अपने आचरण से करना।"

पथ का उक्त विवरण कठोपनिपद से लिया गया है परन्तु गीता में यही वात कुछ अधिक प्रतीकात्मक रूप से लिखी गई है। चैतन्य को उनसे खीचकर इंद्रियो के द्वार बंद करना और निम्न व्यक्तित्व, यानी मन, को उच्चतर स्वरूप मे विलय करना होता है जिसे यहां हृदय कहा गया है। तत्पश्चात्, शंकराचार्य के शव्दो मे "सूक्ष्म मार्ग द्वारा सिर तक चढ कर" योगी को वुद्धि मे (जिसे यहा "आत्मनः प्राणम्" कहा गया है) स्थित होना होता है। इसके वाद अब सनातन सत्य के प्रतीक की धारणा रखते हुए वह महाप्रयाण करता है।

श्लोक 12, 13

अव्यक्त और प्रव्यक्त के वीच एक ऐसी खाई है जिसे चिंतन कभी पार नही कर सकता। जिसे यहाँ ब्रह्मा का लोक कहा गया है, यानी प्रव्यक्त अस्तित्व, महत् आत्मन्, या सार्वभौमिक परिकल्पना, उसकी चरम सीमा तक सब वस्तुएं नश्वर है चाहे वे सहस्र युगो तक ही क्यो न वनी रहें। हर सृष्टि के उपाकाल मे वे गहन अधेरी अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न होती है। सार्वभौमिक दिन और रात के स्पदन के प्रभाव मे होने के कारण, अगणित युगो तक रहने के पश्चात भी एक ऐसा समय आता है जब वे फिर सृष्टि के अव्यक्त मूल मे ऐसी विलय हो जाती है जैसे फूलने के वाद पौधे। जगत जननी के इस श्याम गर्भ के भीतर प्रलय की महारात्रि मे अगली सृष्टि—उपा तक उन सब वस्तुओ के वीज निहित रहते है जिनका कभी अस्तित्व रहा है। सार्वभौमिक दिन व रात का यह महान् स्पंदन, सके जिवारे मे केवल धुधला-सा ज्ञान आधुनिक खगोल वैज्ञानिको को शायद होने लगा है, प्राचीन काल के महान ऋषियों को अच्छी तरह ज्ञात था। वे जानते थे कि सृष्टि की कोई भी चीज नित्य नहीं रहती और अव्यक्त जगदम्वा मूल प्रकृति भी प्रत्येक सृष्टि उषा के समय अपनी नई कोपले फिर से निकालती है। इसीलिए वे उस "नित्य" मे स्थित रहने की आकाक्षा करते थे जो अव्यक्त परब्रह्म, अक्षर और "परमागतिम्" (सर्वोच्च लक्ष्य) है। अखिल सृष्टि के ज्वार-भाटे के उस पार सदैव अचल यह महानिर्वाण परमधाम भी कहलाता है। इस धाम को प्राप्त होने वाले "दिन" व "रात" के प्रभाव के वाहर होते है और जैसे अग्नि द्वारा भस्म बीज फिर नही उपजता वैसे ही इन्हे भी कोई सृष्टि उषा दुख के संसार मे वापस नही ला सकती। ऐसे महापुरुषो के वारे मे बस प्रज्ञा पारमिता के इस महामंत्र के सिवा और कुछ नही कहा जा सकता : "गते गते पारगते पारसंगते वोधि स्वाहा—हे ज्ञान प्राप्त, उस पार गए हुए, उस तट पर पहुंचे हुए,

श्लोक 16-21

स्वाहा"[1]।

यह तो रहा वह लक्ष्य जो सतरगे पुल के उस पार है। परन्तु इस पथ पर चले कैसे ? चैतन्य के विभिन्न स्तरो के बारे मे जानना तो एक बात है परन्तु इच्छाशक्ति द्वारा अपने को उच्चतर स्तरो तक उठा पाना दूसरी ही बात है। इस कार्य को सम्पन्न करने का सर्वोत्तम उपाय "उसकी अनन्य भक्ति है जिसमे सर्वभूत स्थित है और जो इस सम्पूर्ण विश्व मे परिव्याप्त है।" इस विषय मे किसी को गलतफहमी नही होनी चाहिए। उक्त कथन इस भावना से नही किया गया है जिसके कारण भारत मे कितने ही भक्ति सम्प्रदाय ज्ञान मार्ग से स्पर्धा रखने के कारण कलुषित हो गए है। ज्ञान तो स्वय ही पथ है। ज्ञान के विभिन्न स्तरो से ही इस पथ का निर्माण होता है और, जैसा कि हम पहले देख चुके है, ज्ञानी को स्वय कृष्ण का आत्मन् कहा गया है। परन्तु यह भी याद रहे कि यह ज्ञान किताबी ज्ञान नही है। इसकी प्राप्ति उच्चतर स्तरो के अरोहण से होती है। अब सवाल यह है कि ये आरोहण हो कैसे। कौन है ऐसा जिसने पथ पर चलने का प्रयास किया हो और जो इस पथ को न समझ पा रहा हो ? ठीक हमारे ऊपर पूरे चाद की तरह हमारा अपना उच्चतर अस्तित्व चमकता रहता है। हम उसे वहा देखते तो है और वह अपने सौदर्य से हमारे हृदय को आकर्षित भी करता है, लेकिन हमारी तमाम कोशिशो के बावजूद भी वह हमारी पकड़ के बाहर ही रहता है।

श्लोक 22

आरोहण करने का सबसे अच्छा व आसान तरीका यह है कि शिष्य अपने आपको प्रेम व भक्तिपूर्वक उसे समर्पित कर दे जो उसके तत्कालीन स्तर से उच्चतर हो। अपनी परिमितता को पार करने का सबसे आसान तरीका प्रेममय भक्ति ही है। यह वह महान शक्ति है जो शिष्य को उसकी अपनी चहारदीवारी के बाहर निकाल लाती है।[2] अपना अह सबको प्यारा होता है, पर जो अनन्य

1. "स्वाहा" अग्नि मे आहुति देने का मत्र है। इस ब्रह्म यज्ञ मे (क्षुद्र) अह की आहुति दी जाती है और वह शाश्वत की अग्नि मे भस्म हो जाता है।
2. प्रेम और भक्ति के इस बल का कारण यह है कि इन दोनो की जड़ें बुद्धि मे और इस प्रकार वैयक्तिक अनेकता के पार स्थिति हैं। सामान्य जीवन मे प्रेम व भक्ति जिस तरह नजर आते हैं और प्रकट होते है उसमे निम्न मनस् के काम भाव का बहुत गहरा असर रहता है और इसीलिए सामान्य अनुभव में इनका स्वरूप कभी-कभी असतोषजनक रहता है। लेकिन चाहे जो कुछ भी हो इनका उद्गम बुद्धि मे ही है और इसलिए इनमें वह बल है जो शिष्य को उसके उच्चतर अह के ठीक केन्द्र से होकर ऊपर खींच लेता है। इस बल के बिना कितने ही इस उच्चतर मनस् के स्तर पर ही

(शेष पृष्ठ 77 पर)

भाव से प्रेम या भक्ति करता है वह अपना अहं खोकर अपने प्रियतम या पूज्य मे एक उच्चतर अहं प्राप्त कर लेता है। इस तरह वह अपने आपको उस स्तर पर पाता है जो अब तक इसकी पकड़ के बाहर झिलमिला रहा था। इस तरह वह इन्द्रियो को मन मे, मन को बुद्धि मे·· ······विलय करते हुए पथ पर चलता हुआ उस अद्वय दिव्य आत्मन् तक जा पहुचता है जिसमे सब की स्थिति है।

यह आत्मन् उसके लिए अपने गुरु या किसी अवतार मे प्रतीयमान हो सकता है। परन्तु सब प्रतीकों मे उसे यह देख लेना चाहिए कि वह अद्वय आत्मन् की ही पूजा करता है क्योकि जैसा वृहदारण्यक उपनिषद् मे कहा गया है, पुत्र या पति के नाते प्रिय नही होते बल्कि उस आत्मन् के नाते प्यारे लगते है जो सबका प्रिय है। यद्यपि अस्तित्व की ऊंचाइया एक बार मे नही चढ़ी जा सकती फिर भी प्रेम के सहारे एक-एक पग रखते हुए अपने आपको उसे अर्पित करते हुए जो अपने से उच्चतर है परम लक्ष्य तक पहुचा जा सकता है।

यह भी सच है कि आरोहण के अन्य साधन भी है। प्लाटाइनस का कहना था कि अद्वय आत्मन् को वही प्राप्त होता है जिसका स्वभाव प्रेमी अथवा दार्शनिक का हो। दर्शन से उनका तात्पर्य था ज्ञान की अनासक्त लगन, और इस लगन मे वह शक्ति है जो मनुष्य को उसके व्यक्तित्व से अलग कर ऊपर उठा सकती है और सार्वभौमिक सत्यो के चिंतन मे लगाकर उसे उसके (क्षुद्र) अह के प्रति अनजान बना सकती है। परंतु इस राह पर चल सकने वाले विरले ही होते है। प्रबल ज्ञानाकांक्षा रखने वाले तो बहुत होते है परंतु इनमे से अधिकांश ज्ञान को उस बल प्राप्ति के लिए ही चाहते है जो उसके साथ आती है और केवल ज्ञान के ही लिए ज्ञान नही चाहते। केवल सत्य के लिए ज्ञानार्जन की इच्छा रखने वाला अति दुर्लभ व्यक्ति ही अपने सारे (क्षुद्र) अह को इस खोज मे गवा सकता है।

जो भी हो, हमे ऊपर उठाने वाली शक्ति प्रेम ही है, वह प्रेम चाहे सत्य का हो चाहे सुंदर का या चाहे इन सबसे श्रेष्ठ उस अद्वय आत्मन्, कृष्ण, का हो जो

रुक जाते हैं और अपने क्षुद्र अहं को कम करने की प्रत्येक चेष्टा के साथ उसे सूक्ष्म रूप मे बढावा ही देते जाते हैं। बुद्धिजन्य होने के कारण ही प्रेम व भक्ति की इन 'उच्चतर भावनाओ" मे अभिज्ञान का एक पहलू होता है और वे एक ऐसा ज्ञान दे सकते हैं जो मन के विश्लेपणात्मक ज्ञान से परे हैं। युग के इन शब्दो से तुलना कीजिए 'जब मति आध्यात्मिक ज्ञान को जानने का दावा करने लगती है तो अनिवार्यत. जीव को सब कुछ से अलग कर देती है। परन्तु मति को ऐसा ज्ञान रखने की क्षमता नही होती क्योकि अध्यात्म मति से ऊचा होता है। उसमे मति (intellect) व भावना (feeling) दोनो का समावेश होता है।'

उन सव चीजो मे झलकता है जो मनुष्यो के प्रेम व पूजा के पात्र है। अततः सव सच्चाइयो के सत्य, सब सुदरताओ के सौदर्य, सव प्यारी वस्तुओ के प्राण उस कृष्ण मे आ प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको खोकर अपनी आत्मा को प्राप्त करता है।

"Lamp of Earth! Wherever thou movest
Its dim shapes are clad with brightness
And the souls of whom Thou lovest
Walk upon the winds With lightness
Till they fail as I am failing
Dizzy, lost, yet unubewailing"

"ओ जग के दीपक तू जहा-जहा जाता है
जगमग हो जाती है सब धुधली आकृतिया
प्यार जिन्हे तू करता है उनकी आत्माए
पवन पथो पर चलती है हल्कापन पाए
आखिर मेरी तरह बहक कर,
चकरा कर, थक कर निढाल हो जाती है वे—विन पछताए।"

अपने आपको खोकर मदहोश जीव जब ज्योति की ओर उडान भरता है तो शैली (Shelley) की उक्ति पक्तियो में उसके उस आह्लाद का जो वर्णन है उसे मैं अपने शब्दो से नही कर सकता।

प्रत्येक जीव को दो शाश्वत पथो मे से एक पर चलना ही होता है। "एक से वह जाता है जो वापस नही आता और दूसरे से वह जो फिर वापस आता है।" ये ही हर्मिस ट्रिमेजिस्टस् का "ऊपर वाला रास्ता" और "मौत का रास्ता" है, और शायद "विजन ऑफ एॅर" (Vision of Er) मे अफलातून द्वारा वर्णित दो मार्ग—आकाश मार्ग और पाताल मार्ग—भी यही है। प्रकाश और अधकार के इन पथो को युगयुगातर से प्रतीको मे छिपाकर रखा गया है। ये प्रतीक विशेष गीता से भी बहुत पुराने है और यह तथाकथित "काल" समय नही है। कोई व्यक्ति कब प्राण त्यागता है इससे कुछ फरक नही पड़ता। यदि उसे ज्ञान है तो वह ऊपर वाले मार्ग पर जाएगा और यदि नही है तो दु ख व भय के मार्ग से बार-बार जन्म और मृत्यु को प्राप्त होगा।

श्लोक 23

ये "काल" उन पथो की मजिले है जो जीवो को तय करने होते है। एक तो चैतन्य का शुभ पथ, सर्वातीत पथ है जिस पर वह चलता है जो सबमे आत्मन् को

देखता है। दूसरा अधिभूत का अधकारमय पथ है जिस पर अज्ञानी चलता है। पहले पर चलने वाला मनुष्य आतरिक पथ की कठोर चढ़ाई

श्लोक 24

चढकर जुगनू की टिमटिमाहट से "नित्य दिवस" के सूर्य प्रकाश तक पहुचता है। एक ज्योति से दूसरी तक निरतर वढ़ती हुई दीप्ति के साथ वह पदचिह्न रहित हस पथ पर तव तक चलता रहता है जव तक उसे अपने दिव्य लक्ष्य की प्राप्ति नही हो जाती।[1]

दूसरा पथ दु.ख व भय का पथ है। यहा अधिभूत के चंद्र मे प्रतिविंवित प्रकाश ही एकमात्र ज्योति है। इस अस्पष्ट रोशनी का पथिक शत्रुओ को मित्र समझता हुआ, मायाविक नामरूपो मे अपने को भुलाता

श्लोक 25

हुआ, अमरत्व को जानता हुआ, एक मृत्यु से दूसरी को जाता है।

जिस व्यक्ति को इन पथो का ज्ञान हो उसके पास तो जैसे मार्ग-दर्शन यत्र होता है जो जीवन तथा मृत्यु दोनो मे ही सदैव पथ-प्रदर्शन करता रहता है। यह नही समझना चाहिए कि ये शिक्षाएं इस दुनिया और जीवन के

श्लोक 27

लिए ही है। अनुष्य तो कई लोको का नागरिक होता है और पथभ्रष्ट होने का खतरा और प्रलोभन सिर्फ अपनी इस दुनिया मे ही नही होता। मृत्यु के उस पार भी अति दुस्तर-भ्रम घात लगाए वैठे होते है। जो यह समझते है कि केवल यह सावित कर देने से कि मरने के वाद भी जीवन होता है सव कुछ प्राप्त हो जाता है या जो माध्यमो की कपोल, कल्पनाओ को सच मान लेते है, वे ऐसे खतरे मोल लेते है जिनसे कोई ओझा उनकी रक्षा नही कर सकता।

स्थूल भौतिक शरीर की वेड़ियो से मुक्त मन उन लोको मे अपने उस पथ पर चलता है जिसका निर्माण स्वयं उसने अपने इस "जीवन काल" मे अपने विचारो व कर्मो द्वारा किया होता है। या तो मन अपने ही प्रकाश मे शात व दीप्तिमान रहता है और या अपनी ही लगाई काम, क्रोध, लोभ की उस आग मे जलता है जिसे "त्रिविध नरकस्य द्वार" कहा गया है (अध्याय 16, श्लोक 21)। इस नाटक की असलियत सिर्फ इसलिए ही कुछ नही हो जाती कि वह मन की उपज है। जीव भयकर भ्रमो[2] में पड जाता है और जिसे इन पथो का ज्ञान नही होता

1. परिशिष्ट "छ" देखिए।
2. मरणोपरांत भ्रमो का एक अच्छा विवरण लामा काजी द्वापा सदुप तथा ज्ञ डा० ऐवन्स वेन्ट्ज द्वारा अनुवादित "टिवेटन वुक आफ दि डैड" में दिया गया है। इस पुस्तक को पढने में निरे तिव्वती परिकल्पना द्वारा निर्मित रूपो के लिए गुजायश रखनी चाहिए और यह भी याद रखना चाहिए कि मृत्यु-शय्या के संस्कारो को करवाने वाले पुरोहितो के हाथ पड जाने से इसमे कुछ गलतिया भी आ गई है।

वह असहाय यहा से वहा भटकता रहता है। अद्वय आत्मन् की अभय निर्मल ज्योति से मुख मोडकर वह अपनी कामनाओ की वास्तव मे भयंकर परतु सुदर लगने वाली छायाओ का आलिगन करता है। ऐसा करते ही सुदरता गायव हो जाती है और उसकी जगह रह जाते है जघन्य ग्लानि के गड्ढे जिनके माध्यम से जीव पुन. जन्म लेता है और एक वार फिर दु ख के दारुण पथ का अनुसरण करता है।

पुराने जमाने की जादू की कहानियो मे जो कुछ लिखा है वह वहुत हद तक इस विचित्र लोक मे एक हकीकत होता है। टेनिसन की कृति मे सर गेवेन जव परम लक्ष्य (Grail) खोजते-खोजते थक जाते है तो मैदान मे खुशमिजाज नाजनीनो से भरा एक रेशमी शामियाना देखते हैं,

"· · but the gale
Tore my pavilion from the penting pin
And blew my merry maidens all about."

" ··लेकिन तूफान ने
मेरा शामियान उखाड फेंका
और मेरी मस्त नाजनीनो को
चारो ओर विखरा दिया।"

ये भ्रम परदे के पीछे मे अपने दर्दनाक जादू का असर हम पर इस जीवन मे भी डालते हैं। परन्तु मृत्यु के वाद अशरीर मन पर तो वे पौराणिक दृष्टातो की तरह पूरी तरह हावी हो जाते हैं। जो इन भ्रमो मे फस गए वे जैसे टेनीसन के गेवेन के भूत ने अन मे आर्थर से कहा था वैसे ही कहते है :

Farewell ! there is an isle of rest for thee
But I am blown along a wandering wind
And hollow hollow hollow all delight "

"अलविदा ! तुम्हारे लिए तो एक विश्राम है द्वीप है
मगर मैं तो झझा के झोको से झकझोरा जाता हू
और सारा आह्लाद खोखला, खोखला, खोखला पाता हू।"

मनुष्य के लिए वस ये ही दो पथ है और इनके अलावा कोई तीसरा नही है। या तो योग द्वारा आत्मन् मे स्थिति रखो या अधिभूत (जड) से तादात्म्य कर अपने को खो डालो। यह चयन संक्षिप्त तो है ही, साथ ही निरतर चलने वाला भी है क्योकि प्रत्येक मोड़ पर राह फट कर दो मे वंट जाती है : कोई चाहे

तो ऊपर चढ़े, चाहे नीचे जाए। क्या करना है इसका निश्चय अभी कर लेना चाहिए—जबकि हृदय मे जीवन की नम्यता होती है, क्योकि मरने के बाद तो मन अपने पुराने विचारो के प्रभावों से मौत की नकाब के समान पथरा-सा जाता है। ऐसी स्थिति मे चुनाव कर पाने की संभावना नाममात्र की ही रहती है। अपने पुराने विचारो व कर्मो के बल से या तो जीव भयावह स्वप्न जैसे भ्रमो से होता हुआ अधिभूत मे जन्म लेगा या दिव्य ज्योति के लोको मे से गुंजरता हुआ बिना कही रुके लक्ष्य तक पहुंचेगा—अमर और परम शाश्वत स्थिति को प्राप्त करेगा।

अध्याय 9

राजविद्या राजगुह्य योग

"विश्व के हृदय मे स्थित है एक अद्वय हस। वही, हा वही है वह अग्नि जो जल मे प्रवेश कर गई है। उसे जानकर ही लाघ सकते है मृत्यु को। वहा जाने की और कोई राह नहीं है।"

(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

राज-रहस्य का शब्दो मे वर्णन नही किया जा सकता। ससार-भर मे एक ऐसे आश्चर्यमय रहस्य की परम्परा पाई जाती है जिसकी खोज विभिन्न नामो से मनुष्य हर युग मे करते आए है। पारस पत्थर (Philosophers Stone), अमृत (Elixir of Immortality), पुनीत ग्रेल (Holy Grail), ईश्वर का गुप्त नाम (Hidden Name of God) इन सबको ही मनुष्य ने ढूढा है और यदि ठीक से समझा जाये तो ये सब एक ही हैं। बहुत-से खोजने वाले तो सदा "चलायमान ज्योतियो" के ही पीछे लगे रहे है और कितनो ने ही धन व यश के लालच मे पड कर अपनी खोज बद कर दी है। परन्तु हर युग मे थोडे ऐसे भी अवश्य होते रहे हैं जो सच्चे पथ पर चले है और जिन्होने इस दिव्य रहस्य को ढूढ निकाला है।

इस रहस्य को न तो कोई लेखनी लिख सकती है और न कोई जिह्वा बोल सकती है। परन्तु वह मनुष्य के अतरतम हृदय मे लिखा हुआ है और युगयुगान्तरो से वहा इसलिए पडा रहा है ताकि एक दिन शिष्य अज्ञान के आवरणो को फाडकर इसके ज्वलत अक्षरों को अपने हृदय मे देख सके। चाहे कोई कितना ही पापी व दुष्टात्मा क्यो न हो, ऐसा कोई भी नही जिसके हृदय मे यह रहस्य न लिखा हो। पर इसके सजीवन शब्दो को पढने वाले कम ही होते है।

यही है इस कथन का अर्थ कि यह "प्रत्यक्षावगम" यानी प्रत्यक्ष रूप से जाना जाने वाला है। इस पथ पर अंधविश्वास नाम की कोई चीज नही है। विश्वास की दलील देने वाले विभिन्न मत सम्प्रदाय अपने अनुयायियो से तथाकथित

ईश्वरप्रदत्त शास्त्रों मे लिखी बातें आख मूद कर मान लेने को कहते है। परन्तु गीता इस तरह के बधनों से मनुष्य की जन्म-सिद्ध स्वतत्रता की घोषणा करती है। इस पथ का पथिक सत्य को अपनी आंखो से यहां इसी जीवन मे देखता है, मरने के बाद किसी स्वर्ग मे नही। यहां आंख मूद कर आज्ञापालन करने की मांग करने वाली पोथियां या स्वर्ग नरक के द्वार की कुजियां दिखाने वाले पुरोहित नही है। एक बार दीख जाने पर सत्य स्वय अपने प्रकाश से दीप्तिमान रहता है और जो एक बार भी उसका पानी पी लेता है उसे "फिर प्यास नही लगती।"

निस्संदेह इस ज्ञान तक पहुंचने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है परन्तु यह श्रद्धा किन्ही मतो अथवा नियमो या किन्ही कर्मकाड के विधानों[1] की क्षमता पर निरा दिमागी विश्वास नही है। जिस श्रद्धा की आवश्यकता है वह उस प्रकार का आतरिक दृढ विश्वास है जिसने भगवान बुद्धदेव को अपनी अकेली खोज पर भेजा था—कि "हो न हो, आखिर कही, न कही कभी न कभी उसकी जिज्ञासु आखो का परदा जरूर उठेगा"[2], कि कही न कही ऐसा ज्ञान अवश्य है जो ससार का दु ख हरण कर लेगा और यह दृढ निश्चय कि जब तक वह ज्ञान मिल न जाय तब तक चैन से बैठना नही है। ऐसी श्रद्धा और निश्चय ने ही समस्त युगों के जिज्ञासु जनो को उनकी खोज के लिए प्रेरित किया है। इसकी जडे मति मे नही बल्कि स्वयं आतरिक ज्ञान मे होती है और वही से निकल कर—यद्यपि अधिभूत उसकी प्रखरता को धीमा कर देता है—उसकी किरणे मनुष्यो के हृदयो को लक्ष्य की ओर प्रेरित करती है।[3]

श्लोक 3

यह ज्ञान शब्दो की दुनिया से कितनी दूर है इसका कुछ आभास उन परस्पर विरोधी विवरणो से मिलता है जो हमारी इन नीचे की दुनियाओ के छोरो पर अटके मिलते है। औपनिषदिक ऋषियो ने इसे पूर्ण अथवा आत्मन् का ज्ञान कहा और बौद्धो ने शून्य या अनात्मन् का। लेकिन फिर भी ये दोनो एक ही सर्वातीत सत्य के विवरण के प्रयास है। दोनो को ही उस सत्य का ज्ञान था परन्तु शब्दो मे ढालने पर वही सत्य परस्पर विरोधी रूपो मे प्रकट होता है।

गीता मे भी ऐसे विरोधाभास का उपयोग किया गया है। सब जीवधारी अद्वय परमात्मन् मे स्थित है भी और साथ ही नही भी है। इस कथन को थोड़ा-

1 जैसा कि बुद्धदेव ने सिखाया है, वास्तव मे मात्र कर्मकाण्ड तथा विधि-विधानो मे विश्वास तो उन बन्धनो मे से है जिन्हे इस पथ के पथिक को काट फेकना होता है।

2 लाइट ऑफ एशिया।

3. उच्चतर भावनाओ पर पिछले अध्याय के पृष्ठ की टिप्पणी देखिए।

वहुत समझने के लिए भी—क्योकि पूरी समझ तो प्रत्यक्ष ज्ञान से ही आती है—यह याद रखना जरूरी है कि पूरी गीता मे कृष्ण अलग-अलग स्तरो से वोलते है।

श्लोक 4, 5

श्लोक 4 मे वे अपनी अव्यक्त मूर्ति यानी परब्रह्म अथवा सृष्टि के मूलहीन मूल के वारे मे कह रहे है। यह 'परम' समस्त जगत में व्याप्त है। और वह स्वय तो किसी पर आधारित नही लेकिन सर्वभूत उसके भीतर स्थित होते है।

इसी के वारे मे प्लाटाइनस ने लिखा है: "सब की जन्मदात्री 'एकता' किसी का अश नही है, वह न तो कोई वस्तु है न गुण, न मति है न जीव, न चलायमान है न अचल, न किसी देश मे है न काल मे। वह स्वयंभू, निराले रूप वाली है, या यह कहना वेहतर होगा कि अरूप है। इसका अस्तित्व रूप गति व अगति से पहले है और ये सव तो परम सत्ता की उपाधिया है और उसके एक से अनेक वनने के उपकरण मात्र है।"[1]

पर साथ ही यह भी सच है कि उस परब्रह्म मे सब जीवधारियो के स्थित होने की वात करना ठीक नही होगा क्योकि जव तक इस "एक" से "दो" अव्यक्त

श्लोक 6

पुरुष व मूल प्रकृति—नही निकलते तब तक जीवधारियो का अस्तित्व हो ही नही सकता। इन दोनो के गुह्य परिणय यानी "योगमैश्वरम्" से ही सर्वभूतो का आविर्भाव होता है और इसी प्रकार ये जीवधारी "एक" मे नही वल्कि "दो" मे स्थित होते है। फिर भी उनका अंतिम आधार "एक" ही है और चाहे वह "एक" अपने आपको उन पर आधारित नही करता और न स्वयं उनमें परिणत ही होता है, उनकी उत्पत्ति का आदि कारण वही है। आकाश के समान वह सब कुछ को अपने अदर रखता हुआ भी स्वय सवसे अछूता रहता है।

इस रहस्य को थोडा-बहुत समझने के लिए शायद सवसे अच्छा उपाय हर्मिसीय नियम को याद रखना और सृजनात्मक प्रक्रिया का पिण्डाण्ड मे अध्ययन

श्लोक 6, 8

करना है। जैसा कि "जोहर" मे कहा गया है "गूढ दृष्टि से जो नर है वही नारायण है।" किसी सृजनात्मक लेखक की सृजन-प्रक्रिया पर विचार कीजिए। यदि हम उसके मन मे झाक सकें तो पाएंगे कि वहां अनेक व्यक्ति अपना-अपना पार्ट अर्ध-स्वतंत्र रूप से खेल रहे है। सब के स्वभाव व कार्य भिन्न है और सब ही अचेतित गर्भ से उत्पन्न होकर चैतन्य की ज्योति से प्रकाशित हुए है। इन प्राणियो का जीवन स्वतत्र-सा ही लगता है यद्यपि सब के ऊपर कोई निर्धारिणी शक्ति शासन करती है। उनका वनाने वाला उन्हे अपनी इच्छानुसार न तो मार सकता है न उन्हे उनके कर्मो के परिणामो से बचा ही सकता है। वे पहले के व्यक्तिगत

1. प्लाटाइनस 6, 9 .

व जातीय अनुभवों के उन वीजो से उत्पन्न होते है जो कि उस अंधेरे अचेतित गर्भ मे दवे होते है। यही वह रंगमंच है जिस पर वे अपनी छोटी-वडी भूमिकाएं अदा करते हैं। परन्तु वह अधेरा रगमंच उनका वास्तविक मूल नही है। वह तो मूल का ऐसा दिखावा मात्र है जिसे वह तव सामने कर लेती है जब चैतन्य उस पर दृष्टि डालता है। यह दिखावा उस गहन वास्तविकता को ढक लेता है जो नामरूप और साक्षी चैतन्य दोनों ही का स्रोत है।[1] अब एक वार फिर ब्रह्माण्ड पर विचार किया जाय। वहां गुह्य परिणय यानी श्लोक 5 के "योगमैश्वरम्" द्वारा अव्यक्त आत्मन् अव्यक्त मूल प्रकृति के साथ अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा संयुक्त होता है। आत्मन् श्याम प्रकृति पर झुक जाता है, यानी उसका आलिंगन करता है। और इस आलिंगन के साथ ही अंदर दवे पिछले विश्वों से चले आ रहे अनेकता के वीज प्राणमय होकर खिल उठते है और महावतरण का प्रारम्भ हो जाता है। यह अवतरण वढती वहिर्व्यक्तता की क्रमबद्ध अनुभूति है। जैसे-जैसे आत्मन् प्रत्येक स्तर पर दृष्टि डालता है वैसे-वैसे और वहिर्व्यक्तता होती जाती है और इस तरह अस्तित्व के स्तर पर स्तर वनते जाते है। इस प्रकार विभिन्न स्तरों पर हुए अलौकिक योग द्वारा स्थूल जड पदार्थ तक समस्त विश्व-यंत्र अंतर्यामी जीवन से गतिमान रहता हैं, क्योकि जैसा हर्मिस ने कहा है : "इस विश्व मे एक भी मृत वस्तु न तो कभी थी, न है और न कभी होगी।"

यह प्रक्रिया ऐसी नही कि बस एक वार सम्पन्न होकर फिर वैसी ही वनी रहे। जैसा कि पहले अध्याय मे कहा गया, प्रवृत्ति की प्रचड सांस वार-वार वाहर निकलती है और अनेक विश्वों में अगणित जीवधारी अपने-अपने रास्तो पर तव तक चलने लगते है जव तक कि वे उस अगली विश्व रात्रि मे विलीन नही हो जाते

श्लोक 8-10

1. इसका मतलव यह नही कि पिण्डाण्ड के सृष्टिक्रम का यह विवरण सव कलाकारो के लिए सच है यद्यपि रावर्ट लुई स्टीवेंसन जैसे कुछ कलाकारो के लिए जरूर है। इसे यहां केवल सुझाव की रूपरेखा के तौर पर ही दिया गया है। परब्रह्म को कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिको के सामूहिक अचेतित (Collective Unconscious) या शोपेनहावर (Schopenhauer) अथवा फॉन हार्टमन (Von Hartman) की पराभौतिक अचेतित इच्छाशक्ति (metaphysical unconscious will) के समरूप भी नही माना जा रहा है। अस्तित्व के ऊचे स्तर हमे अधकारमय इसलिए प्रतीत होते हैं क्योकि उनका प्रकाश हमारे मस्तिष्को के लिए अत्यधिक उज्ज्वल होता है, ठीक जैसे कि अल्ट्रा वायलेट किरणो से भरा कमरा हमारी आखो को तो अधेरा लगता है पर कैमरे को नही लगता। हर्मिस के शब्दो से भी तुलना कीजिए "इस साधना को यदि तू व्यवहार में समझना चाहता है तो इस पर ध्यान दे कि जव तुझे प्रजनन की कामना होती है उस समय तेरे भीतर क्या कुछ होता है।" (हर्मिटिक कार्पस 11.14).

जिसमे "अकेला वह, श्वासहीन सास लेता है।"

"सत्य तो यह है, हे मित्र : कि जैसे किसी धधकती आग से हजारों एक जैसी चिनगारियां निकलती है वैसे ही उस अविनाशी से अनेक जीवधारी निकलते है और उसी मे वापस समा जाते है।"[1]

यहां जो कुछ लिखा गया है व लिखा जा सकता है वह तो शब्दो का जाल मात्र और एक ऐसी सीढी है जिसकी सहायता से हम सनातनत्व के दुर्ग की दीवारो पर चढने का यत्न करते हैं। यदि ज्ञानचक्षुओ से देखा जाय तो संसार के सारे द्वन्द्व संघर्ष, चिरएरण से निकलती चिनगारिया, एक विशाल मायावी चित्र के ही अंग है। न तो किसी की प्रवृत्ति होती है और न नीचे उतर कर कोई चीज फिर ऊपर उठती है। सब कुछ शाश्वत मनस् के दृश्य मात्र है और बराबर बदलते रहने वाले सीमित बिन्दु, हम, भी उस विशाल सम्पूर्ण के अंदर स्थित अगणित दृष्टि-कोण ही तो है क्योकि "समस्त संसार मे कुछ भी ऐसा नही है जो "वह" न हो।"[2]

परन्तु ऐसे विरले ही होते है जिनकी आत्मा इस कोटि की हो कि वे सर्वोच्च सत्य को देखकर भी जीवित रह पाए। जिसके ज्ञानचक्षु उसके जीवात्मा के तैयार होने से पहले ही खुल जाते हैं उसमे उस ज्ञान की वर्फानी हवाओ से प्रेम व करुणा का अत हो जाता है। लाखो जन्म-जन्मातरो का प्रयास व्यर्थ हो जाता है और जो दुखी मानवता के लिए दीपक बन सकता था वह निर्वाण का वरण कर हमारे बीच से ऐसे गायब हो जाता है जैसे कि वह कभी रहा ही न हो।

आइए एक बार फिर हम अपने शब्दो के जाल को पकड़ें वरना कही अत्य-धिक ज्ञान हमे अपनी जगह पर ही गार्गन के सिर (Gorgon's head) के समान पत्थर का न बना दे। यद्यपि अद्वय आत्मन् ही विश्व-चक्र का

श्लोक 9

प्रवर्तन करता है और उसमे अपना प्राण-रूप डालता है फिर भी वह उसके घूमते हुए अरो पर फसा नही रहता। "एक प्राण" से भरे अगणित प्राणी सुख-दुख भोगते अपना-अपना कर्म करते मृत्यु को और फिर जन्म को प्राप्त होते है, परन्तु वह अद्वय आत्मन् सदैव मुक्त रहता है—"सब कर्मों मे सर्वथा अनासक्त, उदासीन की भांति स्थित।"

"I saw the king of kings descend the narrow doorway to the dust
With all his fires of morning shill, the beauty bravery and lust
And yet He is the life within the everliving living ones

1. मुण्डकोपनिषद, 2, 1, 1
2. हर्मिटिक कार्पस (Hermetic Corpus) 5, 9

The Ancient with Eternal Youth, the cradle of infant
Suns."[1]

"मैंने महाराजा को देखा
मृत्यु के धूल भरे गर्त मे उतरते हुए
देखा उनका सौंदर्य, शौर्य और काम रूपी तेज धीमा होते हुए।
फिर भी वही है, हां वही, सब जीवित अमरो के प्राण
सनातन चिर कुमार
वही हैं, हां वही, सब उदय होते सूर्यो के पालनहार।"

मनुष्य पाप और पुण्य करते हुए उनका फल भोगते है पर उनके हृदय मे स्थित वह आत्मन्, जिसका प्राण ही सब कुछ को चलाता है, वह सबसे कर्म करवाता हुआ भी मृत्युदंश का अनुभव कर सदा जीवित रहता है और कर्मों के जाल के बीचो बीच रहकर भी एकदम मुक्त व अनासक्त रहता है। यही है दैवी कर्म का रहस्य। जो इस रहस्य को जानता है वह फिर जन्म नही लेता (अध्याय 4 श्लोक 9)। लेखक के आंतरिक रंगमच पर उसी के द्वारा जीवन प्रदत्त, उसी की सत्ता से निर्मित, विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने कर्मों के अनुसार अपने जीवन जीते है परंतु फिर भी लेखक का ध्यानावस्थित चैतन्य इन सबसे मुक्त रहता है,[2] इसी प्रकार आत्मन् भी सदा मुक्त है यद्यपि उसके जीवन से ही विश्व-चक्र चलता है। "वह सदा कर्मरत रहता है और जो कुछ भी वह करता है स्वयं वही बन जाता है। यदि वह अपने आप को दुनिया से खीच चले तो सब कुछ नष्टभ्रष्ट हो जाय।"[3]

श्लोक 11, 12

संसार में दो प्रकार के मनुष्य देखने मे आते है। एक तो वे जो अपने अस्तित्व को बाहरी मोहनी प्रकृति, यानी नश्वर नामरूपो के सदा परिवर्तनशील जगत से संयुक्त करते है। ऐसे मूर्ख दिव्य आत्मन् की उपेक्षा कर केवल उन नाशवान शरीरो को देखते हैं जिनमे आत्मन् का निवास होता है। इसलिए उन्हे "मोधाशा" कहा गया है क्योकि आज आने और कल चले जाने वाले नामरूपों मे आखिर कैसी आशा रक्खी जा सकती है। और इसीलिए उन्हे

1. ए० ई० की कविता "कृष्ण" से।
2. जिनके हृदय में इस विचार से क्षोभ उत्पन्न होता हो कि सदा मुक्त आत्मन् बधनग्रस्त जीवो को ऐसे निस्सग भाव से देखता है जैसे उसे उनसे कुछ मतलब ही न हो, उन्हे यह याद रखना चाहिए कि आत्मन् कोई विश्वेतर व्यक्तिपरक भगवान नही है। वह तो हमारा ही अपना सच्चा आत्म-हमारी खुदी-है जो हमारे ही हृदय में स्थित है। यदि वह नित्य मुक्त न होता तो हम अपने बधन कभी न तोड़ सकते। केवल उसी में मुक्ति सत्य और अमरत्व है।
3. हर्मिटिक कार्पस 2-14 (मीड का अनुवाद)

"मोधकर्मणा" भी कहा गया है क्योंकि अद्वय सनातन सत्ता की सेवा के अलावा अन्य सब कर्म वृथा ही है।

इनके विपरीत वे विज्ञजन हैं जो अपने अस्तित्व को उस दैवी प्रकृति से सयुक्त करते है जो तीनों लोको मे गगा के समान प्रवाहित होकर समस्त नाम-रूपो को प्राण प्रदान करती है और सर्वभूतों के उद्गम स्थान से निकली निर्मल धारा है। इस प्राणमय ज्योति से नित्ययुक्त हो अपने क्षुद्र अहं को आत्मन् की सेवा मे अर्पित करने का दृढव्रत[1] रखकर ऐसे जन अपनी दृष्टि अंतर्मुखी कर लेते हैं और उस तेजस्वी स्रोत को सब नामरूपो से अतीत 'एक' के रूप मे (एकत्वेन) और साथ ही साथ विभिन्न प्राणियो के हृदय मे अलग-अलग रूपो मे (पृथकत्वेन) भी देखते हैं।

विश्व के माता, पिता सर्वमती इस स्रोत से ही प्राण का अनल और काम का सृजनात्मक जल उत्पन्न होता है। जो कुछ प्रव्यक्त है तथा अभी तक जो कुछ अव्यक्त है वह सब इस आश्चर्य 'निधानम्' यानी खजाने से ही निकलता है।

श्लोक 19

मनुष्य इस प्रकाश-पथ पर जितना ही ऊपर उठता जाता है, उसके भावी जन्म उतने ही अधिक तेजोमय होते जाते है। और ऐसे बहुत-से होते है जो कुछ ऊंचाई चढकर अपने को स्वर्गीय सुखो मे खो बैठते है।[2] इस कामना के सामने घुटने टेक देने से आरोहण शक्ति सुख-भोग मे क्षीण होती जाती है और उसके पूर्णतया समाप्त होने पर अथक कालचक्र जीव पथिक को भली या बुरी परिस्थितियो मे फिर इसी मर्त्यलोक मे घसीट ले आता है जहा उसे अपनी आरोहण यात्रा एक बार फिर नए सिरे से आरंभ करनी पडती है। मिट्टी के अंधेरे मे दबे बीज बाहर निकल कर खुली हवा मे फलते-फूलते है, जैसे प्राचीन मिस्र के 'आहलू' के खेतो मे वर्णित सात हाथ ऊंचा अनाज जो बीज बन कर फिर एक बार मिट्टी मे पहुंच जाता है।

श्लोक 20

यद्यपि पिछले अध्याय में इसे अधकार-पथ कहा गया है पर ऐसा यह केवल दिव्य प्रकाशमय पथ की तुलना मे ही है। वास्तव मे यह

श्लोक 21

1. यहा दिए गए दृढव्रत (श्लोक 14) की बोधिसत्व के व्रत से तुलना कीजिए—"जब तक जन्म-मरण का अनत क्रम चलता रहेगा तब तक प्राणियो के कल्याण के लिए मैं पवित्र जीवन व्यतीत करूगा।" (शातिदेव)

2. गीता के लेखन काल मे मृत्यु के उपरात इन स्वर्गीय सुखो की प्राप्ति को ही वेदो द्वारा बताया मार्ग समझा जाने लगा था। (श्लोक 20 व 21)

मानव जीवन के उद्भव का वह चक्रमय पथ है जिस पर काम द्वारा लुभाए "कामकामा" जीव प्रत्येक दुख की अनुभूति किए बिना निवृत्ति पथ पर नही आ सकते।

शिष्य की विकसित आत्मा के लिए इस दूसरे मार्ग के फन्दे से बचना खास तौर से जरूरी है क्योकि उसने कामना का त्याग किया है और स्वर्ग के सुखों के प्रति वह बिना शर्मिंदा हुए नही झुक सकता। उसका एक-

श्लोक 24

मात्र कर्तव्य है अपने आप को भगवत् सेवा की आहुति के रूप मे चराचर के प्रभु को अर्पित कर देना। अन्य कोई पूजा उसके लिए बाधा स्वरूप ही है। निश्चय ही हम मानवों की दुनिया से परे अन्य मानसिक (Psychic) लोक भी होते है जिनके पितृगणों व देवताओ के प्रति मानव आत्मा पूजा भाव से आकर्षित होती है। परन्तु पूजा-भक्ति का फल तो पूज्य के अस्तित्व मे मिल जाना ही होता है और कोई भी सीमित देवता जीव को वह पद नही दे सकता जो सब सीमाओ के पार है। ये देवगण मनुष्यो के जीवन-तरु का उच्चतर लोको मे विकास कर उसके अस्तित्व के फूलों को खिलने मे सहायता तो करते है परन्तु फूल कभी न कभी फिर मुरझा ही जाते है और इस नीरस परन्तु रहस्यमय मर्त्यलोक मे वापस आ जाते है क्योकि इस लोक मे ही जीवन का पौधा पनप सकता है।

मुक्ति का पथ केवल मनुष्यों के लिए ही होता है। देवगण तो इस रास्ते की मंजिलें हैं जो अधिकाश के लिए आकर्षक परन्तु निवृत्ति पथ के पथिक के लिए ग्राह के मुख के समान है क्योकि एक बार वहा फसने के बाद

श्लोक 25

दुबारा फिर इस पृथ्वी की योनि से उत्पन्न हुए बिना आगे बढना सभव नही है। इस अवस्था तक पहुचे शिष्य को नामरूपो से मुंह मोड़कर उस ज्योति को देखना चाहिए जो सबके माध्यम से चमकती है और जिसके प्रकाश से ही सब कुछ चमकता है। देवताओ की पूजा करने वाले अज्ञानी होते है क्योकि वे केवल रूप ही देख पाते है और उस शाश्वत की ज्योति को नही देखते जिसके बिना रूपों का अस्तित्व ही नही।

परन्तु प्रश्न उठता है कि इस ज्योति की पूजा कैसे की जाय ? उस विमल, प्रशांत, सनातन, अतीत कृष्ण तक हम पहुंचे कैसे "जिस तक

श्लोक 26, 27, 28

पहुंचने मे 'असमर्थ' वाणी मन समेत वापस लौट आती है।" इस कृष्ण तक पहुंचने का मार्ग कोई लम्बी-चौडी पूजा-विधि व कर्मकाण्ड नही बल्कि अनन्य समर्पण है। शिष्य को लोलुपता की उस प्रक्रिया को उलटना चाहिए जिससे व्यक्तिगत अहं का निर्माण होता है और उसे भोग के बजाय निरंतर त्याग का प्रयास करना चाहिए। पहले पत्र, पुष्प, फल इत्यादि के प्रतीकात्मक अर्पण से और फिर अह के बलिदान यानी सब

कर्मों को भगवत्सेवा के रूप मे करने के व्रत से ऐसा किया जा सकता है । किसी को यह नही सोचना चाहिए कि उसकी भेंट स्वीकार नही होगी । छोटी-बडी हर भेंट स्वीकृत होती है क्योकि प्रत्येक दान कर्म से वे दीवारे कमजोर होती और टूटती है जो जीव को उसके बाहर के विशाल जीवन से पृथक् किए रहती है । छोटे से छोटा दान कर्म भी उस पथ पर एक कदम है जो धीरे-धीरे उस अवस्था पर पहुंचा देता है जहा सारा वैयक्तिक जीवन, अपने सब कर्मो, विचारो व भावनाओ के साथ अनेक मे स्थित 'एक' की सेवा मे अर्पित कर दिया जाता है और जहां कर्म अपने बंधनो मे बाधने की शक्ति इसलिए खो बैठते है क्योकि (क्षुद्र) अह के समाप्त हो जाने के बाद बाधने के लिए कुछ रह ही नही जाता ।

इस पथ की शिक्षा तो दी जाती है परन्तु चलना उस पर प्रत्येक शिष्य को खुद ही पडता है । "मैं सबके लिए समरूप हू, न कोई मेरे लिए द्वेष्य है, न प्रिय ।" इस पथ पर किसी को कोई विशेषाधिकार नही मिलते । जो आज आसानी से ऊपर चढता नजर आता है वह देवताओ का प्रिय पात्र न होकर अपने कल के कठिन परिश्रम के फल बटोरने वाला साधक है और आज इस दुर्गम पर्वत-पथ पर चढ़ने मे जिसकी सास फूल रही हो वह निश्चय रूप से यह जाने कि यदि वह अपने काम पर डटा रहेगा तो वह दिन अवश्य आएगा जब उसके पैर भी किसी दक्ष खिलाड़ी के समान समर्थ हो जायेगे ।

सेवा भाव से अहं का समर्पण करने के अतिरिक्त कृष्ण तक पहुंचने का अन्य कोई उपाय नही है । प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अपने प्रयास से ही पथ पर चढना पडता है, परन्तु कृष्ण हृदय मे सदा विराजमान रहते है और जो भी आत्मसमर्पण करना चाहता है उसे अवसर अवश्य दिया जाता है । यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि बलात निर्जनता मे उसे पथ पर अकेले ही चलना है तथापि यह अकेलापन केवल भ्रम है क्योकि वहा "सास से भी करीब, हाथ-पैरो से भी निकट" अदृश्य, उसका सनातन सखा, उसका अंतरात्मा मौजूद होता है । उसके और उसके अंतरात्मा के बीच अहंकार के उस आवरण के अलावा और कुछ भी नही होता जिसका निर्माण स्वयं उसी ने किया होता है और प्रत्येक स्वार्थहीन दान-कर्म के साथ यह आवरण घिसता व कमजोर पड़ता जाता है ।

इसीलिए कहा जा रहा है कि यदि अतिशय दुराचारी व्यक्ति भी अपना मुख 'उसकी' ओर मोड कर अनन्य भाव से श्रीकृष्ण का भजन करे तो उसे साधु समझना चाहिए क्योकि उसने अब अपने पांव निवृत्ति पथ पर बढा दिए है । जो कर्म पहले किए जा चुके है उनको तो मिटाया नही जा सकता । अत. ऐसे स्वार्थ-परक कर्मो के संचित पाप से उसे अपने मे ऐसी प्रवृत्तिया विरासत में मिलती है जिन पर काबू पाने के लिए उसे निरंतर संघर्ष करना पड़ेगा । ऐसे कर्मो के फल को जादू या प्रार्थना द्वारा धो डालने की इच्छा रखना घोर मूढाग्रह है । परन्तु

फिर भी कोई भी व्यक्ति नितांत पाशवद्ध नही होता। हजार बार पाप कर मनुष्य अपने क्षुद्र अह को इतना सवल अवश्य वना सकता है कि एक बार फिर पाप करना लगभग निश्चित ही हो, परन्तु ऐसी सम्भावना 'लगभग' तव ही सीमित रहेगी क्योकि हर एक के हृदय मे सदा मुक्त आत्मन् विराजमान है और जहां वह है वहा कोई भी बंधन चरम नही हो सकता। मनुष्य यदि चाहे तो अपना रुख मोड कर ऊर्ध्वगामी पथ पर पाव बढा सकता है क्योकि उसके हृदय की दैवी स्वतत्रता को तो कोई मिटा नही सकता और अतत: उसकी पाप करने की शक्ति भी उसके हृदय मे स्थित अद्वय आत्मन् से ही आती है।

श्लोक 30

क्षुद्र अहं के वजाय उच्चतर स्वरूप के लिए ही सब कर्म करने का संकल्प कर लेने और फिर उसे निभाए रखने से आगे प्रगति तेजी से होती है और उस पथ पर प्रवेश हो जाता है जो अंत मे परम शांति को पहुचाता है। अभी कई बार असफलताएं मिलेगी और कदम डगमगाएंगे, परन्तु एक बार आत्मन् से सम्पर्क स्थापित हो जाने पर शिष्य द्वारा निपट अधेरे के गर्त मे नही गिर सकता। अव उसके अंदर ऐसा कुछ जाग गया है जो उसे भौतिकता की सीमा मे ही चैन से नही बना रहने देगा। यद्यपि वह कभी-कभी उसके विपरीत जाने की चेष्टा करेगा लेकिन वह भीतरी खिचाव वार-वार असर दिखाएगा और मछुए की पतली-सी डोर पर अटकी बडी मछली की तरह वह भी आखिर नदी के बाहर किनारे पर निकाल ही लिया जाएगा। श्रीकृष्ण का कहना है: "मेरा भक्त कभी नष्ट नही होता।"[1]

आत्मन् सब के हृदय मे निवास करता है इसलिए यह पथ बिना धर्म, जाति, लिंग इत्यादि के भेदभाव के सब के लिए खुला है। वैदिक पथ पर पाडित्य की आवश्यकता थी और इसलिए वह अनिवार्यत: स्त्री, शूद्र इत्यादि उन वर्गों के लिए वर्जित था जिन्हे सामाजिक नियमो के अनुसार वेदाध्ययन का अधिकार

1 दैवी मछुए की डोर मे फसे जीव का प्रतीक प्राचीन काल के अनेक पुराणो मे आया है और ईसा का साथ मनुष्यो के मछुए (fishery of men) वाला कथन इसी पर आधारित है। पूर्ण वृत्तात के लिए आइसलर का "आरफियस दि फिशर" देखिए। कलियुग के आरम्भ मे विष्णु पुराण के अनुसार महर्षि व्यास के शब्दो को भी याद रखें। पापमोचनी गगा के तट पर उन्होंने कहा "स्त्रियां भाग्यशील हैं, शूद्र भाग्यशील है।" इसका कारण पूछने पर उन्होंने कहा, "स्त्रिया भाग्यशील हैं क्योकि आत्मसमर्पण उनका जन्मजात स्वभाव है और शूद्र भाग्यशील हैं क्योकि सेवा उनका धर्म है।"

नही था ।[1] केवल निष्ठापूर्वक आत्म-समर्पण की माग करने वाले इस पथ के लिए शास्त्रीय या दार्शनिक ज्ञान की कोई आवश्यकता नही है और इसलिए यह सबको उपलब्ध है क्योंकि जो भी अपने आपको अर्पित कर सकता है उसके पास सब आवश्यक ज्ञान अपने आप आ जाता है।

श्लोक 32

इसीलिए अपनी सारी शिक्षा का सार गुरुदेव एक ऐसे संक्षिप्त श्लोक में देते हैं जो इतना महत्त्वपूर्ण है कि केवल एक छोटे-से परिवर्तन के साथ वह पूरी गीता के निष्कर्ष रूप मे अठारहवें अध्याय के अंत मे भी दिया गया है ।

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु, मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मान मत्परायण:"—मन को मुझ मे स्थित कर, भक्तिपूर्वक मुझे आत्मसमर्पण कर, मुझे नमस्कार कर और मुझे ही अपना लक्ष्य मान, तू अवश्य मुझको ही प्राप्त होगा ।"

अपनी विशुद्ध मानसिक दृष्टि से शिष्य को सबमे इस अद्वय को ही देखना चाहिए और परम प्रेमपूर्वक अपने को अर्पण कर देना चाहिए। अपनी क्रियाशक्ति को यज्ञकर्म मे लगाना चाहिए और अपने क्षुद्र अहं को उस महान 'पूर्ण' के सामने तुच्छ समझ कर नमस्कार करना चाहिए। इस तरह एकागी मतिवादिता, भावात्मकता या क्रियात्मकता से बचते हुए अपने दिल, दिमाग व शरीर सबको उस मे एकाग्र कर 'उस' से भर कर उसके अनुरूप बन कर शिष्य राजपथ का अनुसरण करता है। इस पथ पर अपने क्षुद्र अहं का उत्सर्ग कर जीव फिर उच्च-तर स्वरूप की उपलब्धि करता है, सनातन हंस को पहचानता है और पहचानकर मृत्यु को सर्वथा पार कर जाता है।

1. यह नही समझना चाहिए कि श्लोक 32 इस बात का समर्थन करता है कि समाज मे स्त्रियों का स्थान हीन हो। गीता के लेखन काल मे (और काफी हद तक आजकल भी) समाज मे स्त्रियो का स्थान वास्तव मे हीन था और उन्हें शिक्षा की सुविधा उपलब्ध नही थी। श्रीकृष्ण इसका समर्थन नहीं कर रहे है बल्कि यह कह रहे हैं कि इन बाधाओं के रहते हुए भी उनके लिए यह पथ खुला है। पाप योनि शब्द का उपयोग यह इंगित करता है कि भूतकाल में प्राप्त अवसर गवा देने का कार्मिक दण्ड यह होता है कि भविष्य में वे अवसर नही मिलते और इस प्रकार समाज के उन वर्गों में जन्म-प्राप्ति होती है जिन्हे देश व काल विशेष के अनुसार स्वाधीनता व अवसर प्राप्त नही होते। ऐसा कहने का यह अर्थ नही कि समाज की उस स्थिति विशेष को उचित व न्यायसगत ठहराया जा रहा है।

अध्याय 10

विभूति योग

हर चाह छोड़कर अपने को पूरी तरह मुझ अर्पित कर दे—ये शब्द अब तक की (यानी अध्याय 9 की) शिक्षा का साराश है। लेकिन कौन है वह जो इस तरह जीव पर अपना प्रभुत्व जता रहा है? कृष्ण कहते है, "तू मेरी पूजा कर" और उनके इन शब्दो की गूज ईसा के इन शब्दों मे मिलती है, "वस मेरे जरिए ही परम पिता तक पहुंचा जा सकता है, अन्यथा नही।" पूर्व और पश्चिम दोनो मे ही सम्प्रदायवादियों ने इन कथनो को पकड़ कर अपने उपास्य देवो की महानता और अनोखेपन का ढिढोरा पीटा है और उन्हे जीवात्माओ की रक्षा करने हेतु संसार में अवतरित ईश्वर का पुत्र या स्वय भगवान ही कहा है। अव या तो हम यह माने कि ये महात्मागण स्वयं इतने परिभ्रमित थे कि अपने आप को परमेश्वर तक पहुंचने का एक मात्र मार्ग समझते थे और या यह समझें—जो कि हकीकत है—कि उन्होने जो कुछ कहा वह अलग-अलग व्यक्तियो की हैसियत से नही वल्कि उस अनादि, अनंत, शाश्वत ब्रह्म के रूप मे कहा जिसमे सवकी स्थिति है और जिससे सव कुछ आच्छादित है।

इस अद्वय सनातन का ज्ञान ही सातवें अध्याय से शिष्य के हृदय मे उदय हो रहा है। यह वही ज्ञान है "जिसके प्राप्त होने पर यहां और कुछ जानने की आवश्यकता नही रहती।"[1] हालाकि जैसा हम पूरे शिक्षण के अंत में देखेंगे, ईसा व कृष्ण के तथाकथित व्यक्तित्व के हृदय मे एक अतिगूढ महानतम रहस्य भी दिया है, पर फिर भी उनका केवल व्यक्ति रूप जान लेने से ही काम नही चलता। सत्य के हृदय तक पहुचने के लिए एक प्रत्यक्ष मार्ग है जो ईश्वर की मूर्त निस्सीमता से होकर जाता है और जिसमे भगवान मानवीय शरीर द्वारा अकर्मा के कर्म कर दिखाते है और मानवीय वाणी द्वारा शब्दहीन सनातन ज्ञान सुनाते है। परन्तु यहा पर इस परम गुह्य पथ की नही वल्कि सर्वव्यापी दैवी

1. गीता 7, 2

उपस्थिति की बात की जा रही है ।

यहा पर श्रीकृष्ण उस ब्रह्म की हैसियत से ही बोल रहे है जिससे सब जीव आते है और जिसमे समय आने पर वे वापस चले जाते है। इस ब्रह्म के रहस्य सदा के लिए उस अनादि अधकार मे छिपे रहते है। देवता या महर्षि कोई भी उसके मूलहीन अस्तित्व की थाह नही पा सकते क्योकि वही तो सबका प्रभाव होता है और जो भी उसके परम रहस्य को जानने की इच्छा से वहा जाते है वे न देवता ही रह पाते है न मनुष्य ही और उस दिव्य ज्योति मे घुल जाते है जिसे ऊंचे से ऊचा द्वैतपरक ज्ञान अधकार ही समझता है ।

हम तो बस इतना ही जान पाते है कि सारे अलग-अलग गुण व विशेषताए, सकारात्मक तथा नकारात्मक मनोदशाएं एक होकर उस दिव्य अधकार के पल विन्दुओं के समान होती है और उससे निकल कर भिन्न-भिन्न प्रकार के मानवीय रूपो मे प्रकट होती है ।

श्लोक 4-5

सप्त महाज्योतियो[1] यानी अस्तित्व के स्तरो के आविर्भाव का वर्णन किया जा चुका है (अध्याय 8 व 9) । इन सात ज्योतियों अथवा स्तरो का यहा तीन मुख्य वर्गो मे विभाजन किया गया है । पहले आते है "पूर्वे चत्वारः—पहले चार"[2] यानी अस्तित्व के उच्च चार स्तर (जिनमे से दो "अव्यक्त" है) जो समस्त व्यक्तीकरण की पहुच के सर्वथा वाहर है । इनको उन चार सनातन ब्रह्मचारी तपस्वियो या कुमारों से प्रतीयमान किया जाता है जिन्होने सन्तानोत्पत्ति करना अस्वीकार कर अद्वय के ध्यान मे मग्न रहने का निश्चय किया । इस प्रतीक का तात्पर्य यह हैं कि ये चार एकता के स्तर है जिनमे अनेक अलग-अलग व्यक्तित्व अभी निर्मित नही हुए है ।

श्लोक 6

इसके वाद आते है "मनु" जिनसे यहा मतलव है पृथक् व्यक्तित्व या जीव,

1. श्लोक 6 . मुनि के अतिरिक्त ऋषि शब्द का अर्थ ज्योति या किरण भी है और इसी अर्थ मे इसका प्रयोग किया गया है। सस्कृत भाषा की अनेकार्थता का उपयोग अमूर्त सत्यो को वैयक्तिक रूपो मे व्यक्त करने के लिए किया गया है। पुराणो के सप्तर्षि इसी के उदाहरण हैं ।

2 कुछ लोग इसका अर्थ "प्राचीन काल के चार मनु" के रूप मे लगाते हैं परन्तु पुराणो के अनुसार प्राचीन काल मे चार से अधिक मनु थे और इसीलिए यह दिखाने के लिए कि चार का ही जिक्र क्यो आया है, टीकाकार को अनेकानेक विचित्र युक्तिया देनी पड़ती है। कठोपनिषद् मे इन चार स्तरो को शात आत्मन् अव्यक्त (मूल प्रकृति) महत् आत्मन् तथा ज्ञानात्मन् (वुद्धि) कहा गया है । परिशिष्ट 'ड" देखिए ।

यानी सर्वदर्शी ज्योति के अंदर विभिन्न दृष्टिकोण।[1] इन युगजीवी बिन्दुओं से सतत परिवर्तन के चक्र मे जन्म लेते व मरते मनुष्यों की जाति उत्पन्न हुई।

ये "मनु" समस्त अनेकात्मक सृष्टि के केन्द्र बिन्दु या उभयनिष्ठ बिंदु है जिन पर तराजू के काटे के समान सब कुछ संतुलित है।[2] दो उच्चतर स्तर (बाकी दो उच्चतर स्तरो को छोडते हुए क्योकि अव्यक्त होने के कारण वे प्रव्यक्त विश्व मे शामिल नही होते) मुख्यतः अंतर्मुखी हैं और इसीलिए इन्हे ब्रह्मचारी तपस्वियो से प्रतीयमान किया गया है। सब के नीचे के दो,[3] जीवधारियो के सदा परिवर्तनशील लोक, बहिर्मुखी स्वभाव के है और दोनो के बीचोबीच सतुलन बिंदुओ के समान है "मनु" जो स्वयं अपने मे स्थित होते है। इनसे या इनके द्वारा ही परिवर्तनशील प्राणी, मनु के पुत्र मानव, उत्पन्न होते है। ये मनु ईश्वर के पुत्र (Sons of God) होते है इसलिए अलावा इनके परम पिता तक पहुंचने का और कोई जरिया नही है। डेल्फीय देवासन पर अंकित था "अपने को जान" और जो भी उस पार के उच्चतर लोको मे जाना चाहता है उसे हृदय के अन्दर के संकरे द्वार को ढूढ उससे होकर ही जाना होगा।

विश्व के सब स्तरो पर अद्वय आत्मन् अतर्यामी सर्वव्यापी विभूति के रूप मे नामरूपों के साथ गुह्य योग द्वारा सयुक्त रहता है (पिछला अध्याय देखिए)।

श्लोक 7 इसीलिए कहा गया है कि जो इस विभूति यानी व्यापक शक्ति और परम योग को तत्त्वतः जानता है वह "उस" के साथ अविकल योग द्वारा जुड जाता है।

कृष्ण कहते है : "मै ही सबका उद्गम स्थान हू, मुझसे ही सब कुछ चलता है।" मूल प्रकृति के रूप मे वही सब नामरूपों के उद्गम स्थान है और अद्वय

श्लोक 8 परम आत्मन् के रूप मे उनका योग ही इन नामरूपो को गतिमान करता है। साधारण मनुष्य अनित्य छायाओ को ही देखता है और इन्ही मे अपनी आशाएं व अस्तित्व केंद्रित किए रहता है। ये आकृतियां आई और वह खुश हो जाता है,

1. मनु शब्द का प्रयोग वैष्णव पचरात्र आगम मे देखा जा सकता है। श्रेडर की "पचरात्र की प्रस्तावना" (Schrader's Introduction to the Panchratra) देखिए। यह स्तर उच्च मनस्, या अन्य प्रणालियो के "अहकार" के समरूप है।
2. इस स्तर को कभी-कभी "स्थानु" यानी स्थिर भी कहा जाता है और यही अध्याय आठ का "अधियज्ञ" है।
3. कठोपनिषद् के अनुसार "इद्रिया" व "इद्रिय विषय" यानी काम भाव तथा स्थूल जगत। विश्व का यह ढाचा ही उस प्राचीन प्रतीक का एक अर्थ है जो दो त्रिकोणों को उलटा एक के ऊपर दूसरा रख कर बनता है। ✡ (शिव के डमरू से तुलना कीजिए) ऊपर का त्रिकोण अस्तित्व के जगतो का प्रतीक है, नीचे का त्रिकोण परिवर्तनशील माया की धूपछाह के जगतो का प्रतीक है।

वे गई और उसका मन दुख मे डूब जाता है, और यही आना-जाना रोज लगा रहता है क्योकि नाम-रूप सदा स्थिर रह ही नही सकते। परन्तु इस प्रकार यह जानकर कि सब का स्रोत व प्राण एक ही है, शिष्य अपने चारो ओर की आकृतियो के बदलते रहने पर भी उस "एक" मे आनंदपूर्वक स्थित रहता है।

जो अपने को इस प्रकार "उस" मे स्थित कर पाते है और उसको सदैव प्रीतिपूर्वक भजते है उन्हे वह अद्वय बुद्धियोग प्रदान करता है जिसके द्वारा वे उस तक पहुच जाते है। बुद्धि वह ज्ञान है जो सबमे एक को देखता है। साथ ही यह वह क्षमता भी है जिससे ऐसी दृष्टि मिलती है। हम देख चुके है कि जीव कैसे अतर्मुखी और बहिर्मुखी शक्तियो के बीच सतुलित होता है। निम्न स्तरों से सयुक्त हो जीव बाहर की ओर प्रवाहित होकर नामरूपो मे चला जाता है और उनकी मृत्यु के साथ जैसे वह भी नष्ट हो जाता है। परन्तु उच्चतर स्तरो से सयुक्त हो वह निवृत्तिपरक विश्व-ज्वार के साथ वापस "घर की ओर" जाता है।

श्लोक 10

"उनके प्रति अनुकम्पा के कारण ही उनके अतरात्मा मे स्थित मै भासमान ज्ञानदीप द्वारा उनके अज्ञानजन्य अन्धकार का नाश करता हूं।"

श्लोक 11

यह नही समझना चाहिए कि यह अनुकम्पा किसी अविवेकी राजा की झक के समान की जाती है। सूर्य की किरणें तो सभी के ऊपर पड़ती है और उनके बिना सब का अंत हो जाता है, परन्तु जो अपने शरीर पर धूप की उष्णता को महसूस करना चाहे उसे अपनी बन्द गुफा से निकल कर बाहर खुली हवा मे आना पडेगा। ठीक ऐसे ही जो दैवी अनुकम्पा का अनुभव करना चाहे उसे अपने क्षुद्र अह की गुफा को छोडकर उच्चतर अस्तित्व को पाने का प्रयत्न करना पडेगा। उसे ऊपर उठने, अपने अह की चार दीवारियों को तोडकर बाहर निकलने, का प्रयास करना होगा ताकि आखिर वह घर वापस ले जाने वाले ज्वार की लहरो के स्पर्श का अनुभव करे और वे उसे बहा ले जायं।

अस्तित्व के उच्चतर स्तरो पर लहराती ये वापसी ज्वार की लहरे जिन्हे अक्सर "भगवत्कृपा"[1] की संज्ञा दी जाती है, असल मे वह दैवी करुणा है जो जीव

1. "कृपा" शब्द का उपयोग यदि करना ही हो तो सही तौर पर वह उस रहस्यमयी शक्ति के लिए करना चाहिए जिसके अस्तित्व को पूर्व और पाश्चात्य दोनो के ही अगम्यवादियो ने स्वीकार किया है। इस शक्ति का उपयोग कृष्ण और मानवीय गुरु दोनो ही करते हैं और यह इतनी गूढ है कि इसका बौद्धिक निरूपण करना बहुत कठिन है। बस हम इतना ही कह सकते है कि यह नितात स्वतत्र है और इसका मूलस्थान परम-सनातन अद्वय के उस पहलू मे है जो हम सब मे व्यक्तित्व के रूप में प्रव्यक्त होता है।

को अद्वय सनातन तक ले जाती है। परन्तु उनका अनुभव करने से पहले शिष्य को पूरी शक्ति लगाकर अति साहसिक भाव से कृष्ण से लगे रहना चाहिए और केवल अपने ही परिश्रम से कारागार की दीवारे तोडने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

जो यह कहता है कि "हमे भगवान दिखा दो बस इतना ही काफी है" उसके लिए यह जवाब है कि "तुझमे जो सर्वोच्च है वही भगवान है—उसका वह अंश जो तू अभी देख सकता है। इसे पकडे रह और तू उस तक पहुंच जाएगा।"

इस तरह कृष्ण से अनुरक्त रहने पर बुद्धि से छन कर आते हुए आत्मन् के प्रशात प्रकाश द्वारा मन चमक उठता है। इसका असर यह होता है कि मन का दिमागी ज्ञान बुद्धि के अतर्बोध से भासमान होकर और पक्का हो जाता है। गीता मे यह बात बारहवें तथा उसके बाद वाले श्लोकों द्वारा स्पष्ट दिखाई गई है।

श्लोक 12 "तू ही परंब्रह्म, परंधाम, पवित्र, दिव्य,शाश्वत पुरुष, आदि देव, अजन्मा और सर्वव्यापी है।"

अब तक यह सब कुछ पुराने ऋषि-मुनियो द्वारा अनुमोदित सुने-सुनाए अमूर्त ज्ञान के रूप मे था परन्तु "स्वयं चैव ब्रवीषि मे— अब तो तू स्वयं ही मुझ से यही कह रहा है।" एक नई उल्लासमय उष्णता, जिसका

श्लोक 13 स्रोत बुद्धि मे है, अब सारे मन को भर उसे उसकी क्षुद्रता से ऊपर उठा ले जाती है। मानसिक दृष्टि के सामने आधे पहचाने से नए दृश्य-क्रम आते है और जिन शब्दो व विचारो को पहले दिमागी तौर से ही सत्य समझा जाता था वे अब परिवर्तित होकर एक अज्ञात विचित्र प्रकाश में प्रभासपूर्ण हो उठते है। इस नई अनुभूति व उसके प्रभास का शब्दों मे वर्णन करने का प्रयास व्यर्थ है। वह तो अर्जुन के गद्गद शब्दो मे भरे रोमांच से ही स्पष्ट है। जैसे किसी रागहीन वाद्य पर यों ही उगलियां चलाते-चलाते अनायास सुमधुर सगीत वह निकला हो। अभी तक जो नीरस आत्मनिर्भर कहलाने वाले निरे दिमागी विचार थे अब उनसे मनोहर रागिनियां फूट निकलती है जिनकी प्रतिध्वनिया वहां भी गूजने लगती है जहां अभी तक सुनसान नजर आता था। अब कुछ भी पृथक् नही लगता बल्कि हर चीज एक-दूसरे से जुडी हुई और किसी विशाल व अद्भुत चित्र का अंग नजर आती है यद्यपि उसे पूरी तरह समझ पाना अभी सम्भव नही है।

इस धूमिल अर्ध-अनुभूति को सत्य ज्ञान के सूर्य प्रकाश मे परिणत करने के लिए अभी और आगे बढ़ने की आवश्यकता है। आत्मन् को आत्मन् ही प्राप्त

करता है ।[1] या जैसा गीता मे कहा गया है, "हे पुरुषोत्तम सब जीवधारियो के स्रोत, देवाधिदेव, जगतपति, तू अपने को अपने द्वारा ही जानता है ।"

श्लोक 15

बुद्धि भी स्वय अपने प्रकाश से प्रकाशित नही है । उससे भी परे होती है महत् आत्मन् की ज्योति, यानी सार्वभौमिक परिकल्पना, जिसमे भूत, वर्तमान व भविष्य काल के दैवी आदि रूप एक विशाल परस्पर अनुबधित सम्पूर्ण[2] के रूप मे स्थित होते है । यही है दैवी प्रकाश से भासमान विश्व का दिव्य रूप—पारलौकिक सत्-स्वरूपो की अद्भुत एकता ।

"वहा सब कुछ पारदर्शक है, न किसी प्रकार का अवरोध है न कोई अनजान है । सब सबसे पूरी तरह परिचित है—चौडाई मे भी गहराई मे भी; प्रकाश प्रकाश मे होकर बहता है । वहा व्यष्टि मे समष्टि का समावेश होता है और साथ ही व्यष्टि औरो मे भी सम्पूर्ण को देखता है । इस तरह सब तरफ पूर्ण ही पूर्ण है, सब पूर्ण है, प्रत्येक पूर्ण है और ऐश्वर्य असीम है । प्रत्येक महान है, क्षुद्र भी महान है : सूर्य वहा समस्त तारापुज है और हर तारा सब तारो व सूर्य के बराबर है । यद्यपि अस्तित्व का कोई ढग-विशेष प्रत्येक मे विशेष रूप से पाया जाता है, हर एक अन्य सब मे प्रतिबिंबित होता है ।[3]

ससार मे जो कुछ भी है वह उस दिव्य सत्ता के किसी अग के प्रतिबिंब होने के कारण ही है । उसके अदर समस्त अनेकताओ की एकता है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वह प्रव्यक्त अस्तित्व की उच्चतर सीमा है । उसके ऊपर जो कुछ है वह सब अव्यक्त है । अब जीव को बुद्धियुक्त होकर इस हिमशिखर का आरोहण करना होगा और पहले मानसिक चक्षु द्वारा और उसके बाद प्रत्यक्ष अतर्बोध द्वारा उन सब दिव्य विभूतियो को देखना होगा जिनसे सब लोको को भरते हुए "वह परम" स्थित है । यही वे दैवी परिकल्पनाएं है जिनका प्लैटो ने जिक्र किया है—वे सर्वव्यापक शक्तिया या विभूतिया जो इस अध्याय का विषय है ।

'दैवी परिकल्पनाओ' का अर्थ कितने ही कोरे पडितो के समान गलती से यह नही समझना चाहिए कि वे दार्शनिको की निर्जीव अमूर्त "सार्वभौमिक" धारणाएं

1. कठोपनिषद 1, 2, 23 के सुप्रसिद्ध शब्दो से तुलना कीजिए । "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" का अर्थ लगाया जा सकता है . "जिस (आत्मन्) को शिष्य चुनता है (यानी जिस पर अवलम्बित रहता है) उस (आत्मन्) के द्वारा ही वह प्राप्त होता है ।"
2. प्लाटाइनस से तुलना कीजिए · "इस तरह हम सार (यानी महत् आत्मन्) तक करीब-करीब ऐसे पहुचते हैं जैसे वह कोई इद्रिय विषय हो : बौद्धिक विश्व की अनुभूति ऐसे होती है जैसे वह जीव के ऊपर, उसके पिता के समान हो · अनेक तत्वीय लेकिन एक साथ ही अविभाज्य और भिन्नतापरक ।"
3. प्लाटाइनस, एनीड्स 5, ट्रेक्टेट 8

हैं।[1] यहां इंगित परिकल्पनाएं या विचार केवल मानसिक धारणाए नही है बल्कि सजीव अधिदैविक शक्तियां है जो गीता के अनुसार स्वयं अपने स्वभाव में नित्य रूप से स्थित हैं और संसार क्रम मे प्रतिविंबित हो विभिन्न जीवधारियों को उनका नामरूप व स्वभाव विशेष प्रदान करती हैं। वे जीवधारियो से निकाले गए सार रूप नही है बल्कि उनका निर्माण करने वाली और इस जगत की हर चीज का प्रतिमान है।

Out of the dark it wrought the heart of man
Out of dull shells the pheasants' pencilled neek :
ever at toil, it brings to loveliness
All ancient wrath and wreck.

"अंधेरे से मानव हृदय को है ढाला
और निष्प्रभ छिलको से खुमरी की माला
जुट कर बनाती ही जाती सदा ये
सौंदर्य प्राचीन वीभत्सता से।"

इस दैवी जगत तक पहुंचना ही अब शिष्य का लक्ष्य है और इसीलिए अर्जुन का कहना है :

"हे योगिन्[2] निरतर ध्यान द्वारा मैं तुझे किस प्रकार जानू ? और हे भगवन् मैं तेरे किन पहलुओं का चिंतन करूं ?"

दैवी वास्तविकताएं इन शारीरिक आखो द्वारा नही दिखाई देती और न ही किसी अधकचरी गुह्य विद्या की तथाकथित दूरदर्शी आखो से जो अधिक से अधिक मानसिक (psychic) जगत की वस्तुओ को ही देख सकती हैं। इन्हें तो केवल बुद्धि के दिव्य चक्षु से ही देखा जा सकता है।[3]

यद्यपि ये चक्षु अब शिष्य को उपलब्ध है लेकिन पहले उसे उन्हें खोलना सीखना पडेगा और फिर उनके उपयोग करने का अभ्यास करना होगा। जैसे अपनी समस्त विचारशक्तियो सहित मन प्रत्येक मनुष्य को जन्मसिद्ध अधिकार के समान मिलता है परतु इन शक्तियो को विकसित करने के लिए उसे लम्बा व कठिन परिश्रम करना पडता है वैसे ही जिस शिष्य ने मन को बुद्धि से संयुक्त कर

1. ऐसी धारणाए केवल मन द्वारा निर्मित चित्र ही होते है और यद्यपि वे 'दैवी परिकल्पनाओं" की ओर इशारा कर सकती हैं, सच्ची परिकल्पनाएं वे कभी नही हो सकती।
2. ध्यान दीजिए कि यहां कृष्ण को "योगी" कहकर सम्बोधित किया गया है क्योंकि इस स्तर पर ही "योगमैश्वरम" संपन्न होता है। यही अद्वय अव्यक्त शात आत्मन् अद्वय अव्यक्त मूल प्रकृति से सयुक्त होता है। पिछला अध्याय देखिए।
3 हर्मिस 6, 4 से तुलना कीजिए : "क्योंकि आंख के आगे आने वाली प्रत्येक वस्तु छाया वस्तु ही है यानी चित्र रूप है और जो आंख से न दीखे वही वास्तविक है।"

लिया है उसे अब धीरे-धीरे और प्रयत्नपूर्वक अपनी नई दृष्टि को विकसित करना होगा। जिस मानसिक जीवन मे वह अधिकांशतः आधारित रहा है उसका अब उच्च दृष्टि द्वारा रूपांतर करना होगा। जब जन्मांध को नेत्र मिल जाते है तो उसे यह नया इंद्रिय ज्ञान अनजान व अटपटा-सा लगता है और वह इस विचित्र ज्ञान का इस्तेमाल करने के बजाय कुछ समय तक अपने अतिविकसित स्पर्शज्ञान पर ही अधिक भरोसा करता है।

इसलिए गुरु अब एक ऐसी विधि बतलाते है जिसके अनुशासन द्वारा जीव बुद्धि-चक्षु का प्रयोग कर और उससे देखे अनोखे अनजान दृश्यो पर मन की दृष्टि[1] द्वारा देखे गए जाने-पहचाने दृश्यो से अधिक भरोसा कर सके।

आगे दिए गए श्लोको (20-42) को किसी वैयक्तिक ईश्वर की आत्म-प्रशसा नही समझना चाहिए जो आस्तिक जनो को इतनी प्रियहोती है। इस बात को एक बार फिर कह देना जरूरी है कि इन श्लोको का "मैं" सिर्फ वैयक्तिक कृष्ण ही नही[2] बल्कि महत् आत्मन् है। इन श्लोको मे वह व्यावहारिक विधि है जिससे जीव अपनी दृष्टि का प्रयोग करना और उस पर भरोसा करना सीख सकता है।

शिष्य को सब वस्तुओं मे उनकी पृथक् सत्ता के बजाय उस महत् आत्मन् को देखने के लिए कहा गया है जिसकी विभूतियो से उन्हे अपना नामरूप व स्वभाव प्राप्त होता है। संसार मे प्रत्येक प्रकार का प्राणी

श्लोक 20

जो कुछ भी है वह उन आत्मन् के ही किसी पहलू के प्रतिबिंब[3] के कारण है। यह प्रतिबिंब उन वस्तुओ मे अधिक स्पष्ट दिखाई देता है जो अपने-अपने वर्गों मे मुख्य है क्योकि उनमें दैवी आदि रूप सबसे अच्छी तरह प्रव्यक्त होता है। कृष्ण द्वारा दी गई

1. मन विश्लेषण और पृथकीकरण द्वारा देखता है और जीवन की एकता को पहलूओ की अनेकता मे बांट कर उन्हें आधुनिक विज्ञान के पटल पर कीट-पतगो की तरह लगा देता है। बुद्धि सब मे एकता देखती है और इसीलिए कृष्ण अर्जुन को सिखा रहे हैं कि यहां नीचे की दुनिया मे कैसे दैवी विभूतियो को देखना चाहिए।
2. श्लोक 37 मे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है जब वासुदेव के पुत्र वैयक्तिक कृष्ण कोई और है और बोलने वाला "मैं" कोई और।
3. "हमारे कहने का मतलब यह नही कि "चेतन" स्थानीय तौर पर पृथक् होकर "जड" मे ऐसे दीखता है जैसे पानी मे प्रतिबिंब। जड तो चेतन के साथ बराबर लगा हुआ है गोकि यह लगाव भौतिक सम्पर्क द्वारा नहीं होता और इस निकटता के कारण ही—क्योंकि उनको अलग-अलग रखा ही नही जा सकता—जड यथाशक्ति चेतन को ग्रहण कर लेता है परन्तु चेतन जड़ मे प्रवेश न करके स्व-परिमित रहता है।"

(प्लाटाइनस 6, 5 8)

लम्बी सूची का यही अर्थ है।[1] प्रत्येक वस्तु में देवों, मानवों अथवा ऋषियों में, तथाकथित "मृत" वस्तुओं में या मानसिक गुणों में, सब में "उस" को ही ढूंढ निकालना है और प्रत्येक वर्ग मे जो सर्वश्रेष्ठ हो उसमें ही "उसका" ध्यान करना है[2] क्योंकि सब जीवधारियों की आत्मा, उनका सच्चा स्वरूप, उनका आधार, वही है।

देवताओं को दिव्य व शक्तिमान कौन बनाता है? उस अद्वय की ज्योति व शक्ति। वेदों को पवित्र व पूज्य भी ज्ञान का प्राचीन मूलादर्श ही बनाता है।

श्लोक 21-28

क्या है वह जिसके कारण हममे पर्वतशिखरों को देखकर ऊपर उठने की आकांक्षा जाग उठती है, शीतल जल हमारे हृदय को ठंडा करता है, पेड़ो की सरसराहट हमारे कानों मे बात कहती है, पशुओ को देखकर हमारा हृदय क्षुब्ध होता है[3] या चमचमाते आयुधो को देखकर बांसों उछलने लगता है? इन सबमे अपनी विभूतियों द्वारा भासमान होते "उस" के अलावा और कुछ नही है। यदि हम "उसे" नाम देने की चेष्टायें भी करें तो वे सर्वथा अपर्याप्त और हमारी अपनी दुर्बलता की चिह्न ही होगी।

दुष्टता को ही सत्कर्म बताने वाले अति दुष्ट मनुष्य में, दुर्योधन के प्रचड अभियान में और शेक्सपियर के रिचर्ड तृतीय जैसे कुटिल व नृशस चरित्र मे भी

1. इस सूची में जितने भी पौराणिक नाम व प्रतीक आए हैं वे उन लोगो के हृदयो मे बिलकुल सजीव थे जिनके लिए गीता दो या तीन हजार वर्ष पहले लिखी गई थी, यद्यपि इनमें से कई अब हिन्दू मानस मे भी सजीव नही रह गए हैं। दृष्टांत के लिए यक्षो का राजा वित्तेश आज हमारे लिए अधिक से अधिक एक ऐसा प्रतीक है जिसका अर्थ बहुत ध्यानपूर्वक लगाना चाहिए और मोटी अक्ल वालो के लिए उसे केवल प्राचीन काल का कपोल-कल्पित व्यक्ति भी समझा जा सकता है, परन्तु उन दिनों अधिकाश जन समूह के लिए वह एक सचमुच का प्राणी था, ठीक ऐसे ही जैसे हमारे लिए कोई एस्कीमो हो, और कुछ लोगो के लिए तो वह एक ऐसा प्रतीक था जिसका तात्पर्य समझना कोई कठिन काम नही था।
2. प्लाटाइनस 6, 9 से तुलना कीजिए : "यहां वस्तुए चिह्न रूप होती हैं इसलिए समझदार शिक्षको को वे परमेश्वर तक पहुचने का रास्ता बताती हैं। ज्ञानी गुरु इन चिह्नों को पढकर पुण्य स्थानो मे प्रवेश कर सकता है और जो दुर्गम है उसकी झलक को असलियत में बदल सकता है।"
3. निम्न कोटि के पशुओ के प्रति असहिष्णु व तिरस्कारपूर्ण वर्ताव करने के बावजूद मनुष्य को उनमे किसी विचित्र आदर्श की अशातिदायक उपस्थिति का ज्ञान रहा है। तथाकथित आदिम जातियो के टोटमवाद (totemism) ईसापूर्व यूनानियो व ईसाइयो द्वारा तिरस्कृत प्राचीन मिस्रवासियो के पशु देवता और आकाश के राशि मण्डलो को पशु चिह्नो द्वारा इंगित करने की पद्धति का मूल कारण यही है।

हमे "उस" की मौजूदगी का भास होता है और वह
श्लोक 36 आश्चर्यमय ही नही सराहनीय भी लगता है—भले ही
हमारा नैतिक स्वभाव अपना रोष दिखाता रहे।

इन अनुभूतियो को केवल कवियो की कपोल-कल्पना मान कर बहुत-से लोगो की तरह यह नही कहना चाहिए कि हर जानवर महज एक जानवर है और तलवार बस लोहे का टुकड़ा भर है। जीवधारियों में जो मौजूदगी इस तरह महसूस होती है वह काल्पनिक नही बल्कि अभी तक धुधली-सी ही दिखाई देने वाली आंतरिक सच्चाई है। शिष्य को चाहिए कि अतर्बोध की इन अनुभूतियो को पकडे रह कर निरतर ध्यानाध्यास द्वारा उन्हे तब तक अधिक स्पष्ट बनाता रहे जब तक कि बाहरी नामरूप मिथ्या न लगने लगें जिनके अर्ध पारदर्शक खोलो के माध्यम के पीछे दैवी विभूतिया अपनी पूरी दिव्यता मे प्रकाशित होती हैं।

जैसे-जैसे शिष्य आगे बढेगा उसकी दृष्टि मे अतर आता जाएगा। इतना ही नही कि वह नामरूपों मे आध्यात्मिक विभूतियो को देखने लगेगा बल्कि उसे इसका भी स्पष्ट भान होने लगेगा—जबकि पहले वह सिर्फ ऐसा सोच ही पाता था कि सब कुछ एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है क्योकि ये दैवी विभूतियां स्वयं एक सजीव "पूर्ण" मे जुड़ी हुई होती है।[1]

"इस लोक मे सब कुछ किसी अश से निकला हुआ अंश ही है और आशिक से अधिक नही हो सकता। परन्तु "वहा" प्रत्येक सम्पूर्ण का एक नित्य फल है और एक ही साथ सम्पूर्ण भी है व उसकी विशिष्ट प्रव्यक्ति भी जो कि परादृष्टि को अपने असली सम्पूर्ण रूप मे दीखती है।"[2]

इस प्रकार द्रष्टा की आख के सामने हर एक वस्तु हर दूसरी से एक सार्वभौमिक सुविन्यास मे जुडी हुई होती है। हरियाली के फूल और गहन नीलाकाश के चमकते तारे एक ही है। इस साढे तीन हाथ के अस्थिपिंजर मे समस्त अतरिक्ष की हवाएं बहती है और मनुष्य के हृदय मे प्राचीन काल के उन साम्राज्यो की सब शानोशौकत और नृशंस सुदरता अभी भी मौजूद है जिनके भग्नावशेष अब मरुस्थलो या समुद्र की तरंगो के नीचे दबे है।

एक किंवदंती है कि किन्ही विशेष दिनो मे यदि कोई द्वारका नगर से समुद्र

1 इन सबंधो के धुंधले से अतर्बोध से ही कविता व कला को जीवन मिलता है। जिसे कवि धीमा-सा ही महसूस करता है और जिसे "उपमा" से अधिक मानने का उसे साहस नही होता उसे सजग द्रष्टा साफ-साफ देखता है। इन सबधो का उपयोग कबाला व अन्य पद्धतियो के काले व सफेद दोनो प्रकार के जादुओ का आवश्यक अग है।

2. प्लाटाइनस 5, 8

की ओर जाय तो कृष्ण की द्वीप नगरी की अट्टालिकाओ की हल्की-सी रूपरेखा लहरों के नीचे दिखाई दे जाती है। यह तो खैर कहानी ही है क्योंकि द्वारका तो वहां थी ही नहीं, परन्तु हमारे हृदय की तूफानग्रस्त सतह के नीचे लुप्त भूतकाल सदा मौजूद रहता है। इन गहराइयों मे अदृश्य प्राचीन काल के युद्ध लड़े जाते है, एटलांटिस (Atlantis) महाद्वीप की सभ्यता का उत्थान होता है और फिर गर्व के कारण पतन ; श्रीकृष्ण इस पृथ्वी पर चलते है और बुद्ध लोक-कल्याण के लिए गृहत्याग करते है।

समाप्त कुछ भी नही होता और सनातन महामनस् के जल की गहराइयो मे सब कुछ सदा के लिए संभाल कर रखा रहता है। जो भी अपने अंदर गोता लगा सकता है वह सार्वभौमिक हृदय मे निवास करता है और देख सकता है कि कैसे उसके विराट स्पदन कालचक्र को अपने परिवर्तनशील पथ पर भेजते है और कैसे वह चक्र शाश्वत की नीली गहराइयों मे वापस आता है।

कहा जाता है कि कमल के बीज मे एक छोटा-सा परिनिष्पन्न कमल होता है। ऐसे ही उस "पुरुषं महान्तम्" में सर्वभूतो[1] का सूक्ष्मातिसूक्ष्म बीज है— इंद्रियज्ञान से परे, दिव्य आध्यात्म लोक। यह अगणित बीज रूप भी है और एक अद्भुत महाबीज भी। यह मन की पहुंच के परे है परन्तु उच्चतर मन द्वारा गम्य भी है।

जो कुछ भी तेजस्वी, सुंदर या बलवान है वह उस परम सत्ता के एक अंश के प्रतिबिंब की आभा से ही भासमान होता है। संसार में हम व्यर्थ ही ऐसा प्रतीक ढूढते है जो उसकी सब विभूतियो का चित्रण कर सके।

श्लोक 40 प्राचीन मिस्र व कलदिया (chaldea) मे केवल तारो भरा आकाश ही उसका एकमात्र प्रतीक था— आकाश जिसके परस्पर सम्बंधित व सुगठित रूप तारागण ध्रुव के चारो ओर ज्योति एक्य मे घूमते है। परन्तु ब्रह्माण्ड की गहराइयो की सारी शोभाश्री और उसके मन को चकरा देने वाले देशकाल के परिणाम, जो साधारणतया

1 गीता 10, श्लोक 39-42 इसकी तथाकथित नासीन अभिलेख (Naassene document) से तुलना कीजिए। "अतएव उन (मिस्त्रियो) का बीज के सार (Essence of the seed) के बारे मे कहना है कि वह प्रजनन के ससार मे सब वस्तुओ को उत्पन्न तो करता है पर स्वय वह उनमे से कोई भी नही है। हर उत्पन्न हुई वस्तु को पैदा करते हुए उसकी भावना यह होती है कि "मैं जो इच्छा करूगा बन जाऊगा और जो मैं हू सो हूं।" इसलिए वह जो सबको गतिमान करता है स्वयं गतिशून्य है क्योकि वह जो है वही रहता है। वह सबका सृजन करता है पर स्वयं उनमे से कुछ भी नही बनता।" (मीड का अनुवाद)। स्टोइक (Stoic) दार्शनिको के बीज सिद्धान्तो (logoi spermafikoi) से भी तुलना कीजिए।

सनातन विधान और सौंदर्य के प्रतीक होते है, वे सव उस महत् आत्मन् के एक पल मात्र होते हैं— निस्सीम के ऊपर निस्सीम, सजीव आध्यात्मिक शक्तियों का अद्भुत क्रम जिसमे प्रत्येक प्रत्येक है और साथ ही प्रत्येक सम्पूर्ण भी है और सव आंनदविभोर हो ब्रह्माण्ड सामंजस्य[1] के संगीत के स्वरों के साथ नृत्यकर रहे होते है।

दैवी परिकल्पना का यह विश्वरूपी आध्यात्मिक स्तर चिंतन की पहुंच से तो वहुत दूर है ही परन्तु इससे भी वहुत दूर है "तत्", अद्वय सनातन, अमूल का मूल, परब्रह्म।[2] सव देवताओं से परे समस्त देशकाल के पार, समस्त अस्तित्व के पार उसकी सर्वातीत श्याम ज्योति जलती है।

इसी सनातन ब्रह्म से, समस्त चिंतन से वृहत्तर महत् आत्मन् निकलता है और विशद आकाश को भरने वाले अगणित विश्व भी। परन्तु वह स्वय इतना महान है कि ये सव अद्भुत प्रव्यक्तिया समुद्र से निकली एक वूद के वरावर है और वह कूलहीन समुद्र सदैव परिपूर्ण ही रहता है। इसलिए उस ब्रह्म की हैसियत से श्रीकृष्ण कहते हैं— "इस सारे संसार को अपने अशमात्र से स्थापित कर मैं फिर भी वना रहता हूं।"

"पूर्ण है वह और पूर्ण है यह भी
उस पूर्ण से यह पूर्ण आया
पूर्ण से पूर्ण निकाल लेने पर
वस्तुत: स्वय पूर्ण फिर भी वचा रहता है।[3]

1. इस ब्रह्माण्ड सामजस्य को पाययागोरस पथी "मण्डलो का सगीत" और वैदिक परम्परा "ऋत" कहती थी जिसका तात्पर्य था वह ब्रह्माण्ड व्यवस्था जिसमे देवताओ का वास था। जो पाठक वेदो मे केवल अव्यवस्थित वहुदेववाद या जो उनमे केवल नीरस ऐकेश्वरवाद ही देखते है वे दोनो ही गलत हैं। वहा एकता अवश्य थी परन्तु वह किसी वैयक्तिक सत्ता की नही वल्कि दैवी अवैयक्तिक ब्रह्माण्ड सुविन्यास की थी जिसमे इन्द्र, वरुण, अग्नि व अन्य देवताओ का अपना-अपना स्थान था।
2 सही-सही तौर पर तो महत् आत्मन् व परब्रह्म के वीच "अव्यक्त द्वय" होते हैं। यहा पर सुविधा के लिए उन्हे परब्रह्म में ही शामिल कर लिया गया है।
3. ईशोपनिषद् की शाति।

अध्याय 11

विश्व रूपदर्शन योग

ग्यारहवें अध्याय का प्रारम्भ होने पर हम शिष्य को एक ऐसे महान अनुभव के छोर पर पाते है जिसकी महानता के कारण बहुत-से जिज्ञासु यह समझ बैठते हैं कि वही अंतिम लक्ष्य है और उसके आगे कुछ है ही नही। यदि ऐसा होता तो इस अध्याय के साथ ही गीता भी समाप्त हो जाती। बहरहाल, जिसको यह दर्शन हो गया हो वह उस तीसरी मजिल पर पहुंच जाता है जिसे बौद्धजन अनागामी[1] कहते हैं और जिसके वाद वस एक ही और मंजिल तय करनी बाकी रहती है।

अब तक वुद्धि की मदद से मन जितना जान सकता है, तीन महान रहस्यों का कम से कम उतना ज्ञान हो गया है। पहला है उस सर्वातीत आत्मन् का महान रहस्य जो सबका उद्गम स्रोत होते हुए भी स्वयं सदा अविचल रहता है। इस नित्य की आख तले सीमित प्राणियों का निरंतर आवागमन वाला अनित्य संसार प्रवाहित हो निकलता है। इन दोनों के बीच की कड़ी है नित्य, अमर महत्[2] यानी वह आध्यात्मिक विश्व जो परिवर्तनो के बीच अपरिवर्त्य और अचलता मे चलायमान है।

श्लोक 1-2

उषा काल आ गया है, रात का अंधेरा जा चुका है। बस थोड़ी ही देर मे सूर्योदय होगा। और अधिक प्रकाश के लिए व्यग्र शिष्य आंखें फाड़ प्राची की ओर देख रहा है और अपने हृदय मे स्थित उस गुरु का आवाहन कर रहा है जो स्वयं उसका अपना उच्चतर स्वरूप—अखिल विश्व की आत्मा—ही है। यह

1. "अनागामी" का शब्दार्थ है जो फिर (जन्म लेकर) नही आता। सामान्य मत यह है कि अनागामी मृत्यु के उपरात किसी उच्चतर लोक से सीधा निर्वाण को प्राप्त होता है। परन्तु असली मतलव यह है कि आलय विज्ञान (महत् आत्मन्) को प्राप्त होकर वह सवके साथ एक हो जाता है और कभी यह नही सोचता कि 'मैं जन्म लेता हू या मरता हू"।
2. महत् आत्मन्

न जानते हुए कि यह दर्शन उसके अभी तक अवशेष क्षुद्र अहं को कितना विकराल लगेगा वह उस दिव्य स्वरूप को देखने की अभिलाषा लगाए है जिसे कोई मर्त्य प्राणी नही देख सकता।

श्लोक 4 "यदि तू मुझे उसे देखने के योग्य समझता है तो हे योगेश्वर! मुझे अपना अव्यय आत्मन् स्वरूप दिखा दे।"

इस परमेश्वर रूप को कोई शारीरिक आख नही देख सकती। केवल आत्मन् की सदा खुली रहने वाली आख ही आत्मन् को देख सकती है। परन्तु "जिसने अपने आतरिक चितन को संसार की माया के प्रति अजनवी वना लिया है"[1] और जो स्वयं अपने मे से ही होकर वाहर उस पार के जीवन मे निकल आ सकता है, उस शिष्य के लिए अव वह दैवी चक्षु उपलब्ध है जिनकी दिव्य दृष्टि से सव कुछ दिखाई देता है।

श्लोक 8

उसकी दृष्टि के सामने एक ऐसा प्रकाश फूट पड़ता है "जैसे दस हजार सूर्य आकाश मे एक साथ चमक रहे हो", और इस अति उज्ज्वल आध्यात्मिक ज्योति मे—जो अव आंतरिक चक्षुओ को चकाचौध नही कर पाती—वह महत् आत्मन् की अनेकानेक विभूतियां देखता है। वहां उस असीम सत्ता के शरीर मे वे सव विभूतिया है जिनको मनुष्य ने देवता समझ कर पूजा है और ये विभूतिया वहां अलग-अलग नही वलिक सम्पूर्ण की ही विभिन्न झाकियो के रूप मे है तथा एक-दूसरे से ऐसे गुथी हुई है कि देखने वाला यह नही जान पाता कि जो वह देख रहा है वह एक महत् सत्ता है या अलग-अलग अनेक शक्तियां।

श्लोक 12-13

विगत काल की तरह आज भी पथ पर चलने वालों को इस विराट रूप का दर्शन होता है और जिन्होने इसे देखा है, वे जानते हैं कि महत् आत्मन् के दृष्टिगोचर होने पर हृदय कैसे विस्मय व भयमिश्रित आनंदातिरिक से भर जाता है।

समस्त सांसरिक वस्तुओ के लिए मृतवत् हो, अपने से वाहर स्थित होकर शिष्य महाकाश को दिव्य प्रकाश मे कापते हुए नीलवर्ण के समान देखता है—प्रलय करने को आतुर एकत्रित हुए वज्र समूह, तूफानो से खलभलाता महासागर जिसमे भवर ग्रस्त जीव भरे पड़े हों, आतंकपूर्ण महानाद जो किसी विराट यंत्र की भांति विश्व के कोने-कोने तक पहुचने वाले ज्वार व भाटो को गतिमान कर रहा

1. हर्मिस, 13, 1
2. प्लाटाइनस, 5, 8 से तुलना कीजिए। "वह जो एक ईश्वर भी है व समस्त देवगण भी, जहां प्रत्येक सम्पूर्ण है और सव एकरूपता में घुले-मिले हैं—शक्तियो मे भिन्न परन्तु वास्तव मे एक ही वहुमुखी ऐश्वर्य।"

हो। परन्तु उस तूफान के पार शब्दातीत आनन्दमय अविचल शांति भासमान रहती है।

ये सब और अन्य बहुत-सी अवर्णनीय बाते शिष्य साफ-साफ देखता है जो कि साधारण मानवीय दृष्टि से इतनी स्पष्टता से नही दिखती। परन्तु ये सब भी उस अनंत की पृष्ठभूमि पर बने प्रतीक मात्र ही है जिसमे न तो नाद है न आकाश, न समुद्र है न भंवरऔर न किसी प्रकार का रूप ही है।[1]

दर्शन प्राप्त होने पर अति विस्मित शिष्य के हृदय मे गुह्य ज्ञान का स्रोता फूट पड़ता है और गद्‌गद कंठ से एक भावमय स्तुति के रूप मे प्रकट होता है।

उसे इस अनंत रूप मे महान सृजनात्मक शक्ति, ब्रह्मा, व इस जगत की हर चीज के मूलादर्श, अन्य देवगण, दिखाई देते है। ऊपर जाने वाला पथ, ध्यानमग्न ऋषिगण व दैवी प्रेरणा से सर्पपथ द्वारा नीचे आती काम शक्तियाँ[2] भी शिष्य को दिखाई देती है। सर्वभक्षी अनेक मुख, असीम सर्वदर्शी दृष्टि वाले नेत्र, सर्वनियंत्रक अगणित भुजाए, सर्वग्राही उदर, काल की प्रभुत्वपूर्ण गदा व उसका नित्य गतिमान चक्र, प्रभुता का किरीट—ये सब विश्व को भस्म कर देने वाले दीप्तिमान अप्रमेय अनल की ज्योति मे दीख पड़ते है।

श्लोक 15, 16, 17

सृष्टि के युगो भर अविनाशी रहने वाला यह परम पुरुष विश्व की मणियों को सभाल कर रखने वाले "परनिधान" के रूप में सदैव स्थित रहता है। विश्व व्यवस्था के रूप मे यही पुरुष शाश्वत धर्म यानी उस सिद्धांत को बनाए रहता है जिसके अनुसार सब वस्तुए सब वस्तुओ से त्रुटिरहित सामंजस्यपूर्ण रूप से जुड़ी होती है:

"It seeth every where and marketh all
Do right it recompenseth ! Do one wrong
The equal retribution must be made
Though Dharma tarry long."[3]

"सब पर सदा रहती है
सजग दृष्टि धर्म की।
शुभ फल हर भले का वह देता है
और, चाहे देर से हो,

1. ऐसे दर्शनो के लिए ही नही बल्कि हमारे साधारण अनुभव के लिए भी यह सच है। सब अनुभूतिया सरासर प्रतीकात्मक होती हैं। जब हम कोई लकड़ी का दरवाजा देखते हैं तो भी वास्तव मे ब्रह्म के एक पल का प्रतीक ही देखते हैं।
2. वैदिक सृष्टि सूक्त के मन्त्र 5 को परिशिष्ट "च" मे देखिए।
3. लाइट ऑफ एशिया

वरावर की वदली मिलती है हर कुकर्म की ।"

यही प्राचीन "स्वर्ग का मानव" (Heavenly man) या कवाला का आदम कादमोन (Adam kadmon) है। उसी की दो आंखे सूर्य और चंद्र यानी अधिदैव

और अधिभूत है।[1] उसका धधकता मुह। ("दीप्त हुताश-

श्लोक 19 वक्त्रं") समस्त विश्व को भस्म करता रहता है—एक

अनवरत यज्ञ मे स्वयं अपना ही भक्षण करता जग जीवन।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की तीन अवस्थाओ से वह कर आती हुई चेतना

की अजर-अमर चौथी—तुरीय—अवस्था अपने स्पदनों से

श्लोक 20 कंपायमान रहती है। यही वह ज्योति है जिसे देख तो सब

सकते हैं मगर छू कोई नही सकता।

प्राचीन युगो के महान गुरु, महर्षि व सिद्धगण भी इस दिव्य पुरुष मे किसी

अज्ञेय रूप से विद्यमान है। ईसा, कृष्ण, बुद्ध सभी वहां है

श्लोक 21 और जो भी किसी एक का भजन करता है वह उन सबके

ही निकट खिचता आता है।

यही पृथ्वी से आकाश तक के शून्य को भरने वाला "संतरगा" पुल है जिसका तथ्य सव देवताओ से वना है। ऊपर-नीचे जाती प्रकाश की तरंगें इस अद्वय का अनेकवर्ण वस्त्र वुनती है और इसी मे सुवर्ण ज्योति वाले प्रशांत आदित्यगण व अपने अग्निशिखा युक्त शूलो से नीचे की ओर वार करने वाले मरूद्‌गण[2] भी है।

परतु यह दृश्य भयावह भी है क्योंकि इसमे सव नामरूप समाप्त होते दिखाई देते है। दैव मे केवल वही रह सकता है जो दैवी हो और जो कुछ मान-

वीय है वह अंदर प्रवेश करते ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता

श्लोक 25 है। हमारे अदर जो अश तथाकथित "प्रकृति की नृशसता"

से डरता है, निर्मम समुद्र की लहरों से घबराता है, रूप या

व्यक्तित्व का परित्याग करने को तैयार नही होता, वह इस

विश्वरूप मे साक्षात् यमराज को अपने धधकते हुए वाहन पर आता देखता है।

जैसे भूचाल आने पर मनुष्यो की इतनी भयाकुल दशा केवल मृत्यु की आशंका से ही नही होती वल्कि इसलिए होती है कि स्थिरता की अचेतित प्रतीक, यह ठोस धरती, पैरो तले हिलने व खिसकने लगती है, वैसे ही विश्वरूप दर्शन मे अपने जाने-पहचाने थल चिह्नो को शून्य मे विलय होते देख क्षुद्र अहं

1. प्रश्न उपनिषद् 1, 5.
2 शब्दावली देखिए।

भयातुर हो जाता है। उसे कही भी टिके रहने भर की जगह नही मिलती क्योंकि सब कुछ प्रलयकाल की नाचती हुई अग्निशिखाओं में पिघला जाता है।

धृतराष्ट्र के सौ पुत्र यानी क्षुद्र अहं के विभिन्न पहलू, अंधविश्वास और प्राचीन परंपरा के प्रतीक भीष्म व द्रोण, आदर्शों पर पूर्ण निष्ठा से चलने लेकिन उन्हे अधिभौतिक स्तर पर ही स्वीकार करने वाला महावीर कर्ण, सबके सब अथक काल के दांतों में पिसे नजर आते हैं। हमारे ये अलग-अलग क्षुद्र अहं जिनसे हमे इतना मोह होता है, वास्तव मे मानसिक दशाओं की वे धाराएं है जो अटल कार्य-कारण विधान द्वारा एक-दूसरी से जुडी है, और काल के मैदान से गुजरती हुई तेजी से समुद्र की ओर बहती नदियों की तरह है।[1]

श्लोक 26, 28

अपने-अपने कर्मों के अनुसार सब नामरूप आते-जाते रहते है। वे स्थायी नही रहते। सूर्य की परिक्रमा करने वाले जगत भी दीपक के चारों ओर फड-फड़ाते पतंगो के समान ही हैं और इनकी कदीमी चट्टानें व "चिरस्थायी" पर्वत पतगो के पंखों के रोओं के समान धूल हो जाते है। कर्म की सूक्ष्म धाराओ के सिवाय और कुछ भी वाकी नही रहता और मनुष्य के लिए अदृश्य किंतु सर्वोत्तम इस्पात के तारो से भी अधिक शक्तिशाली ये धाराएं विश्व के प्रत्येक प्रतिरूप को पूर्वकालीन विश्वों से जोड़े रहती है।

श्लोक 29

इस विश्वभक्षी कालाग्नि को देख मनुष्य का सारा अहंकार अकथनीय भय से कांप उठता है। अब जाकर समझ मे आता है कि विश्व से बाहर स्थित मानव तुल्य किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर की कल्पना दुर्बल हृदयों के स्वप्न से वढकर और कुछ नही हैं और यह स्वप्न मानवीय आंखों से अकाल पुरुष के अनंत सागर की भीषण गहराइयो को छिपाने के अलावा और कुछ भी नही करता। "यह जगत-सुविन्यास जो समस्त प्राणियों के लिए एक ही है, न किसी देवता ने बनाया है न मनुष्य ने। यह तो सदा परिमाण मे जलाई व परिमाण मे बुझाई जाने वाली शाश्वत अग्नि थी, है और रहेगी।[2]

1. सम्वोधि प्राप्त करने की रात भगवान बुद्ध के अनुभव से तुलना कीजिए ''मानवीय दृष्टि से कई गुना श्रेष्ठ दिव्य चक्षु द्वारा मैंने ऊचे-नीचे, अच्छे-वुरे, सुखी-दुखी, विभिन्न प्राणियो को एक जगह से लुप्त होते और अन्य जगह प्रकट होते देखा। मैंने उन सवको अपने-अपने कर्मो के अनुसार फल भोगते देखा।" (मज्झिम निकाय, सुत्त 4)

   वैंयक्तिक अह के लिए उपयुक्त वौद्ध पद "सन्तान" से भी तुलना कीजिए जिसका अर्थ है "अविरत प्रवाह"।
2. हेराक्लाइटस, फ्रैगमेन्ट डी 30 (Heracleitus Fragment D 30)

यदि कोई कमज़ोर दिलवाला इस विश्वरूप का दर्शन कर ले तो वह घवराकर रूढि व रीतिरिवाज की दुनिया मे शरण लेना चाहेगा और अनत से और कोई प्रश्न पूछने की हिम्मत ही नही करेगा। परंतु परिपक्व शिष्य की सवल आत्मा, जो क्षुद्र अह मे नही वल्कि वुद्धि मे स्थित होती है, इससे गहरे ज्ञान की आकाक्षा रखती है और इन जलती चहारदीवारियो के पार अद्वय को ढूढती है। क्या है वह जो इस प्रकार सतत प्रवाहित होता है, वह विश्वानल जिसकी प्रज्वलित तरगे उसके हृदय को हमेशा थपथपाती रहती है?

श्लोक 31

आकाक्षा के साथ ही उत्तर भी मिल जाता है; जहा कोई वोलने वाला नही होता वही एक वाणी सुनाई देती है; आग की लहरों पर प्रकाश के अक्षर तैरते नज़र आते है; सहसा अपनी अतर्दृष्टि द्वारा शिष्य के समक्ष मे आता है कि वह जो देख रहा है वह उस महाकाल[1] की परिवर्तनमयता है जो जीव के आलावा अन्य सवके लिए मृत्यु है।" इस तरह काल के गर्जन करते करघे को मै चलाता हूं और परमेश्वर के लिए वह वस्त्र वुनता हूं जिसके कारण तू उसे देख पाता है।"[2] सब आकृतियां आती है और कालक्षय द्वारा नष्ट होकर वापस चली जाती है। परतु उपरोक्त वोध के वाद ऐसी किसी क्षति-व्यथा का अनुभव नही होता जैसा कि विलॉन (Villon) के इन शब्दो मे झलकता है: "गत वर्ष की वे हिम राशियां कहां गईं?" इसके विपरीत ऐसा लगता है जैसे किसी वड़े झझट से छुट्टी मिल गई हो—जैसे शिष्य ऐसी अटल चट्टान पर सुरक्षित खड़ा हो जिसके चारो ओर वरावर भयकर तूफान की लहरे गरज रही है। जैसे किसी पर्वत की चोटी से पथिक अपनी मजिल की ओर वलखाती सडक को देख लेता है वैसे ही इस अतर्दृष्टि के गिरि-शिखर से शिष्य अपना पथ देख लेता है और निश्चयपूर्वक जान लेता है कि सव अवरोध पार हो जाएगे।

श्लोक 32

पथ परम लक्ष्य से निकलता है और वापस वही लौट जाता है और ये दोनों

1. यहा जिस काल के वारे मे कहा जा रहा है वह गणित-भौतिकी का सैद्धातिक काल नही है जो घटनाओ के वीच के सवधो का मापन मात्र है। असली समय की आधारिक विशेषता, उसकी अप्रतिवर्त्यता, का कोई स्पष्ट कारण किसी वैज्ञानिक सिद्धात मे नही दिया जाता। यहा पर जिस महाकाल का जिक्र आया है वह विश्व को गति देने वाला आदि कारण है। इसका मूल दैवी चैतन्य मे है और यह स्वय इस चैतन्य का क्रियाशील पहलू है। चार आयामवाली देश-काल शृखला, जो केवल एक मानसिक रचना ही है, इस सिलसिले मे अप्रासगिक है। असली समय को समझने के लिए सवसे अच्छी शुरुआत होगी चेतना की चयनात्मक चितन क्षमता से।
2. गेटे (Goethe)।

ही आत्मा में स्थित है। आवागमन, बंधन, मुक्ति ये सब भ्रम है जिन्हें ज्ञान का प्रकाश मिटा देता है। लक्ष्य सदा अपने सुनहरे तेज से प्रदीप्त रहता है और एक मानी मे वही स्वयं पथ बन जाता है। लक्ष्य, पथ और पथिक सब एक ही हैं। अलावा अद्वय आत्मन् के, जो स्तब्ध होते हुए भी सदैव अपने अंदर श्वास लेता है, और कही कुछ है ही नही।

इस अद्भुत अंतर्दृष्टि का शब्दो मे वर्णन करना असभव है। इसमे सब वस्तुए एक-सी रहते हुए भी बदलती है। काल सपूर्ण सनातनत्व मे सशरीर स्फुरित हो जाता है; जिसे सतत प्रवाहित होने वाली धारा ही समझते थे वह स्वयं शाश्वत हो जाता है जो सदा गतिमान होते हुए भी अचल रहता है।

इस अंतर्दृष्टि से ही शिष्य उस अवस्था पर आ पहुचता है जिसे बौद्धजन अनागामी, याने फिर जन्म न लेने वाला, कहते है। सनातन की ज्योति मे जीवन और मृत्यु लुप्त हो जाते है और यद्यपि अभी कुछ रास्ता तय करना बाकी है, वह इस ज्ञान के साथ तय होगा कि स्वयं कृष्ण द्वारा "शत्रु पहले ही विजित हो चुके है" और इस पथ पर चलने वाला भी उनके अलावा और कोई नही है।

श्लोक 33

अंतर्दृष्टि के किरीट[1] से सुशोभित दीक्षित शिष्य अब महिमापूर्ण ज्योति रहस्य को निहारते हुए और उसके तेजोमय वस्त्राभूषणो से सज्जित परम सनातन की अर्चना मे लीन हो जाता है, और जो ब्रह्मज्ञान उसकी आत्मा मे अवतरित होता है उसे गद्‌गद कठ से एक और स्तुति मे व्यक्त करता है।

स्तुति के इन श्लोकों को जिनके समरूप हर्मिसीय परपरा के "पोमड्रिस" व "सीक्रेट सरमन ऑन दि माउन्ट" में देखे जा सकते है, बाह्य धर्मो की सामान्य स्तुति नही समझना चाहिए। मन मे प्रविष्ट सद् ज्ञान को मानसिक पदो मे अभिव्यक्त करने के प्रयास में लगे हुए मन का सहज प्रवाह इस स्तुति के रूप मे प्रकट हुआ है। महत् के स्पर्श से हुए क्षुद्र के रासायनिक सत्वातर जन्य अंतर्वेग को इसमे वाणी मिली है। पहला (श्लोक 15 आदि) और अब बाद के इस (श्लोक 36) स्तुति के अंतर पर ध्यान देना चाहिए। पूर्वोक्त श्लोक मुख्यत: उस भय को व्यक्त करते है जो कालाग्नि मे अपनी दुनिया को भस्म होते देख शिष्य के हृदय मे उत्पन्न होता हैं। दूसरी स्तुति उस प्रफुल्लित रोमांच की प्रव्यक्ति है जिसके साथ वह अग्नि शिखाओ के अदर दिव्य अधिदैविक विश्व को देखता है।

1 ध्यान दीजिए कि अब (श्लोक 35 मे) शिष्य को "किरीटी" कहा गया है। यह दीक्षितो को मिलने वाले ज्ञान किरीट की ओर सकेत है। इसकी समरूपता मिस्री ब्राह्मिक काण्ड मे आसिरिस (Osiris) द्वारा उपयुक्त "आतफ" (Atef) मुकुट मे मिलती है। मार्शम ऐडम्स (Marsham Adems) के अनुसार यह मुकुट प्रांगण पार कर सिंहासन के सामने पहुचने पर दीक्षित शिष्य के सिर पर रखा जाता है।

अपनी दृष्टि को अंतर्मुखी कर वह देखता है कि एक सजीव अधिदैविक विधान सब पर शासन करता है। ज्वार-भाटे के समान काम करने वाली दो महान शक्तिया समस्त लोको को चलाती है और दोनो ही प्राणमय अधिदैविक शक्तियाँ है। एक तो वह है जिसमे भयभीत हुए से राक्षसगण विश्व की सब दिशाओ मे भाग रहे है। यह बाहर जाती महान सृजनात्मक सास है जिससे न केवल सारे विश्व का देश-काल मे विस्तार होता है बल्कि विचार व भावना का समस्त आतंरिक जीवन बाहर की ओर जो मिले उसे खाने को दौडा रहता है।[1] आत्माधिकार-आग्रह व आत्मविस्तार की सर्वव्यापी इच्छा यही है और यही समर्थ की अतिजीविता या प्रकृति की घोर नृशंसता के रूप मे दिखाई देता है। युद्धो व स्वार्थी प्रतियोगिताओ का अदरूनी कारण भी यही है और इसी के प्रभाव से सब को अपनी-अपनी पड़ी रहती है चाहे बाकी सब भाड मे जाय। परंतु साथ ही यह मानव-मन को प्रेरित करने वाली वह शक्ति भी है जिसके प्रभाव मे मन की सीमाए बृहत्तर होती जाती हैं।

श्लोक 36

सिद्ध जनो द्वारा इगित दूसरी शक्ति निवृत्ति की है और यही "वापस घर ले जाने वाली" लहर है। इसके द्वारा अनुभव के सब मूल्यवान रत्न, "ससार वृक्ष के फल", एक बार फिर इकट्ठा होकर अद्वय आत्मन् की ओर ऐसे प्रेरित होते है जैसे विशाल नदियां समुद्र की ओर बहती है।[2]

शिष्य देखता है कि इन दोनों गतियो का उद्भव स्थान महत् आत्मन् ही है— सब प्राचीन रहस्यो का आदि पुरुष, विश्व का "पर निधान", अनत देवेश, वेत्ता व वेद्य का सयुक्त रूप। सार्वभौमिक परिकल्पन के वस्त्रो मे वह उस अचल सनातन को देखता है जो अकेला स्थित रहता है, जो सत है और असत भी है तथा इन दोनों के पार "तत्" भी जिसका कोई नाम नही और जिसका पूजन केवल मन के मौन से ही किया जा सकता है।

श्लोक 37-38

यहां गिनाए गए सात देवता, यानी विश्व के सात महान स्तर, इसी "एक" के अदर स्थित है। शिष्य इसके सामने अपना श्रद्धायुक्त हृदय उंडेल तो देना चाहता है पर उसकी समझ मे नही आता कि किस तरफ नमस्कार करे। जहा भी देखता है वही नजर आता है। जिस मिट्टी पर वह स्वयं खडा है वह भी अब पुनीत है। ऊपर नीचे,

श्लोक 39-40

1. सृष्टि के पौराणिक वृत्तात से तुलना कीजिए जिसमे ब्रह्मा ने पहले राक्षसो की रचना की। परन्तु वे ब्रह्मा को ही खाने के लिए दौडे। इसका अर्थ है कि प्रवृत्ति की शक्तिया यदि निरकुश छोड दी जाय तो वे तत्काल विश्व का क्षय कर देंगी।
2. इन दो गतियो के बारे मे और अधिक विवरण के लिए अध्याय 16 देखिए।

बाएं-दाएं सब जगह क्षुद्र मिट्टी के ढेले से लेकर सदैव सब संसारों के भी पार अपना प्रकाश फैलाने वाले शांत आत्मन् तक सब कुछ अपने अंदर रखे हुए वह "एक मेवाद्वितीयं" ही है।[1]

श्लोक 41-43

अब शिष्य ऐसा नही सोच सकता कि जिस हृदय मे स्थित गुरु की उसने पूजा की है, जो उसका रात-दिन का साथी था, वह कोई व्यक्तिगत पुरुष-मनुष्य या देवता था। इसके विपरीत वह यह देखता है कि चाहे रूप कुछ भी क्यों न रहा हो वास्तव मे वह नित्य सत्य की ज्योति ही थी, जो स्वयं पथ भी है और लक्ष्य भी, और जिसने प्रेमपूर्ण परंतु केवल प्रतीक रूप नेत्रों से झलक कर उसका पथ पर निर्देशन किया है।

श्लोक 44

परंतु जब तक वह स्वयं मानव है तब तक उसे नामरूप तो चाहिए ही। वह बहुत देर तक प्रचंड दिव्य ज्योति पर अपनी आख नही टिकाए रह सकता जो उसके अस्तित्व को क्षत-विक्षत किए दे रही है। कोई भी मानवीय मन व शरीर बहुत देर तक हिमशिखरों पर नही रह सकता। उसे नीचे उतरना ही पड़ेगा। इस प्रचंड ज्योति को पिता, प्रियतम या मित्र के परिचित रूप से ढकना ही पड़ेगा। अभी पथ की चौथी अवस्था पर चलना बाकी है और जब तक उसे शरीर की आवश्यकता है तब तक ज्योति को मानव रूप मे देखना ही होगा।[2]

1. हर्मिस ट्रिस्मेजिस्टस के इस भव्य स्तोत्र से तुलना कीजिए :

"Whither, again, am I to turn my eyes to sing Thy praise,
above, below, within, without ?
There is no way, no place is there about Thee,
nor any other thing of things that are
All are in Thee; all are from Thee,
O Thou who givest all and takest not,
For Thou . . art all and
there is nothing else which Thou art not"

Hermetic Corpus, V, 10

तेरे गुण गाने को किधर दृष्टि डालू मैं—
ऊपर या नीचे, भीतर या बाहर ?
कोई राह, कोई जगह ऐसी नही बस जो ही तेरी हो
नही, तेरे अलावा तो कुछ भी नहीं है।
जो कुछ है तुझमें ही, तुझसे ही है।
बिना कुछ लिए तू ही सबको देता है
तू ही तो सब कुछ है—कुछ ऐसा नही जो तू न हो।

हर्मिटिक कार्पस 5, 10

2. श्लोक 46 के चतुर्भुज रूप का अनुवाद "चार अंगवाला" (यानी दो हाथ व दो पैर वाला) करना चाहिए और अधिकतर किया गया "चार हाथ वाला" नही। "भुज"

[शेष पृष्ठ 114 पर]

इसलिए शिष्य एक बार फिर अपने हृदय व अन्य सबके हृदय मे स्थित अपने प्रिय सतगुरु का रूप देखता है यद्यपि विश्वरूप दर्शन की याद

श्लोक 46 दिलाने को यह रूप महाकाल के प्रतीक चक्र व गदा धारण किए है। अब वह जानता है कि जो उसके हृदय मे स्थित है वह कालातीत सिंहासन पर विराजने वाला है और चाहे युद्ध मे कैसे भी सकट क्यो न आएं उसकी अतिम विजय सुनिश्चित है क्योकि जो उसके हृदय का नाथ है वही समस्त जगतो का भी स्वामी है।

इस प्रकार आत्मन् के साथ योग स्थापित करने से उत्पन्न हुआ विराट रूप दर्शन समाप्त होता है परंतु उसका ज्ञान शिष्य के हृदय मे सदा शेष रहेगा। अब आगे उसकी सब समझ इस आतरिक ज्ञान पर ही अवलंबित

श्लोक 47 होनी होगी और यही उसके जीवन के कोलाहलपूर्ण वर्षों को सनातन शाति के क्षणो के समान बनाएगा। जो उसने देखा है उसे वह कभी भुलाए नही। उसे चाहिए कि "जो पूर्ण दीखता है उसकी शून्यता और जो शून्य दीखता है उसकी पूर्णता"[1] को हमेशा ध्यान मे रखे। उसके लिए कवि की अन्त:प्रेरणा के रूप मे नहीं बल्कि वास्तव मे यह होगा कि :

"...in a season of calm weather
Though inland far we be
Our souls have sight of that immortal sea
Which brought us hither,
Can in a moment travel thither
And see the children sport upon the shore
And hear its mighty waters rolling evermore"[2]

"शात स्तब्ध मौसम मे
चाहे हम तट से कितनी दूर भीतर हो

शब्द के अर्थ अग व हाथ दोनो ही हैं। श्लोक 49 व 51 मे स्पष्ट है कि यहा मानवीय रूप की बात हो रही है जिसके केवल चार अग हैं और प्रतीकात्मक विराट रूप वाले हजार हाथ-पैर नही। निस्सदेह विष्णु रूप मे चार हाथ होते है परन्तु महाभारत जैसे अतिप्राचीन ग्रन्थो मे कृष्ण के हमेशा साधारण मनुष्यो के समान दो हाथ बताए गए है। इस अर्थ के लिए मैं अपने मित्र पडित जगदीशचन्द्र चटर्जी विद्या वारिधि का आभारी हूँ।

1. दि वायस आफ सायलेन्स
2. वर्ड्सवर्थ कृत "ओड आन दि इटिमेशन्स आफ इम्मार्टेलिटी (Ode on the Intimations of Immortality)

वह अमर सागर जो यहा तक लाया
हमारी अंतर्दृष्टि से ओझल नही होता
क्षण भर की यात्रा मे ही वहां पहुंच
हम तट पर क्रीड़ामग्न बच्चो को देख
और सागर की सबल तरंगो की गर्जन सुन सकते है।"

तेरे अलावा—("त्वदन्येन")—मानव के अमर जीवात्मा के अलावा—न तो अवैयक्तिक ज्योतिपुज रूप देवता और न पृथक् मन व शरीर वाले मनुष्यों ने ही यह विश्वरूप कभी देखा है या देखेगे। कोई रहस्यमय कर्मकाण्ड, कोई शास्त्र अध्ययन, कोई कठोर तप, कोई दान इसे नही दिखा सकता क्योकि ये सब मन के दायरे तक ही सीमित होते है। केवल शाश्वत की ओर उन्मुख प्रेम की शक्ति—जो जीवात्मा की अपनी शक्ति है—प्रेम जो सदैव अपने को अर्पित करने मे रत रहता है, वही जीव को अद्वय आत्मन् के साथ युक्त कर इस विश्वरूप के दर्शन और अन्ततः इसमें प्रविष्टि करा सकता है।

श्लोक 47,54

इसलिए अध्याय का अंत उस पथ की अभिपुष्टि द्वारा होता है जो एक शुद्ध परमार्थिक पथ है और ऐसे रहस्यमय कर्मकाण्डों व बाह्य पुण्य कर्मों से नितांत भिन्न है जिन्हे कि आम तौर से धर्म की संज्ञा दी जाती है।

श्लोक 55

"हे अर्जुन, जो प्रेमपूर्वक अपने अहं को मुझे अर्पित करता है, मुझे अपना लक्ष्य मानता है, (सब जीवधारियो मे स्थित) मेरे लिए सब कर्म करता है, सब नामरूपों से आसक्ति रहित होता है और किसी से बैर नही करता, वह मुझे प्राप्त होता है।"[1]

1. श्री शंकराचार्य ने इस श्लोक को समस्त गीता का सार बताया है।

अध्याय 12

भक्ति योग

जैसा कि कहा जा चुका है, विश्व रूप दर्शन और परम लक्ष्य की प्राप्ति एक ही बात नही है। इस दर्शन की या पाश्चात्य अगम्यवाद के "दिव्य दर्शन" (Beatific Vision) को लक्ष्य समझ लेना गीता की संपूर्ण रूपरेखा की अवहेलना करना है। यह दर्शन बस दर्शन ही है, उपलब्धि नही। दर्शन की समाप्ति पर शिष्य फिर नामरूप के स्तर पर आ जाता है, यह हम देख ही चुके है। अभी लक्ष्य प्राप्ति से पहले उसे पूर्णरूप से सत्य मे स्थित होना सीखना पड़ेगा और अपनी निम्न प्रकृति के प्रत्येक अणु का तत्त्वांतर करना होगा। इस विषय पर आगे चलकर हम फिर आएंगे पर अभी तो हमे इस दर्शन से उत्पन्न हुई समस्याओ से निपटना है।

शिष्य ने सर्वभूतो मे व्यक्त अद्वय महाप्राण महत् आत्मन् का विराट रूप देखा है और उससे कहा गया है (11,54) कि केवल भक्ति द्वारा ही यह रूप देखा व उसमे प्रवेश किया जा सकता है। परंतु इस दर्शन मे ही उसने विश्व प्रक्रिया के पीछे अपरिवर्तनशील अव्यक्त की झलक भी देख ली है (11,37) और उसे संशय होता है कि प्रव्यक्त रूप की भक्ति व सबके हृदय मे स्थित अद्वय आत्मन् की सेवा से वह प्रव्यक्ति के पार कैसे पहुच सकता है। यह तो ठीक है कि सर्वभूतो के प्राण की भक्ति से वह उस प्राण तक पहुच जाएगा परतु यह भक्ति क्या इसके आगे भी ले जा सकती है? यह भक्ति क्या उसे वही पर ऐसे ही नही छोड़ देगी जैसे देवताओ की भक्ति मनुष्यो को स्वर्गिक सुख-भोग मे फसा छोड़ देती है। यह जानने पर कि इस महत् आत्मन् के पार अविनाशी अव्यक्त है, क्या उसे दृढतापूर्वक समस्त प्रव्यक्ति से मुह मोडकर सब नामरूपो से अलग होकर अपनी पूरी शक्ति से शून्य की ओर उडान भरने मे[1] नही लगा देनी चाहिए? क्या ये दो पथ भिन्न है? यदि हा तो कौन-सा श्रेष्ठ है?

श्लोक 1,2

1. The flight of the alone to the Alone प्लाटाइनस (6, 9, 11) एनोड्स (अनुवादक)

इस प्रश्न का उत्तर कृष्ण यह देते है कि जो सर्वभूतों में स्थित अद्वय प्राण रूप मे उनकी उपासना करते है तथा जो अवर्णनीय अचिंत्य सनातन की उपासना करते है वे दोनो ही उन्हें प्राप्त होते है, परंतु दूसरा वाला मार्ग उनके लिए अत्यधिक क्लेशपूर्ण है जिनका अपनी देह से लेशमात्र भी तादात्म्य है।

श्लोक 5

इस उत्तर को समझने के लिए याद रखना चाहिए कि अध्याय 3 के श्लोक 4 व उसके बाद के श्लोकों में कुछ सांख्यवादियों की इसलिए निंदा की गई है कि अव्यक्त लक्ष्य तक शुद्ध अमूर्तीकरण द्वारा पहुंचने का उनका प्रयत्न सर्वथा अव्यावहारिक है। निश्चय ही सब कर्मो से मुह मोडकर और नामरूप से रिश्ता तोडकर अव्यक्त तक नही पहुंचा जा सकता क्योकि ऐसा करना असभव है। ऐसे मार्ग के बारे मे मन ही मन चाहे कोई कितना ही क्यों न सोच ले पर वास्तव मे मार्ग यह नाम भर का ही है। निवृत्ति का मार्ग चराचर सृष्टि की अनुभवजन्य उपलब्धियों को बटोरने का पथ है, दुनिया से भागने और अनुभवो को यह कहकर अस्वीकार कर देने का पथ नही कि विश्व-प्रक्रिया स्रष्टा की एक ऐसी भयानक भूल है जो होनी ही नही चाहिए थी।

सच पूछा जाए तो बस एक ही पथ है और यदि हम इस अध्याय के श्लोक 4 मे दिए अव्यक्त के उपासकों के गुणों की श्लोक 13 से 19 मे दिए अद्वय आत्मन् के भक्त के गुणों से तुलना करें तो देखेंगे कि वे दरअसल एक ही है।

इंद्रिय अनुभव का परित्याग करने की असभव चेष्टा से नही बल्कि इद्रियो का संयम कर और सब रूपों से मुह मोडकर नही बल्कि सर्वत्र सब रूपो को समभाव से देखकर (समबुद्धयः) तथा संसार के सुख-दुख के प्रति कठोर उदासीनता रखकर नही बल्कि "सर्वभूतो के हित मे रत" रह कर ही अव्यक्त का सच्चा उपासक अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है।

श्लोक 4

यदि दोनों पथ वास्तव मे एक ही है तो फिर अव्यक्त वाले पथ की विशेष कठिनाई कहां है? कठिनाई इस बात मे है कि अव्यक्त के उपासक के पास ऐसा कुछ नही होता जिसपर वह अपना मन केंद्रित कर सके, क्योकि "वह एक" तो इद्रियातीत ही नही मनसातीत भी होता है। इसी बात को प्लाटाइनस ने बडी अच्छी तरह कहा है: "मुख्य कठिनाई यह है कि इस तत्त्व (यानी अद्वय) का बोध न तो जानने से उत्पन्न होता है और न उस शुद्ध बौद्धिक (noesis) द्वारा जो बौद्धिक तत्त्वो (विश्वरूप दर्शन मे देखी आध्यात्मिक शक्तियों) को ढूंढ निकालती है। यह बोध तो ज्ञानातीत अस्तित्व के जरिए होता है। हमारा मार्ग हमें समस्त ज्ञान के पार ले जाता है। एकता से भटक कर कही भी नही जाया जाता, ज्ञान व

श्लोक 5

ज्ञेय सब पीछे छोडने पडते है, ऊंची से ऊंची चिंतनीय वस्तु से भी परे जाना होता है। कारण यह है कि जो कुछ भी श्रेष्ठ है वह "उस" का उत्तरवर्ती है और उससे ही आता है ठीक वैसे ही जैसे सूर्य से दिन का पूरा प्रकाश।"[1]

यदि शिष्य "उस" को ईश्वर या सनातन मनस् के रूप मे लेता है तो भी जैसे प्लाटाइनस ने कहा है "वह 'उस' के प्रति ओछे विचार रखता है।" ईश्वर शब्द के प्रयोग मे व्यक्तित्व निहित है और सनातन मनस् उस "एक" से नीचे है क्योंकि वह सार्वभौमिक परिकल्पन का स्तर है। ऐसी महानीरवता मे शिष्य कैसे पहुचे ? कौन से कदम उठाए वह वहा तक जाने के लिए ? वह "एक" केवल विचार के ही परे नही है बल्कि प्रेम के सबल पंख भी, जो जीव को ऊपर की उड़ान पर ले जाते है, उस शून्यता मे व्यर्थ ही फडफडाते हैं और चोट खाया जीव निराश होकर गिर पडता है। नामरूप तो वह इस प्रकार गवा बैठा और फिर इनके पार अद्वय भी नही मिल पाया।

ऐसी दशा मे प्रेम रहित व नीरस होकर अपना सर्वनाश कर बैठना जीव के लिए बहुत सरल है। बाहरी दिखावे बनाए रखना तो सभव है परंतु अगर हृदय खोखला हो गया होता है और सब नामरूपो को ठुकराना तथा अपनी आत्मा को बंधनो से बचाने केप्रयत्न मे साधारण करुणा कृत्यो को करने से भी डरता हुआ शिष्य झूठे अव्यक्त पथ का अनुसरण करने लग जाता है। "वह निश्चय ही नष्ट हो जाएगा जो "मार" के इस डर से किसी मनुष्य की सहायता नही करता कि कहीं ऐसा करने मे वह अपने क्षुद्र अहं के लिए कर्म न कर बैठे।"[2]

इसीलिए श्रीकृष्ण दूसरे पथ पर चलने को कहते है जो जीवन की एकता पर आधारित प्रव्यक्त पथ है। अद्वय तो यहा भी वही है और लक्ष्य भी वही हैं परतु इस पथ पर वह अद्वय सबके हृदय मे प्रव्यक्त है। प्लेटो ने भी इसी पथ का जिक्र किया है जिसमे एक के प्रेम से अनेक के प्रेम की ओर, अधिभूत के प्रेम से अधिदैविक सौदर्य के प्रेम की ओर उठते हुए चरण शनैः-शनैः "उस" तक ले जाते है जो उस पार है। गोपियो द्वारा दिखाया गया पथ भी यही हे। पहले कृष्ण को उनकी इद्रिय सुलभ सुदरता के कारण प्रेम करना, फिर उनकी उपस्थिति का अभ्यास अपने हृदय मे करना और अन्ततः सारे अहभाव के समाप्त हो जाने पर उच्चतर स्तर पर उठ उनके सनातन पुरुप रूप से युक्त हो जाना।[3]

1. प्लाटाइनस 6, 93, कोष्ठो मे लिखा भाग स्पष्टता के लिए जोडा गया है।
2. वायस ऑफ साइलेन्स
3. कुछ मान्यता प्राप्त विचारो के विपरीत इस दृष्टिकोण की अभिपुष्टि के लिए श्रीमद्भागवत X 29, V 12, X 47, V 9 (व अन्य कई और जगह) पढें। इन तीन अवस्थाओ का वर्णन X 82, V 48 मे स्पष्ट है। बीच की अवस्था के लिए तो कई प्रमाण उद्धृत किए जा सकते हैं।

इस पथ पर शिष्य सब कर्म अपने लिए न कर प्रियतम के लिए करता है। प्रेम के लिए वह कर्म करता है, प्रेम ही के लिए वह बोलता है व विचरता है और इस तरह प्रेम के जरिए वह शीघ्र ही लक्ष्य तक उठ जाता है। जहा प्रेम है वहां कोई भी बलिदान बहुत बड़ा नही लगता। प्रेम के लिए तो पशु तक अपनी जान दे देते है और असंख्य मनुष्यो ने अपने प्रेम के पात्र देश, मानव या ईश्वर की सेवा के लिए भयंकर से भयंकर प्रकार की मृत्यु हंस कर स्वीकार की है तथा अपने प्राणोत्सर्ग मे गर्व का अनुभव किया है।

> In this is seen why there is hope for man
> And where we hold the wheel of life at will"[1]
> "इसीसे तो दिखता है कि मानव के लिए आशा क्यो है।
> और हम जीवन की नौका के कर्णधार कहां बन सकते है।"

सब मनुष्यो के हृदय में मौजूद यही वह शक्ति है जिससे सनातन के शिखर तक पहुंचा जा सकता है। लेकिन पहले कुछ ज्ञान व आंतरिक पथ पर चलने तथा लक्ष्य प्राप्ति की इच्छा होना जरूरी है। गीता में जिस जगह इस शक्ति का जिक्र आया है उससे भी यही इंगित होता है। इस ज्ञान, श्रद्धा अथवा आकांक्षा के बिना देह के पार जाने की अभिलापा नहीं रहती और स्वयं प्रेम भी क्षुद्र अहं द्वारा धूल मे घसीटा जा कर बस वासना बन कर रह जाता है और बर्बादी का कारण हो जाता है।

परन्तु यही प्रेम की शक्ति यदि ज्ञान तथा महत्वाकांक्षा के निर्देशन मे रहे तो जीव को ऊपर उठाने में उससे सबल और कुछ नही है। इसका प्रमाण इस तथ्य में देखा जा सकता है कि चाहे थोडे समय के लिए ही क्यों न हो, प्रेम की शक्ति एकदम साधारण से मनुष्यों के जीवन की भी कायापलट कर उसे सुंदर व सरस बना देती है। जिस बेखुदी को पाने के लिए योगी को बडे यत्न से अपने मन को नियंत्रित करने में कई वर्ष लगाने पड़ सकते हैं और जो उपलब्ध होने पर भी उस "बाग के बिरवा" के समान ही रहती है जिसे अपने को औरों से भिन्न समझने की प्रवृत्ति रूपी तुषार का खतरा बराबर बना रहता है, वही बेखुदी प्रेम की उर्वर भूमि में वन के विशाल वृक्ष के समान मजबूती से विकसित हो सकती है

ज्ञान व महत्वाकांक्षा की कमी के कारण ही प्रेम की तत्वांतर करने की शक्ति बहुधा इतनी अल्पायु होती है। जो प्रेम ज्ञान के निर्देशन में इतना शक्तिशाली होता है कि इस देह तक को अपनी उडान मे साथ ले जा सकता है वही प्रेम उस अज्ञान से अंधा होकर अपने पंख खो बैठता है जो बाहरी वस्तुओ

1 लाइट ऑफ एशिया। मूल मे 'this' की जगह 'thee' है।

को ही सब कुछ मानता है और उनके अलावा और किसी वास्तविकता को स्वीकार ही नही करता। इस प्रकार प्रेम भी पतित होकर इस मृत्युलोक मे आ गिरता है और सब मर्त्य वस्तुओ की गति को प्राप्त होता है।

"And or ever the garden's last petals are shed,
In the lips that had whispered, the hearts that had lightened
Love lies dead."

"बगिया का अंतिम फूल पत्ता भी झरेगा ही
प्यार की बातें कहने वाले अधरो के, हर्ष पूर्ण हृदयो के
साथ-साथ प्यार भी मरेगा ही।"

इसीलिए श्रीकृष्ण शिष्य से कहते है कि वह मन को बुद्धि संयुक्त कर उन मे ही लगाए रहे और इस प्रकार सर्वभूत मे व्याप्त अमर जीवन में वास करे।[1]

श्लोक 8

प्रारंभ मे कृष्ण के जिस रूप पर मन जाएगा वह वही मानवीय मूर्ति होगी जो शिष्य के हृदय को प्रेम व श्रद्धा से खीचे रहती है। प्रेम व भक्ति द्वारा पूजित यह मानवीय रूप जीव के लिए सनातन मानस का प्रतीक होगा और उसको अपने अनुरूप बना लेगा। जैसा कि प्लाटाइनस ने कहा है . "हम अपने आप को Nous, यानी अधिदैव (सनातन मनस्) के रूप मे ढाल लेते है; हम अपनी आत्मा को इस अधिदैव (Nous) के सुपुर्द कर लेते है और उसे पक्की तरह "उस" मे स्थिति कर देते है; इसके फलस्वरूप जो कुछ "वह" देखता है जीव भी जागकर वही देखने लगता है ; अधिदैव (Nous) के द्वारा ही हम "एकता" के दर्शन कर पाते है।" अतएव यदि ज्ञानचक्षु खुल जाय तो मूर्त रूप हृदय मे विराजमान हो जाएगा और उस प्रवेश द्वार का काम करेगा जिसमे से निकल कर जीव नीलाकाश की उडान भर सकता है।

परन्तु अपना पूर्ण अस्तित्व सनातन मनस् मे केन्द्रित करने की शक्ति एकदम ही नही आ जाती। निरंतर अभ्यास की आवश्यकता पडती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे इस प्रक्रिया का वर्णन काठ के टुकडो को घिसकर

श्लोक 9

आग जलाने की प्रक्रिया के दृष्टात से किया गया है : "अपने शरीर (यानी क्षुद्र अहं) को नीचे की लकडी तथा (चैतन्य की ज्योति के प्रतीक) प्रणव को ऊपर की लकड़ी बनाकर सतत ध्यानाभ्यास के घर्षण द्वारा अपने अदर छिपे ईश्वर को देखना चाहिए।"

1. यह याद रखना चाहिए कि प्रेम का आधार बुद्धि मे है। अध्याय 8 पृष्ठ 82 के नीचे की टीका देखिए।

सीधे-सादे शब्दों मे अभ्यास का मतलब है सदैव काम भाव से अपना मन खीच अपना तादात्म्य ऊंचे स्तरों से स्थापित करते रहना। यह प्रयास दोहरा होता है—एक तरफ तो घिसकर आग पैदा करने का प्रयत्न करना होता है, यानी अनुभव के विश्लेषणात्मक मनन द्वारा कार्यरत अहं को साक्षी स्वरूप से अलग करने का प्रयत्न और दूसरी तरफ इच्छाशक्ति द्वारा अपना तादात्म्य साक्षी के साथ स्थापित करने व वहां से कार्यरत अह पर शासन करने का प्रयत्न है। यदि इस दोहरे अभ्यास को निरंतर किया जाए तो अवश्य ही सफलता प्राप्त होती है और स्थायी तौर पर सनातन मनस् मे केन्द्रित हो जाने की क्षमता आ जाती है।

परन्तु यदि इस ध्यानाभ्यास को करने मे शिष्य अभी असमर्थ हो तो उसे कृष्ण की सेवा मे तत्पर रहना चाहिए। प्राण चाहे मानव मे हों चाहे पशु मे या वनस्पति में वह उस अद्वय सनातन महाप्राण का ही अवि-

श्लोक 10

र्भाव है जो सदैव अधिभूत पर अपना स्वामित्व व्यक्त करने मे प्रयत्नशील रहता है। सब चेष्टारत नामरूपो व सब क्षुद्र व्यक्तित्वों के पीछे महाप्राण का सागर लहराता और नाम रूप के तंग दायरे पर टक्करे मारता रहता है। शिष्य को ऐसा जीवन-यापन करना चाहिए जिससे उसके समस्त कर्म इस महाप्राण की प्रव्यक्ति मे सहायक हो सके। "उसे प्रकृति की सहायता व उससे सहयोग करना चाहिए" और निरतर सबके हृदय मे बराबर स्थित सौंदर्य आनंद व शक्ति को रोकने वाली बाधाओ को हटाने मे लगे रहना चाहिए। इस तरह एक समय आएगा जब वह अपने आपको भूलकर उस महाप्राण के साथ एक हो जाएगा जिसे उसने अपना हृदय अर्पण कर दिया है। इस तरह सब कर्म कृष्ण के लिए करते हुए वह अपने लक्ष्य पर पहुंच जाएगा।

यदि यह निस्वार्थ प्रेम प्रेरित कर्म भी अभी अपनी पहुंच के बाहर हो तो भी एक रास्ता बाकी है: शिष्य अपने कर्म तो करे परन्तु कर्म-फल का त्याग कर दे। लोकहित के लिए कर्म करने मे अशक्त ऐसा व्यक्ति

श्लोक 11

कर्मो को अपने लिए कर तो ले परन्तु उन्हे केवल कर्तव्य समझे। जो ठीक है वह करे परन्तु फल उस शक्ति के हवाले कर दे जिसे कोई ईश्वर और कोई सनातन विधान कहते है।[1]

1. इन दो प्रकार के कर्मों मे अंतर यह है कि पहला शिष्य सबमे व्याप्त आत्मन् की सेवा के विचार से कर्म करता है परन्तु दूसरे के मन मे ऐसे कोई स्पष्ट विचार नही होते और जिसे वह अपने लिए ठीक समझता है करता है। पहला भूखो को प्रेमवश भोजन देता है दूसरा इसलिए कि उसे मालूम है, कि दानशील होना अच्छी बात है।

इस कर्तव्यपरायणता तक पहुंचने के लिए उसे कृष्ण के उस योग यानी "योग-मैश्वरम्" पर आश्रित होना होगा जिसमे सनातन ज्योति नामरूपों से संयोग तो करती है लेकिन फिर भी उनसे सदैव पृथक् ही रहती है। व्यावहारिक रूप मे इसका अर्थ है कि शिष्य को बुद्धि में, यानी निश्चयात्मक ज्ञान देने वाली क्षमता मे आश्रय लेना चाहिए। इससे भी पहले की अवस्थाओ मे जब बुद्धि भी अपनी पहुंच के बाहर हो तब अपने निम्न मनस् को "सजय" यानी उच्चतर मनस् या "आत्मा की आवाज" से संयुक्त कर इस आवाज के कहने पर ही चलना चाहिए। जैसा कि हम देख चुके है आत्मा की आवाज एक प्रकार से बुद्धि का ही प्रतिबिब है। प्रमुख अतर यह है कि बुद्धि सत्य को एक सर्वग्राही सपूर्ण के रूप मे देखती है जबकि आत्मा की आवाज स्वयं विशिष्टीकरण की सीमा से इधर का तत्त्व होने के कारण अनेको मे से उस एक दृष्टिकोण को ही देख पाती है जो इस समय के लिए उपयुक्त हो और केवल उस ही के बारे मे निश्चयात्मक रूप से कुछ कह पाती है।

बुद्धि एक ऐसी ज्ञानशक्ति है जो होती तो सबके पास है परन्तु उसका उपयोग कुछ ही लोग करते है। वह आखो के बीच की ज्योति व हृदय मे बिना आवाज बोलने वाली वाणी है। इस ज्योति को देखने के लिए शारीरिक आंखों को बंद करना और इस वाणी को सुनने के लिए शारीरिक कानो को बहरा कर लेना होता है। चाहे थोडी देर के लिए ही सही जब कभी कामना का कोलाहल बन्द हो जाता है तब जाकर ही उस आतरिक शिक्षक की आवाज सुनाई देती है जिसे कृष्ण की वाणी कहते है। इसके स्वरों के निर्देशन मे शिष्य को अपने सामने कर्तव्य-पथ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है और अगर वह उस पर कदम बढाएगा तो वह अपने हृदय के द्वन्द्वो को पार करता जाएगा।

यह सबसे सरल मार्ग है, इससे सरल मार्ग की माग करना बच्चो की तरह चन्दामामा की माग करना है—शाश्वत के लौह द्वार को निर्बल पंखो से तोड़ने का प्रयत्न है या उसे प्राप्त करने की कोशिश करना है जो न कभी था न कभी होगा ही। कर्मफल त्याग करने के मार्ग की, सर्वश्रेष्ठ बताकर, सराहना इसलिए की गई है कि क्योकि वह अन्य सब मार्गो से सरल है और उस पर चलने से अन्य सब पर स्वय ही पहुंचा जाता है। फल त्याग करने से हृदय मे शांति भर जाती है और इस शाति मे अभ्यास योग संभव हो जाता है। अभ्यास से सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है और वह अविचल ध्यानावस्था मिल जाती है जिसमे सोते, जागते, काम करते, आराम करते, सभी दशाओ मे आंतरिक स्वरूप सनातन मे स्थित रहता है।

श्लोक 12

कुछ लोग कहेगे कि अब यहा पहुंच कर यह असमर्थता की बात करने का क्या मतलब ? सरल मार्ग पर चलने का आग्रह क्यो किया जा रहा है ? प्रारं-

भिक अवस्थाएं तो वहुत पहले पार हो चुकी है, दिव्य विश्वरूप के दर्शन तक हो चुके है, फिर ये वाते कैसी ? ऐसी शंका से यही पता चलता है कि पूछने वाला इस पथ पर चढ़ने की विधि से अनभिज्ञ है। वडी-वडी चढाइया जरूर पार हो गई है, परन्तु संपूर्ण अस्तित्व द्वारा नही। किसी खडी चढाई पर चढने वाला पहले अपने हाथो से पकड़ मे आने वाली कोई चीज ढूढता है और फिर उसे मजवूती से पकड पूरी शक्ति से अपने शरीर को ऊपर खीचता है। ऐसे ही इस पथ का आरोही भी अपने मे जो कुछ श्रेष्ठतम है उससे तत्त्वदर्शन रूपी पकड़ प्राप्त करता है परन्तु इसके वाद उसे अपनी निम्न प्रकृति को तव तक ऊपर खीचते रहना पड़ता है जव तक वह दृढता से शिखर पर खड़ा न हो जाए।

यह प्रश्न प्लाटाइनस ने भी पूछा है कि जीव उपलब्धि के जिस स्तर पर पहुंच गया है उसे वनाए क्यों नही रख सकता और फिर उत्तर दिया है कि "कारण यह है कि वह अभी पूरी तरह मुक्त नही हुआ है। परन्तु एक समय आएगा जव अविच्छिन्न तत्त्वदर्शन हो जाएगा व शरीर जीव के रास्ते मे वाधा नही रहेगा। ये वाधाएं हमारे अंदर के उस अश को आक्रांत नही करती जिसने निश्चयात्मक दर्शन प्राप्त कर लिया हो। ये तो जीव के दूसरे पक्ष को कष्ट देती है और यह भी तभी होता है जव हम दर्शन की स्मृति से ध्यान हटा प्रमाण, तर्क, युक्ति इत्यादि मानसिक उपकरणों से ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं।"

इसीलिए शिक्षण को इस प्रकार दुहराया जा रहा है। जो अभी तक अंश-मात्र के लिए किया गया था वह अव फिर संपूर्ण अस्तित्व के लिए करना पड़ेगा ताकि पूरी तरह नवजीवन प्राप्त किया जा सके और दर्शन जन्य स्फुरणा का प्रकाश विंदु अधकार के पार अविक्षुब्ध दीप्तिमान सूर्य के समान प्रज्वलित हो सके।

अव श्लोक 13 से अध्याय के अंत तक श्रीकृष्ण भक्ति पथ पर चलने वाले व्यक्ति के गुणो का वर्णन करते है। यह तो कहा ही जा चुका है कि तत्त्वतः ये गुण वही है जो अव्यक्त के सच्चे पथ पर चलने वालो के है। वहुधा वहुत-से लोग भक्ति-पथ का अर्थ अनियमित भावावेश मे अजाना लगाते है। असली भक्ति पथ क्या है इन श्लोकों के अध्ययन से समझ मे आ जाएगा। शिष्य को इन गुणों को अपने चरित्र मे उतारना चाहिए।

असली भक्त किसी से द्वेष भाव न रखता हुआ सबको प्रेम व करुणा की दृष्टि से देखता है क्योकि उसे मालूम है कि जो मित्र के समान मुस्कराता है या
जो शत्रु के समान तेवर चढाता है वह वही अद्वय महाप्राण है

श्लोक 13 जो अगणित अनित्य नामरूपो के जरिए व्यक्त होने की चेष्टा में लगा है।

यह जानते हुए कि उसके सारे सुख-दुख उसी के पिछले कर्मो के फल है वह सदा सतुष्ट रहता है और किसी भी सीमित सासारिक वस्तु को प्राप्त करने की

चेष्टा नही करता, वल्कि बुद्धि के द्वारा मन को अद्वय सनातन में लगाए वह समय के तूफान के बीच अटल चट्टान के समान खडा रहता है। वह न तो किसी के सताप का कारण वनता है और न ही किसी के

श्लोक 14-15

वचन अथवा कर्म द्वारा स्वयं संतप्त होता है क्योकि उसे भली प्रकार ज्ञात होता है कि कष्ट अविवार्यत: उसी के पास वापस लौट आता है जो कष्ट का कारण वनता है। इसलिए वह भूले से भी अपने सच्चे स्वरूप यानी अन्य प्राणियो के कष्ट का कारण नही वनना चाहता। जो दूसरो के कटु वचनो पर दुखी होता है वह उस दीवार के समान होता है जिससे टकरा कर वह दुख वापस वोलने वाले के ही पास जा पहुचता है, परन्तु जिसने सव भय, उल्लास व व्यग्र क्रोध पर कावू पा लिया है वह सब कुछ शातिपूर्वक समाहित कर लेने वाले समुद्र के समान होता है। इस प्रकार संसार मे कुल जितना कष्ट व द्वेष है वह वास्तव मे कम हो जाता है और अव हमारी समझ मे वुद्ध के ये शव्द आने लगते है : "द्वेप का अत द्वेप से नही प्रेम से होता है; यही सनातन विधान है।"

अपने लिए किसी वस्तु की इच्छा न रखते हुए भक्त सव समारम्भो का परित्याग कर देने वाला होता है। इसका अर्थ है कि वह सव कर्म फल त्याग देता है क्योकि, जैसा आगे चलकर वताया जाएगा,[1] स्वय

श्लोक 16

कर्म का त्याग शरीरधारी लोगो के लिए न तो उचित है न सभव ही। सव मे स्थित उस "एक" के लिए ही कर्म करने वाले इस भक्त के सव कर्म दक्ष, पवित्र और शांत होते है। "दक्ष" शव्द पर ध्यान दीजिए। ऐसे भी वहुत-से होते है जो भक्ति के नाम पर अपने हाथ से जीवन की वागडोर खिसक जाने देते है और सव कामो को किसी तरह गिरते-पडते पूरा कर आध्यात्मिकता के वहाने अपनी अव्यावहारिकता पर पर्दा डालने की चेष्टा करते है। सच्चा शिष्य भावावेश लीन, दिन मे तारे देखने वाला नही होता जो कि शाश्वत प्रकाश से ऐसा चकाचौध हो गया हो कि यहा की छायाओ मे वह अपना रास्त ही न देख सके। इसके विपरीत क्योकि "योग: कर्मसु कौशलम्-योग कर्म मे कुशलता है", वह सव काम औरो से अधिक कुशलता-पूर्वक कर यह दिखाता है कि इस पथ का प्रयोजन ससार पर स्वामित्व स्थापित करना है, न कि उससे दुम दवाकर भागना।

यदि कर्म में कुशलता योग की एक परिभाषा है तो समत्व[2] यानी मन का सतुलन, दूसरी परिभाषा समझिए। साधारण मनुष्य ठड-गर्मी, सुख-दुख, मित्रता-

1. गीता अध्याय 18, श्लोक 2 व 11 देखिए जहा इस विपय का विस्तारपूर्वक वर्णन है।
2. गीता अध्याय 2, श्लोक 48

शत्रुता, आकर्षण-प्रत्याकर्षण इत्यादि द्वन्द्वों के वश मे होता है। उनका पूरा जीवन ही इन द्वंद्वो के चक्कर मे घूमते गुजरता है। परतु योगी वह है जिसका मन इनके प्रभावो के बीच संतुलित हो और जिसका जीवन आकर्षण-प्रत्याकर्षण की अंधी शक्तियो के वशीभूत न होकर सब मे व्याप्त "एक" आत्मन् की सेवा की गहन महत्वाकांक्षा से प्रेरित हो।

श्लोक 17, 18

सत्कर्म व दुष्कर्म के बारे मे लोगों की सामान्य धारणाएं भी इस योगी के कर्मो को विचलित नही करती। अपने कृत्यो की सफाई या अपने शत्रुओं को दोष देने के लिए मनुष्य सदा इन दो महान शब्दों की दुहाई देते आए है परन्तु ये अधिक से अधिक मन द्वारा निर्मित धारणाए ही है और योगी के कुछ मतलब की नही, क्योकि इनकी स्थिति तो मनोनीत क्षेत्र मे होती है। इसलिए वह इन दोनो के पार जाकर केवल परम विधान को ही मानता है जिसके अनुसार उसे शाश्वत जीवन की, नामरूपो मे प्रभासित होने या उनसे छिपने की, अनन्त लीला मे अपना योगदान करना होता है।

अपने कर्मो के कारण हुई अपनी सराहना व निन्दा के प्रति वह एकदम उदासीन रहता है, भले ही उसके कर्म मनुष्यो के प्रचलित व नैतिक मानदंडो के अनुकूल ही या, जैसा कभी-कभी देखने मे आता है, अधिकांश लोगो, यहां तक कि अधिकाश भले आदमियो के भी, विचारो के प्रतिकूल हो। यह एक खतरनाक सिद्धांत जैसा लग सकता है पर है यह सच। जिसे अधिकांश लोग सदाचार कहते है उसका मतलव कर्मो उनके फलो से संबंधित होता है और, जैसा कि हम देख आए है, शिष्य व्यक्तिगत कर्म-फल का परित्याग कर चुका है। परन्तु वह नितात उच्छृंखल या अनुशासनहीन नही होता क्योकि वह उस सर्वातीत नियम यानी सनातन विधान को मानता है जिसका अर्थ है हृदय मे स्थित परम गुरु की आज्ञा का पालन करना।[1] हृदय के अदर की इस मौन वाणी के सामने संसार के मानदंडो का कलरव नगण्य हो जाता है। सदैव उस अतर्यामी की वाणी को सुनते हुए वह अपना काम अविचल होकर करता रहता है—"पृथ्वी की तरह अविचल, खंभे के समान दृढ, तरंगहीन सरोवर की भाति निर्मल।"[2]

श्लोक 19

1. इस कथन का अर्थ सामान्य अनैतिकता की अभिपुष्टि नही समझना चाहिए। ये शब्द केवल उस शिष्य पर ही लागू होते है जो इतना अहकारहीन हो कि सदा गुरु की वाणी को सुन सकता हो, इतना सतुलित हो कि उस वाणी व अन्य आवाजो का भेद पहचान सके और इतना भक्तिमय हो कि उसकी आज्ञा का पालन कर सके। जब तक यह न हो तब तक सिर्फ दिमागी समझ से प्रचलित नैतिक व शिष्ट आचार-विचारो के खोखलेपन को जानकर ही उनकी अवहेलना नही करनी चाहिए। इस सिलसिले मे जर्मन दार्शनिक नीत्से (Nietzsche) की दुर्गति को चेतावनी समझना चाहिए।
2. धम्मपद।

जैसे शुद्ध पर्वतीय समीर देवदार के वृक्षों मे वहता हुआ सव का परागण तो करता जाता है पर किसी पर आसक्त होकर रुक नही जाता, वैसे ही शिष्य भी जनसमुदाय के बीच रहता है। चाहे वह वड़े-बडे नगरो मे रहे चाहे पर्वत शिखर पर, होता वह वेघर (अनिकेत:) ही है क्योकि वह चाहे सव सामाजिक कर्तव्य निभाता रहे फिर भी वह कुल, जाति, धर्म इत्यादि के वधनोसे मुक्त होता है। हार्मिस के शब्दों मे उसने "अपना तम्वू उखाड़ लिया है" और चाहे वह वाहर से सन्यासी के वस्त्र न भी धारण करे लेकिन संसार मे कोई जगह ऐसी नही जिसके वारे मे वह यह महसूस करता हो कि "यह मेरी है, मैं यहा का हूं।"

श्लोक 19

यह है भक्ति पथ । जो इस पथ पर अपने मोक्ष के लिए नही वल्कि शरणागत पथिको को सच्चा जीवनामृत प्रदान करने वाले उस शाश्वत की सेवा[1] भावना से चलते है, नित्य कृष्ण के वे सेवक, संसार के चूडामणि, वे प्रिय शिष्य अंधकार मे ज्योति पुजो के समान चमकते है।

1. 'पुर्युपासना' का मुख्य अर्थ है "परिचर्या करना, सेवा करना।" सामान्यत. किया गया अर्थ "पूजा करना" गौण है और इस प्रसग मे वास्तविक अर्थ को छिपा देता है।

अध्याय 13

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग

अव हम गीता के तीसरे अनुभाग के प्रारम्भ मे आ पहुंचे है और इस अध्याय को शुरू करने से पहले यहां कुछ आम बातें कह देना जरूरी मालूम होता है। अंतिम छै अध्यायों के इस खण्ड मे दार्शनिक शिक्षण विस्तारपूर्वक दिया गया है। इनमे से कई शिक्षाओं का जिक्र पहले भी आया था लेकिन वही पर इनका विस्तृत विवरण दिया जाता तो इससे विवेचना का धाराप्रवाह भग हो जाता। यही नही पथ की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे रीतिबद्ध व्याख्या पर जरूरत से ज्यादा जोर देने से अन्त:प्रेरणा की अनुभूति की जगह केवल दिमागी पकड़ ही विकसित होती है। परन्तु यह फिर से याद दिलाने वाली बात है कि यह पथ संसार का स्वामित्व प्राप्त कराने वाला पथ है और अव, जबकि दिव्य दर्शन की ऊंचाइयां शिष्य की पकड़ मे आ गई है, यह जरूरी है कि आध्यात्मिक प्रकाश से ओतप्रोत उसकी प्रज्ञा इस विश्व के सिद्धान्तो को भली भाति समझ ले जो कि उसकी कर्म-भूमि है। इसी कारण कई पाठको को इन अतिम अध्यायो मे कुछ रसापकर्ष का सा अनुभव होता है। सबसे पहले चेतना और जिन वस्तुओ को चेतना होती है उनमे अन्तर समझना जरूरी है। अपने अनुभव का परीक्षण करने पर हम देखते हैं कि वह चैतन्य की ज्योति[1] से प्रकाशित "सचमुच" की अनेकानेक वस्तुओ से वना होता है। क्षेत्र यानी चेतना के क्षेत्र, और क्षेत्रज्ञ यानी वोध के निर्मल प्रकाश, का भेद यही है। ध्यान देने पर समझ मे आयेगा कि जिस भौतिक शरीर को अज्ञानी मूढतावश अपना "अहं" समझते है वह तो वस ऐसा अभिसरण बिन्दु है जिसमे केवल अपने इन्द्रिय-अनुभव-जन्य नाम-रूप या न्यास एकत्रित किए जाते हैं। भौतिकवादियो का यह विचार कि रक्त, मांस, मज्जा इत्यादि से बने शरीर का अपना अस्तित्व होता है, एकदम कृत्रिम मानसिक धारणा है जो चेतन अनुभव से अमूर्तीकरण द्वारा वनाई गई है और अन्य अमूर्तीकरणों के समान यह धारणा

1. परिशिष्ट 'क' देखिये।

भी वैज्ञानिक समझ का विकास करने के लिए तो उपयोगी है परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र मे सरासर व्यर्थ है।

परन्तु अनुभव का विश्लेपण यही समाप्त नही हो जाता। यदि शिष्य साक्षी चैतन्य की ज्योति को अवलोकित इन्द्रियो, भावनाओ अथवा विचारो के नाम-रूपो से अलग करे तो वह देखेगा कि यह ज्योति विभिन्न प्राणियो मे भिन्न नही है वल्कि सूर्य के प्रकाश के समान एक ही है चाहे वह नीले समुद्र को प्रकाशित करती हो या लाल धरती को। किसी विशिष्ट दृष्टिकोण से सयुक्त होने पर भी इस प्रकाश को सर्वव्यापी ही कहा जा सकता है। प्रकाशित क्षेत्र कितने ही भिन्न क्यो न हो प्रकाश तो एक चीटी मे भी वही है जो मनुष्य मे और, यद्यपि अभी विज्ञान इस वात को मानने के लिए तैयार नही है, एक पत्थर के अन्दर भी वही है जो एक जीवित प्राणी में।

अव जाकर शिष्य श्रीकृष्ण के इस कथन को समझ पाता है कि वे स्वय (यानी आत्मन् या सर्वद्रष्टा चैतन्य) सव क्षेत्रों के क्षेत्रज्ञ हैं। यदि शिष्य हृदय मे परीक्षण करे तो वह विश्व को समझने के राजमार्ग पर आ पहुचेगा और इस दुनिया की भूलभलैया से निकलने का रास्ता वताने वाला नक्शा उसके हाथ मे आ जायेगा।

श्लोक 2

शुरूआत तो यहां हमारे इन्द्रिय अनुभवो मे से ही होती है। यदि हम आख खोलकर देखने को तैयार हो तो पता चलेगा कि गीता की शिक्षा यहां की विलकुल नजदीकी वातो के वारे मे है, न कि किन्ही दूरदराज की विलक्षण वातो के वारे मे। यहा फिर कह देना चाहिए "जो वहा है वह ही यहां भी है ; जो यहा नही वो कही नही।" यह सत्य इतना स्पष्ट चमकता है कि जो इसे एक वार देख लेता है वह यह नही समझ पाता कि अव तक वह उसके प्रति अन्धा क्यो था। उसने अपना दीपक जला लिया होता है और इसका असर ठीक वैसा ही होता है जैसे अंधेरे मे सहसा प्रकाश चमक उठने से होता है। "तुम्हारे अन्दर ही समस्त ससार की ज्योति है" ऐसा प्राचीन काल के सव ऋषि-मुनियो ने कहा है पर अव उनके वचन एक उद्दीप्त ज्योति से चमकने लगते है और इस दिव्य प्रकाश मे मिथ्या विश्वास व मूढाग्रह सूर्य के सामने दीपक के समान लुप्त हो जाते हैं—"मेरे मत मे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही सच्चा वोध है।"

इस क्षेत्र या अनुभव के वस्तु-विषय का विश्लेपण प्राचीन काल के आचार्यों ने चौवीस तत्त्वो मे किया है। पहले पंच-महाभूत आते है जिन्हे प्रतीकात्मक रूप से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश[1] कहा गया है। इन्ही से सवधित हमारे पाच इन्द्रिय ज्ञान गध, स्वाद, दृष्टि, स्पर्श, तथा नाद है। इसके वाद ग्यारह

1. परिशिष्ट 'ज' देखिये।

इन्द्रिया आती है, यानी. पांच कर्मेन्द्रियां, पाच ज्ञानेन्द्रिया तथा ग्यारहवां (निम्न) मनस् जो वरावर एक आतरिक इंद्रिय के रूप में काम करता है।

श्लोक 5

तत्पश्चात् आते है— अहकार (उच्च मनस्) वुद्धि (जिसे अक्सर, और यहां भी "महत्" के साथ लेते है और जिसके द्वारा सार्वभौमिक परिकल्पन का ज्ञान होता है) और अन्ततः सव नामरूपो की जननी स्वय मूलप्रकृति।[1]

नामरूपों का विश्व इन तत्त्वो के ढाचे पर निर्मित है। ध्यान दीजिए कि इनमे से निम्नतम तत्त्वो को ही हम भौतिक कहते है और अन्य सवको हमे मानसिक कहना चाहिए। इन मानसिक तत्त्वों के रूपभेद को हम राग, द्वेष, सुख, दु.ख, विचार, भावना इत्यादि के रूप मे जानते है परन्तु ये सवके सव चैतन्य की ज्योति रूप द्रष्टा के लिए दृश्य रूप है क्योकि यह देखा जा सकता है कि इन्द्रिय स्पर्शो का ही नही, भावो और विचारों का विश्लेपण भी विषय-वस्तु और उसके वोध मे किया जा सकता है।

इसके वाद कुछ गुणों की गिनती कराई गई है जिन्हे इसलिए ज्ञान माना गया है क्योकि उनके द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। इन सव गुणो को वताने के पीछे आशय यह है कि शिष्य को यह अनुभूति हो जाय कि

श्लोक 7-10, 11

ये नाम रूप आत्मन् नही है या वुद्धदेव के शब्दों मे "यह मेरा नही, मै यह नही, यह मेरा सच्चा स्वरूप नही"।[2] इस प्रकार उस वहिर्वेशन प्रक्रिया का अन्त कर दिया जाता है जो प्रकाश को अनित्य नामरूपो से वांधे रहती है और उस नित्य ज्ञान की प्राप्ति होती है जो सवके साक्षी परन्तु साथ ही सब से निर्लिप्त सदा अपरिवर्त्य आत्मन् का ज्ञान है।

यह सनातन आत्मन् ही ज्ञेय है— "जिसे जान कर अमरत्व प्राप्त होता है।" यह वही महान् सर्वातीत आत्मन्[3] है जो अव्यक्त होने के कारण न सत् है

1 स्थानाभाव के कारण यहा इन तत्त्वो की अति सक्षेप रूप मे केवल गणना की जा रही है। विस्तृत विवरण के लिए पाठको को साख्य विपय पर किसी भी पुस्तक को पढ लेना चाहिए और विशेष तौर पर जगदीशचन्द्र चटर्जी कृत उत्कृष्ट पुस्तक "इडियाज आउटलुक ऑन लाइफ" (कैलाश प्रेस, न्यूयार्क) को देखना चाहिए।

2. मज्झिम निकाय 1, 135

3. गीता मे यहा "परव्रह्म" शव्द का उपयोग किया गया है परन्तु आशय अव्यक्त आत्मन् (आठवा अध्याय देखिये) से है जिसे कठोपनिपद् मे शात आत्मन् कहा गया है। सच कहा जाय तो "परव्रह्म" किसी भी ज्ञान का वस्तु-विपय नही हो सकता, परन्तु व्यवहार मे अधिकतर शांत आत्मन् और परव्रह्म को एक ही मान लिया जा सकता है। (परिशिष्ट इ देखिये)

न असत । समस्त दृश्य के द्रष्टा, उसके हाथ-पांव हर जगह
श्लोक 12 है और हर जगह है उसके आख-कान ।

जब यह कहा जाता है कि वह "सर्वभावृत्य तिष्ठति"—"सब कुछ को आच्छादित किए स्थित रहता है" तो यह कोई अर्थहीन धार्मिक शब्द सज्जा नही बल्कि उस आश्चर्यमय "पश्यति" ज्योति का सीधा-
श्लोक 13 सादा विवरण है जो समस्त अगणित लोको का एक-एक कण अपनी गोद मे लिए रहती है ।

गीता जैसी पुस्तको को समझने मे एक सबसे बडी कठिनाई यह होती है कि हमे उन्हें एक विशेष प्रकार के "धार्मिक" मूड मे पढने की आदत पड जाती है जिसमे हम वर्णित तथ्यो पर "विश्वास" करते भी हो तो भी उन्हे एक अलौकिकता के परिधान मे लपेट कर जीवन के वास्तविक संसार से अलग कर देते है । परन्तु यह घातक है; हमे यह सीखना पड़ेगा कि जिसका यहां वर्णन हो रहा है वह हमारे चारो ओर यही है और उसे इसी समय देखा जा सकता है, भले ही ज्योति के निस्सीम सागर की थाह लेने मे हमे युगों लग जाये ।

पुरातन ज्ञान तो हृदयाकाश मे स्वर्णाक्षरो मे अंकित है ही बस शिष्य को तो अंतर्मुखी होकर स्वय इसके सदेश को पढना है । उसे मालूम हो जाएगा कि इद्रियो से पृथक् होते हुए भी अमर चैतन्य उन्ही की शक्तियो से चमकता है । असल मे आख की देखने की प्रकट शक्ति पूर्णरूप से उस ज्योति मे निहित दर्शन शक्ति पर निर्भर रहती है जो आख के जरिये देखती है परन्तु जिसे आख नही देखती, जो कान के द्वारा सुनती है पर जिसे कान नही सुन सकते ; जो मन के द्वारा सोचती है पर जिसे मन नही सोच सकता ।

"वह अदृश्य द्रष्टा है, अनसुना सुनने वाला अनसोचा सोचने वाला । उसके अलावा न कोई द्रष्टा है न सुनने वाला । यही सच्चा स्वरूप है, अतर्यामी शासक चिरतर अमर ।"[1]

वह इस मानी मे सब का आधार है कि वह समस्त नामरूपो को अपने आलिंगन मे बाधे रहता है और यदि उसका अवलम्बन क्षण-भर को भी हटा लिया जाय तो सब कुछ एकदम धराशायी हो जाएगा । सबका द्रष्टा होते हुए भी वह किसी से भी लिप्त नही होता और इस प्रकार उसकी निस्संग दृष्टि मे सुख-दुख के अनुभव एक समान होते है । वास्तव में कुछ पंडितो के मतांतर के बावजूद,

1 बृहदारण्यक उपनिषद् 3, 7, 2, 3 । केनोपनिषद् भी देखिए जहा देवगण (इन्द्रिय शक्ति) ब्रह्मन् (परम ज्योति) की सहायता के बिना अपने काम कर पाने मे अपने को असमर्थ पाते हैं ।

यह "निर्गुणता या निस्संगता" एक ऐसा पहलू है जिस पर शुरू में ही ध्यान चला जाता है।

यद्यपि ज्योति मनुष्यों के हृदय में चमकती है और सबसे पहले हृदय में ही उसकी अनुभूति होती है फिर भी यह सोच लेना कि वह केवल वही है और बाहर नही, एक बडी भूल है।[1] हृदय वह अभिसरण बिन्दु है जिसके माध्यम से वह ज्योति दीप्तिमान होती है परन्तु वह उतनी ही हम से बाहर भी है क्योंकि अनुभव का सम्पूर्ण वस्तु-विषय उसकी तरंगों पर ही तैरता है :

श्लोक 15

"As a cloud that hides the moon,
So matter veils the face of Thought."[2]
जैसे चांद को कोई बादल ढक लेता है
वैसे ही चिंतन के मुखड़े को जड़ता का पर्दा।

यह ज्योति इतनी सूक्ष्म है कि सर्वव्यापक होते हुए भी इसका बोध मनुष्यो को नही हो पाता, और "अपनी साँस से भी निकट" होते हुए भी वह विश्व की बड़ी से बड़ी गहराई की दूरी से भी अधिक दूर होती है। उसकी गहन घोर गहराइयों से हमारा यह विश्व और ब्रह्माण्ड के अन्य छोटे-बड़े विश्व एक ऐसे तारापुंज के समान प्रतीत होते है जो आकार मे मनुष्य की हथेली के बराबर हों।

उसकी दृढ़ अचलता ही विज्ञान के "अटल" सार्वभौमिक सिद्धातो का आधार है लेकिन साथ ही वह सजीव और उस आन्तरिक गति से प्रदीप्त होती है जो ब्रह्माण्ड की समस्त गति का स्रोत है।

जैसे सूर्य, या दिन का प्रकाश, एक होते हुए भी समस्त प्रतिबिंबित करने वाली वस्तुओं मे विभक्त जैसा हो जाता है वैसे ही "ज्योति" भी अखंडित सतत इकाई होते हुए भी विभिन्न नामरूपो से तादात्म्य कर लेने के कारण विभक्त प्रतीत होती है। "इस" के बारे मे उलटबांसियो के द्वारा ही कुछ कहा जा सकता है। पहले कहा ही जा चुका है कि एक विशेष प्रकार की "उदासीनता" इसका मुख्य लक्षण है परतु इस उदासीनता को नितांत नीरसता समझना बिल्कुल गलत होगा। वह तो शात व दिव्य आनन्द है।

ऐसे ही इस "तत्" की अकर्मता के बारे मे भी भ्रांति उत्पन्न हो जाना बहुत सरल है। अकर्मता व निस्संगता ये दो लक्षण ही शिष्य को सबसे पहले

1. सीक्रेट ऑफ दि गोल्डन फ्लावर से तुलना कीजिये "ज्योति केवल शरीर मे ही नहीं होती और न ही केवल शरीर से बाहर होती है, सूर्य-चन्द्र से प्रकाशित पर्वत नदी और यह पृथ्वी सभी व[illegible] है, अत वह केवल इस शरीर मे ही विद्यमान नहीं है।"
2. [illegible] वेली (Ar[illegible]ley) द्वारा अनुवादित जापानी "नोनाटक" (No Plays)

सबसे पहले यह याद रखना चाहिये कि चाहे क्षेत्र स्वयं अनादि न भी हो परन्तु उसकी जननी, मूल-प्रकृति, क्षेत्रज्ञ—पुरुष अथवा शांत आत्मन्—के समान अनादि है। जैसा हमने आठवें अध्याय मे देखा यह दोनों परब्रह्म के ही अव्यक्त घटक है।

श्लोक 17

आत्मन् के रहस्यमय चयनात्मक दृक्पात से मूल प्रकृति नाम-रूप व गुणों के क्रमोन्नत विश्व के रूप मे व्यक्त होती है। निम्नलिखित उद्धरण शायद यह बताने में मदद करे कि आधुनिक भौतिक शास्त्र भी इसी निष्कर्ष की ओर आता सा प्रतीत होता है।

"भौतिक शास्त्रवेत्ता का संसार देशकाल में होने वाली निरंतर घटनाक्रमों का संसार है जिसके लक्षण गणित की (यानी अमूर्त, आदर्श, अनैन्द्रिक) विशेषताओं तक ही सीमित हैं। मन इन पर या तो ऐसे प्रतिमानों का आरोपण करता है या इनमें से ऐसे प्रतिमानों का चयन कर लेता है जो उसे औरों से अधिक स्थायी नजर आते है। इन प्रतिमानो को उभार कर मन निरंतर रहने वाली वस्तुओ मे वदल लेता है जो कि प्रतिदिन की मेज-कुर्सियों के रूप मे सामने आती हैं। विभिन्न मन अपनी-अपनी विभिन्न रुचियो के अनुसार अलग-अलग प्रतिमान चुन कर पृथक्-पृथक् संसारो को "देखते" हैं।"[1]

यह अंतिम वाक्य वहुत मार्के का है क्योकि यह विभिन्न स्तरो या लोकों के स्वभाव पर प्रकाश डालता है। लेखक ने जिन काल्पनिक विभिन्न मनों का उल्लेख किया है उनकी वास्तविक सत्ता चेतना की विभिन्न अवस्थाओं के रूप मे होती है।

यद्यपि मूल प्रकृति ही कारणतः सम्बन्धित देशकाल में होने वाले घटनाक्रमों की जड़ है, फिर भी इन घटनाक्रमों का प्रिय या अप्रिय सजीव इन्द्रिय ज्ञान भावना तथा विचार के रूप में प्रकट होना साक्षी चैतन्य यानी पुरुष की ज्योति से ही सम्भव होता है। घटनाक्रम पर दृष्टि गडाये यह पुरुप ज्योति उन प्रतिमानो को खीच निकालती है जिन्हें किसी स्तर विशेष पर दृश्य रूप में कोई महत्त्व प्राप्त करना होता है। और ऐसा करने मे वह उनसे अपना तादात्म्य स्थापित कर लेती है।

श्लोक 20

ठीक जैसे अपनी कुर्सी पर आराम से बैठा सिनेमा देखने वाला पर्दे पर पड़ती रोशनी व छाया से वने चित्रो से तादात्म्य कर सुख व दुःख का अनुभव करता है वैसे ही आत्मन् का मुक्त आनन्दमय स्वभाव भी नितात निरपेक्ष घटनाक्रम से

1. रिटर्न टु फिलासफी—लेखक सी० ई० एम० जोड (Return to Philosophy by C. E. M. Joad)

उत्पन्न हर्ष-विषाद से रंजित हो जाता या होता हुआ प्रतीत होता है। वह अनादि

श्लोक 21 — अनंत उन नाम-रूपों के साथ जन्म लेता है और मरता है, जिन्हे उसने स्वयं ही उभारा होता है, और जिन पर नजर डाल उनसे तादात्म्य किया होता है।

नाम-रूपों के साथ साक्षी चैतन्य का यह सयोग सब एक साथ न होकर उन पांच स्तरों[1] पर होता है जिनकी गणना यहां नीचे से ऊपर की ओर की गई है परन्तु जिनका अध्ययन उनके विकास के क्रम से करना अधिक सुविधाजनक है। सब स्तरों के उस पार है परब्रह्म जिसे यहा "पुरुष पर:" कहा गया है और जिसमे ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञानी एक ही मे विलय हो जाते हैं। इस अचिंत्य खाई मे स्वपरिमितता की एक लहर उठती है जिसके फलस्वरूप अमूर्त अव्यक्त आत्मन् जिसे यहां भोक्ता, महेश्वर या परमात्मा कहा गया है वह अलग होकर शांत अलगाव से परब्रह्म के दूसरे घटक अव्यक्त महागर्भ मूलप्रकृति[2] को निहारता है।

आत्मन् द्वारा उस महागर्भ पर चयनात्मक दृक्पात के कारण उसके विभिन्न पहलुओं से आत्मन् का तादात्म्य स्थापित होने की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है और इस प्रकार वह दूसरा स्तर उत्पन्न हो जाता है जिसे यहा "भर्ता" कहा गया है और जो अद्वय प्राण है। पहले स्तर की अगणित सम्भावनाओं मे से कुछ चुनी जाकर नई सृष्टि की प्रव्यक्ति का आधार बन जाती हैं (यह चुनाव पिछली सृष्टियों से चले आये हुए सस्कारों या कार्मिक प्रवृत्तियो के अनुसार होता है) और इसलिए उन्हे सार्वभौमिक परिकल्पन कहा जाता है।

बुद्धि के तीसरे स्तर का यहां अलग से उल्लेख नही किया गया है। बुद्धि व महत् को अक्सर एक साथ ही लिया जाता है और बाद के ग्रथों मे तो यह दोनो एकदम एक ही मान लिए गये हैं। बुद्धि को महत् की शुद्ध ज्ञानशक्ति माना जा सकता है। इन दो का अंतर बतला सकना सरल नही है। बुद्धि के स्तर तक पहुंच जाने वाले का महत् से संपर्क अवश्य ही स्थापित हो जाता है।

चौथा स्तर यहा "अनुमंता" कहलाया गया है यानी अतर्यामी अधिष्ठाता। यह उच्च मनस् का स्तर है जहां बुद्धि महत् के सर्वग्राही सर्व सयुक्तकारी स्तर मे ज्योति किसी विशिष्ट बिंदु या दृष्टिकोण को चुन विशिष्ट अह बन जाती है। इसी कारण अगणित अलग-अलग व्यक्ति उत्पन्न होते है। अनुभव का "वस्तु विषय" यहां होता है तो किसी एक दृष्टिकोण के चारो ओर है परंतु अनैन्द्रिक होता है—जिसे कुछ लोग शायद गलती से अमूर्त भी कहते है। इस स्तर को बौद्ध लोग रूपलोक कहते है जबकि बुद्धि महत् का तीसरा स्तर अरूप-लोक व पांचवा (और

1. गीता के अध्याय 8 श्लोक 9 से तुलना कीजिए। परिशिष्ट 'ङ' का चित्र भी देखिये।
2. परिशिष्ट 'च' देखिये।

छठा) स्तर काम-लोक कहलाता है ।

पाचवां स्तर पक्के इंद्रियज्ञान, भावना, तथा विचार का स्तर होता है। चौथे स्तर की अमूर्त संभावनाओ मे से वही पहले वाली ज्योति, कुछ खास प्रतिमान चुनकर उन वस्तुओं का निर्माण करती है जो हमारी साधारण चेतना के वस्तु-विषय होते हैं। यह इंद्रिय या काम-भाव का लोक है और ज्योति को इसका "उपद्रष्टा" या नजर रखने वाला कहा जाता है ।

अगर बहुत बारीकी मे जाया जाय तो पांचवें स्तर के दो भाग किये जा सकते हैं। एक तो होगा वह जिसमें ये मूर्त प्रतिमान "आंतरिक" यानी स्वप्न, दिवास्वप्न, अथवा अन्य प्रतिबिंबो द्वारा निर्मित होते है और दूसरा वह जिसमे "बाहरी" इद्रिय न्यास द्वारा भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व होता है। क्योकि ये दोनो एक जैसे ही है इसलिए गीता इन्हें अलग नही करती हालांकि कभी-कभी इन्हे अलग माना जाता है। यदि अलग रखे जाएं तो छः स्तर हो जाते है। ऐसे ही बुद्धि महत् को अलग मानते हुए कुछ परंपराओ मे सात स्तर कहे जाते है ।[1]

रंग आदि इंद्रिय-बोध के बाह्याकारो के विपरीत कुर्सी-मेज आदि तथाकथित भौतिक वस्तुये केवल ऐसे तर्क सिद्ध या कल्पित निमित्त मात्र है जिनसे हम इद्रिय-तथ्यों-उपद्रष्टा स्तर के तथ्यो में पाई जाने वाली व्यवस्था को समझते हैं। इस स्तर के तथ्यों से शुद्ध माया का एक आठवां लोक बनता है जिसमे वास्तविकता रहित भूतों का निवास होता है। ऐसे "भूतों" पर आधारित भौतिकवाद ही वास्तविकता पर आधारित होने का इतना दम भरता है ।

इस ज्ञान को जितना भी महत्त्व दिया जाय कम है क्योंकि उससे शिष्य यह देख पाता है नीचे से नीचे स्तर पर भी एक ही आत्मन् सब मे है। अब वह स्पष्टरूप से देख सकता है कि अध्याय दो का यह शिक्षण सच है कि

श्लोक 23 आत्मन् को न कोई क्षत-विक्षत कर सकता है और न ही वह जन्म लेता है या मरता है। पृथक अहं, उसके सिर का वह बोझ, जो उसके लिए इतनी चिंताओ, आशाओं और आशंकाओं का कारण था अब साफ-साफ भ्रम मात्र ही दीखता है और शात चित्त से अब वह उस महायज्ञ मे जुट सकता है जिसके दो पहलू है—पहला, चैतन्य का अधिकाधिक उच्चतर स्तरो से तादात्म्य कर आत्मा की सीढी का आरोहण, और दूसरा, निम्न स्तरो का उच्चतर स्तरो की ज्योति के प्रकाश से तत्वांतरण करना। यद्यपि चोटी तक पहुंचने मे अनेक जन्म लग जायेंगे पर फिर भी अजन्मा ज्योति होने के नाते वह दुबारा जन्म नही लेगा ।

इस ज्ञान को प्राप्त करने के अनेक साधन है। कोई मनस् की शुद्ध दृष्टि द्वारा

1 परिशिष्ट 'ह' देखिये

क्षुद्र अहं मे ही यहां तक कि शरीर में ही आत्मन् को देखते हैं। वे यह समझ लेते है कि निचला भी जो कुछ है उसकी सत्ता इसीसे है कि वह उसी ज्योति मे आया है और उसी मे उसकी स्थित है। अतः वे सब रूपो मे व्याप्त इस ज्योति का ही ध्यान करते है। कुछ लोग साख्य योग के मार्ग पर चल सब नाम-

श्लोक 24

रूपो को "अनात्म" मान उसका परित्याग करते हैं, परंतु द्वैत-भाव से बाहर न निकल सकने के कारण वे अनुभव मात्र को प्रकृति का विकार कह कर छोड देते है। इस तरह क्षुद्र को छोड़ जो बचता है वह आत्मन् या पुरुप होता है, लेकिन वह इस दुनिया की चीज नही, सितारो की तरह कही बहुत दूर की चीज होती है।

कुछ अन्य लोग यही उपलब्धि कर्मयोग से करते है—सब में व्याप्त महत् आत्मन् के लिए कर्म कर क्षुद्र अह से पार जाते है। कुछ और जन सत्य के बारे मे आचार्यो की वाणी सुनते है, या आधुनिक काल मे महात्माओं की लिखी पुस्तको मे उसके विषय मे पढते है, और ऐसा करते हुए उनके हृदय में एक ऐसी आंतरिक भावना जाग्रत होती है जो इस सचाई की तसदीक करती है और फिर उस पर वे श्रद्धापूर्वक जमे रहते है। ये व्यक्ति भी अमर जीवन के पथ का अनुसरण करने वाले होते है।[1]

अब यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि सब जीवधारी ज्योति व नामरूपो के सयोग से ही उत्पन्न होते है। जो अपने मन को उज्ज्वल नामरूपो के सागर मे आत्मन् की ज्योति को डुबा देने की छूट दे देता है, जो अमरत्व से मुह मोड़ यह भाव रखता है कि "मैं यह नाम-रूप ही हूं, ये नाम रूप मेरे है" वह अपने सच्चे स्वरूप का हनन कर देता है। उसे चाहिए कि सब ओर घिरे अंधकार मे वह अपने मन की आखें खोले और उस प्रबल अधिष्ठात्री शक्ति को देखे—उस अद्भुत ज्योति को जो सबके मर्म मे स्थित है।

वह यह देखे कि नश्वर नाम रूपों मे स्थित यह प्रकाश शाश्वत है। देखें कि वह सब मे एक ही है; देखे कि कर्म जीवन की आपाधापी व गुलगपाड़ा नाम-रूपो का आपसी खिलवाड मात्र है जो उस निर्मल, सर्वभर्ता

श्लोक 26-29

प्रकाश को मलिन नही कर सकता जो स्वय अकर्मा। होते हुए भी सब नाम-रूपों को मूल प्रकृति के गर्भ से बाहर लाता है। जब वह यह सबदेख लेता है (और इसे 'यहा और अभी' देखा जा सकता है)

श्लोक 30

तो उसकी आत्मा को एक अपूर्व शात मुक्ति प्राप्त हो जाती है। नाम-रूपो की समस्त विविधता को वह एक विशाल सत्ता

1. यह श्रद्धा अन्धविश्वास नही है। अध्याय 17 मे इस विषय पर और कुछ लिखा जायेगा।

मे स्थित देखता है। यह एकता नीरस और निष्प्रभ हरगिज नही है। और इसे समझने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि अपने हृदयाकाश मे किसी चमकती विचारशृंखला का ध्यान किया जाय जिसमे हर विचार पूरी शृंखला से जुड़ कर ही सार्थक होता हो और इस पारस्परिकता के नाते व इससे भी अधिक एक ही चैतन्य किरण मे स्थित होने के नाते सबके सब विचार एक हो।

जो किसी पलटन मे काम कर चुके है वे जानते है कि अपने को किसी बृहत्तर अंशी का अश जानने से किस प्रकार क्षुद्र अहं के दासत्व से मुक्ति की भावना आती है। फिर भी यह एकीकरण अधूरा होता है और इसमे काफी कुछ अवाछनीय तत्त्वो की मिलावट होती है। परम एक्य की अनुभूति से मुक्ति की एक अद्भुत भावना इसलिए उत्पन्न होती है क्योंकि क्षुद्र अह "उस" मे ही पूरी तरह घुलमिल जाता है जिसका वह स्वयम् अंश है--जो उसका अपना सच्चा स्वरूप है—और जो ऐसा कुछ नही है जिसमे धुल कर आत्महानि का डर हो।

अनादि, अव्यय, असीम और शरीर मे स्थित होने पर भी कर्मो से निर्लिप्त चैतन्य का सूर्य विचाराकाश को प्रदीप्त करता है। जिसने उसकी शात अमर दीप्ति देख ली उसे तीनो लोको मे किसी का भय नही रह जाता। उसे ज्ञात हो जाता है कि निरतर बदलता इंद्रिय लोक इस ज्योति मे ही स्थित है, और वह स्वयं ही वह ज्योति है—निर्मल व प्रशान्त। उसके लिए—

श्लोक 31 34

"In the wind of the hill top, in the valley's song,
In the film of night, in the mist of morning
It is proclamed that Thought alone
Is, was and shall be."[1]

"शिखर समीर और घाटी के गीत मे,
रात के परदे मे, प्रात के कोहरे मे,
यही उद्घोपित होता है :
एकमात्र मन है वस,
था और वस वही रहेगा।

1. आर्थर वेली द्वारा अनुवादित एक जापानी "नो" नाटक से।

अध्याय 14

गुणत्रय विभाग योग

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ (साख्य के अनुसार प्रकृति व पुरुष) के अंतर को समझाने के बाद अब गीता मे क्षेत्र का और अधिक विश्लेषण किया जाता है। जिस मूल प्रकृति को श्लोक 3 मे महत् ब्रह्म कहा गया है उसकी तीन कलाएं होती हैं जिन्हे गुण कहा जाता है। गुण शब्द का अर्थ अधिकतर विशेपता, लक्षण या अंग्रेजी मे "क्वालिटी" किया जाता है, परन्तु यह याद रखना चाहिए कि मूल प्रकृति और इन गुणो मे वह सम्बन्ध नही है जो किसी वस्तु व उसके लक्षणो मे होता है। ये गुण ही मूल प्रकृति है और साम्यावस्था मे मूल प्रकृति ही गुणत्रय है। इसी कारण कुछ विचारको ने इस विपय का विवेचन तीन लडो के रूपक द्वारा किया है जिनको साथ मिला कर वटने से प्रव्यक्त अस्तित्व की रस्सी वनती है।

इन गुणो के स्वभाव को थोडा-वहुत समझने के लिए भी यह याद रखना आवश्यक है कि मूल प्रकृति अपने आप अपने वूते पर स्थित कोई वस्तु नही, वल्कि असीमित सभाव्यताओं से भरी अधेरी महा-योनि है— पृथक् हुई चैतन्य ज्योति को दीखती परब्रह्म की प्रतीति। इसकी सभाव्यतायें असीमित इसलिए हैं क्योकि वह परब्रह्म का सम्पूर्ण दृश्य पक्ष है और वह अंधेरी इसलिए है क्योकि आत्मन् रूपी ज्योति उससे अलग कर ली गई है। यद्यपि इसे युग का "सामूहिक अचेतित" (Jung's Collective Unconscious) कहना भूल होगी फिर भी अधिकतर साख्य पुस्तको के कोरे पांडित्यपूर्ण विवरणो की अपेक्षा मूल प्रकृति के स्वभाव को इस तुलना द्वारा वेहतर समझा जा सकता है।

चैतन्य की मननशील दृष्टि तले महागर्भ के अन्दर तीन कलायें प्रकट होती है। उसकी एक कला ज्योति को प्रतिविवित करती है और उसके द्वारा प्रदीप्त होती है और इस प्रकार स्वय एक प्रकाश स्रोत के समान बन जाती है। इसे सतोगुण कहते है और इसका लक्षण प्रकाश[1] है।

1 श्लोक 6, 11, 22

दूसरी कला वह है जो प्रकाश को प्रसारित तो करती है, परन्तु उसे स्रोत की ओर प्रतिविंबित न कर बरावर वाहर की ओर आगे और आगे प्रेरित करती है। इस गुण को रजस् कहते हैं और इसका लक्षण वहिर्मुखी प्रवृत्ति[1] है।

तीसरी कला न ज्योति को प्रतिविंबित करती है न उसे प्रसारित करती है वल्कि उसे ग्रस लेती है। इसे तमोगुण कहते है और इसके लक्षण आलस्य, प्रमाद तथा मोह है।[2]

इन गुणों की प्रक्रिया अचेतित मन के इस लघु गर्भ मे देखी जा सकती है जिससे हम रोज सुवह जगने पर निकलते है। सवसे पहले सुषुप्ति की अंधेरी पृष्ठभूमि से स्मृति शृंखलाएं निकलती है जो चैतन्य को प्रतिविंवित कर यह घोपणा करती है कि "मै था, मैं हूं"। इसके पश्चात् रजस् क्रियाशील होता है और मननशील अह तत्संबंधित विचारो की लहरो पर वहता हुआ ऐसी कामनापूर्ण योजनाओ की ओर उन्मुख होता है कि "मै ऐसा करूंगा" और फिर विचारो का तरल ससार तमस् के प्रभाव से कठोर होकर वाह्य जगत की ठोस वस्तुओं के रूप मे परिणत हो जाता है। यद्यपि इन की असली स्थिति होती तो चैतन्य के कारण ही है परन्तु लगता ऐसा है जैसे वे निर्जीव कठोर वस्तुएं अपने शुद्ध भौतिक रूप में ही विद्यमान हों जिनमे कि उपाकाल का राजसिक अहं वाह्यात्मकता के प्रभाव मे आकर वहुधा परिवर्तित हो जाता है।

व्रह्माण्ड मे भी यही प्रक्रियाएं देखने मे आती हैं। पहले सत्त्व पर ज्योति के प्रभाव से महत्-वुद्धि के शांत व प्रकाशमान लोक उत्पन्न होते है। यही व्रह्मा की स्मृति अथवा सार्वभौमिक परिकल्पन है। इन लोको की दीप्ति व सामजस्य इनके सात्विक स्वभाव के कारण होता है और कृष्ण जो सत्त्व मे दृढ़तापूर्वक जमे रहने का आदेश देते हैं (नित्यसत्त्वस्थः, अध्याय 22 श्लोक 45) उसका अर्थ वही है जो उनके इस निरंतर परामर्श का है कि सदैव वुद्धि-युक्त वने रहना चाहिए।

जैसे-जैसे विश्व प्रव्यक्ति का विकास होता जाता है वैसे-वैसे हम रजस् की गतिशीलता को सक्रिय होते देखते है।

आध्यात्मिक लोको की प्रकाश-भरी एकता से अनेक दृष्टिकोणों वाला मानसिक स्तर उत्पन्न होता है। क्षेत्र मे से होकर जैसे-जैसे ज्योति आगे बढ़ती है वैसे-वैसे विन्दुओ के समान अगणित व्यक्तिगत अहं-अस्तित्वों का उद्भव होता है और ऐसे प्रत्येक विन्दु से प्रकाश छिटक कर अनुभव का जाल-सा वना लेता है।[3]

1. श्लोक 12, 22
2. श्लोक 13
3. प्राचीन रहस्यवादी साहित्य में इस प्रतीकात्मक जाल का रुचिपूर्ण जिक्र कई वार आता (शेष पृष्ठ 140 पर)

उच्चतर लोक अपने सामान्य स्वभाव मे स्पिनोजा (Spinoza) के विचारानुकूल होते है। वहा विभिन्न गुण व रगढग एक शाश्वत व अवैयवित एकता मे जुडे देदीप्यमान होते है और "ज्योति" के चन्द्रमा के प्रभाव मे समुद्र के समान उतरते-चढते रहते हैं। लेकिन इसके वाद के राजसिक अनेकता के मानसिक लोक लाइब्नित्स (Leibnitz) के शक्त्याणुओं या मूलजीवो के लोक हैं जहां प्रत्येक जीव सम्पूर्ण विश्व को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से प्रतिबिंवित करता है। परन्तु इस तरह अपने साथियों से अलग होते हुए भी वह एक आदर्श एकता मे सव से जुडा होता है। मुख्य अंतर यह है कि लाइब्नित्स के मूल जीवो मे वाहर देखने के लिए कोई गवाक्ष नही थे और इसीलिए वे अपनी आंतरिक स्थिति के अतिरिक्त और कुछ नही देख पाते जवकि उक्त शक्त्याणु या मूलजीव यों वन्द नही होते और वास्तव मे उनमें से हर एक ऐसा गवाक्ष है जिसमे से अद्वय स्वय अपने को देखता है।[1]

परन्तु रजस् का प्रभाव अनेकता तक आकर ही समाप्त नही हो जाता वल्कि इस अनेकता मे ही अगली प्रवृत्ति के वीज होते है। एकता खोकर अलग हुए अंश सम्पूर्णता प्राप्त करने के लिए जी-जान से वहिर्मुखी खोज मे जुट जाते हैं। यही इच्छा वौद्धजनो की तृष्णा (पाली तन्हा) है जिसे लाइब्नित्स ने शक्त्याणुओं की "स्वाभाविक क्षुधा" कहा था और जिसके कारण वे एक अवस्था से दूसरी में जाते है। यह तृष्णा पूरी तरह युग की "लिविडो" (libido) न भी हो लेकिन उससे सवंधित अवश्य है और संस्कृत तथा दार्शनिक शब्दो के पचडे मे पडे विना हम इसे वह ज़वरदस्त प्यास कह सकते है जिसके वश होकर जीव स्वय अपने को छोड सारे ससार मे भटकता है और अपनी भूख पूरी करने के लिए जो मिलता है उसे खा जाता है।

इस मनोवृत्ति से ही प्रकृति का "जीवो जीवस्य भोजनः" वाला नियम निकलता है, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रकृति का यह अति भयंकर नियम

है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे ईश्वर को जाल फेंकने वाला वताया गया है। इजिप्शियन वुक आफ दि डेड (Badge कृत अध्याय 153) मे जाल के रेखा चित्र के नीचे ये शब्द लिखे हैं—"अपने पीछे देखने वाले देवता (वुद्धि युक्त मनस्) तेरी जय। अपने हृदय पर विजय प्राप्त कर लेने वाले देवता, मैं पृथ्वी को जोडने वाली और पृथ्वी को छेद कर जाने वाली डोरियो से वने जाल को लेकर मछली मारने जा रहा हू। अपने पिताओ को जन्म देने वाले मछुओ (दैवी जन्म देने वाले मनस्) तुम्हारी जय।"

1 सीक्रेट डाक्ट्रिन के पाठको को शायद एच० पी० वी० का यह वक्तव्य याद आयेगा कि गुप्त दर्शन (Esoteric Philosophy) मे लाइब्नित्स के मूलजीववाद और स्पिनोजा के अद्वैतवाद के विरोधाभास का सामजस्य किया गया है। (सीक्रेट डाक्ट्रिन 1,628 प्रथम सस्करण)

भी—जिसके वश हो शेर अपने शिकार पर झपटता है और मनुष्य जिसे प्यार करता है खुद उसी को मार डालता है—स्वय सर्वव्यापी एकता की ही अभिव्यक्ति है। रजस् के वहिर्मुखी आवेग के प्रभाव में जीव आतरिक एकता को नही देख पाता परन्तु यह एकता दिखाई भले ही न दे, इससे इन्कार नही किया जा सकता। अतः तीव्र कामना से प्रेरित हो जीव अपने से वाहर जो कुछ भी देखता है उसे पकड़ कर अपना वनाने को दौड़ता है और इस प्रक्रिया मे दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाता है, और निम्नतर स्तर पर, उनके वाहरी हाड-मांस के आवरण तक को खा भी जाता है ताकि वह स्वयं विकसित हो सके। संसार के सव भयानक कृत्य उस अज्ञान से ही पैदा होते है जिसके वश हो जीव अपने से वाहर "उस" की तलाश मे लग जाता है, जो कि असल मे स्वयं उसके भीतर ही मौजूद है। कामना का जनक प्रेम है और संघर्ष की जननी एकता। अनेकता के स्थापित होते ही तमस् की कुटिल शक्ति सिर उठाने लगती है। जव एक वार अपने-पराए का फरक स्थापित हो जाता है तव फिर तमस् की गोपन क्षमता उस "अन्य" से पूरी ज्योति को ही रिक्त कर डालती है। सजीवता व गति से भरपूर न रहकर अव अहं ऐसा कुछ हो जाता है जो निर्जीव, जड और स्पष्टतः शत्रुवत् है—मृत्यु का वह निस्पंद चंगुल जिससे मुक्त होने को मानव आत्मा छटपटाती रहती है। इस तरह वाहरी वस्तुओं की दुनिया वनती है। हमारे ही आत्मन् ने इन वाहरी वस्तुओ को निकाल वनाया है और उन्हे कोई स्थान विशेप व नाम दिया है और अव वे ही उस आत्मन् के विरुद्ध होकर स्वय उसके ही अस्तित्व को मानने से इन्कार कर रही है। कहते है कि मस्तिष्क से विचार ऐसे निकलते है जैसे कलेजे से पित्त। परन्तु वास्तव मे मस्तिष्क से विचार नही निकलते वल्कि विचार अपने को व्यक्त करने के लिए मस्तिष्क को वनाते है। जैसा भगवान वुद्ध ने कहा, "मन समस्त गोचर वस्तुओ का पूर्वगामी है, मन ही श्रेष्ठ है, सब कुछ मनोमय है।"[1]

तमस् ही मन की सृजनात्मक शक्ति को छिपा देना है और उसे अपने ही द्वारा निर्मित वस्तुओं के सामने अशक्त वना देता है। धर्म ने भी मनुष्य जाति को ज्योति-पथ की शिक्षा देने के वजाय अधिकतर तमस् के घातक अवरोधो के आगे घुटने टेक दिये है और मनुष्य से उसकी सव शक्ति छीन देवताओ को अर्पित कर दी है। अधिकतर धर्मो में यह मानना दैवी कृपा का संकेत समझा जाता है कि मनुष्य वुनियादी तौर से एक ऐसा तुच्छ प्राणी है जो अपने आप कुछ नहीं कर सकता और इसलिए उसे दंडवत् हो व्रह्माण्ड का संचालन करने वाले सर्वशक्तिशाली देवताओ के आगे गिड़गिड़ाते रहना चाहिए।

1 धम्मपद

परन्तु जैसा हर्मिस ने कहा है "यदि तू अपनी आत्मा को देह मे बन्द कर लेगा, उसे यह कहते हुए अधम बना देगा कि मैं कुछ नही जानता, मैं कुछ नही कर सकता, मुझे समुद्र से डर लगता है, मै आकाश को नही माप सकता, मैं यह नही जानता कि मै कौन था, मैं कौन बनूगा, तो फिर तेरा और तेरे आतरिक ईश्वर का सबध ही क्या रहा ?"

जैसा कि पहले कहा जा चुका है ये तीन गुण, सत्त्व, रजस् व तमस् वे तीन लडें है जिनसे अस्तित्व की रस्सी बटी जाती है। स्थूलतम भौतिक पदार्थ से लेकर सूक्ष्मतम सार्वभौमिक चित्त पदार्थ, सबके सब इन तीन गुणों मे से एक या अधिक की प्रव्यक्तिया हैं और शिष्य का एक काम यह भी है कि समस्त दृष्य जगत का विश्लेषण इन गुणो के हिसाब से करे। उसे दृढतापूर्वक सत्त्व मे जमे रहने का यत्न करना चाहिए क्योकि, जैसा हम पहले देख चुके है, केवल सत्त्व ही ज्योति को प्रतिबिंबित कर सकता है। इसलिए, समस्त दृश्य जगत के व्यापारो के बारे मे शिष्य को यह कह सकना चाहिए "यह सात्विक है क्योकि इससे ज्योति व सामजस्य बढते है और इसलिए यह मुझे ऊपर उठायेगा; यह राजसिक है क्योकि यह कामना पर आधारित है और मुझे केवल क्रियाशील ही रखता है; यह तामसिक है, क्योकि यह जीव को भाग्य का बदी बना उसे अंधकार से भर देता है।"

यह विभाग विश्व की सब वस्तुओ पर लागू होता है। आहार (अध्याय 17 देखिए), विहार, मित्र, पुस्तकें, ये सब ही नीचे खीच सकती हैं, बाहर घसीट सकती है या ऊपर उठा सकती है, परन्तु सब से अधिक उसे अपने मन मे उपजे गुणो पर ध्यान देना चाहिए। मन ही सत्य का द्वार है और हर्मिस के शब्दो में शिष्य को "सदा आतरिक द्वार पर रहने वाला" होना चाहिये। अपने को उस द्वार का द्वारपाल बना उसे सब सात्विक प्रवृत्तियो को अंदर जाने देना, राजसिक प्रवृत्तियो की जाच करना और तामसिक को वस मे कर लेना चाहिए।[1]

इसलिए गीता मे कुछ ऐसे निर्देश दिए गए है जिनके द्वारा मन की विभिन्न प्रवृत्तियो को पहचाना जा सके। "जब ज्ञान ज्योति शरीर के सब द्वारो पर उत्पन्न हो तब यह जान लेना चाहिये कि सत्त्व की वृद्धि हो रही है।" दूसरे शब्दो मे, ऐसी मनोस्थिति जिसमे शुद्ध, निर्मल, शान्ति व सामजस्य-प्रदायक ज्ञान का उदय हो, जिसमे मनरूपी सरोवर ऐसा शांत हो जाये कि आकाश के तारे उसमे दीखने लगें और एक प्रशात शाश्वत भावना जागृत

श्लोक 11

1. सतिपट्ठाणा के चार बौद्ध अभ्यासो से तुलना कीजिए।

हो जाय, उस स्थिति को सात्विक कहते है। जो भी बाहरी वस्तुयें, आहार, मित्रगण, कार्य इत्यादि इसमे सहायक हो वे सब भी सत्त्व के भागीदार होते है।

राजसिक मनोस्थिति का मुख्य लक्षण तीव्र कामना युक्त क्रियाशीलता है। इस स्थिति मे मन अशांत, लोभी व अपने से बाहर की वस्तुओ की ज़बरदस्त इच्छा से भरा होता है। आकर्षक स्वप्नो व मसूबो से भरा ऐसा मन बडे-बडे काम करना चाहता है, पर वे सब स्वार्थवश ही होते है भले ही उन्हे जनसेवा की चमकीली साजसज्जा क्यों न पहना दी गई हो।

श्लोक 12

राजसिक चंचलता को अक्सर दैवी क्रियाशीलता समझने की गलती की जाती है। बहुतेरे ऐसे लोग होते हैं जो एक क्षण भी चुपचाप नही बैठ सकते और यह सोचते हैं कि कुछ न कुछ करते रहना अपने को जीवन से भरे रहना है। किसी भी प्रकार के कर्म के सामने वे झुक जाते है। परन्तु क्रियाशीलता के इस राजसिक लोभ को दैवी कर्म नही समझना चाहिए। ध्यान से विश्लेषण करने पर पता लगेगा कि यह सारा कर्म हमेशा किसी न किसी स्वार्थप्रेरित इच्छा के कारण किसी व्यक्तिगत लाभ के दासत्व मे होता है, जब कि दैवी क्रिया-शीलता मुक्त, शात और अपनी नि.स्वार्थता के तेज से दीप्त होती है।

तामसिक मनस्थितिया अन्धकारमय व जड होती है। ऐसे मे मन आलस्य से त्रस्त या निरुत्साह मे डूबा होता है। लगता है जैसे कोई भी काम करने लायक नही है और न कुछ कर पाने की शक्ति ही है। सब चीजे आत्मा को उत्पीडित करती है और जीव नितात जड़ता मे डूब जाता है। पथ एक बिल्कुल अर्थहीन स्वप्न के समान या फिर इतना कठिन प्रतीत होता है कि जैसे वह हमारे बस की बात ही न हो, और साथ ही एक सनकी उदासीनता समस्त सासारिक कर्मो की जड़ काटने पर आमादा हो जाती है। "सब चीजे दृश्य मात्र है और उनकी व्यर्थता का ज्ञान भी व्यर्थ है।"

श्लोक 13

पथ पर चलने की आकाक्षा को रखने वालो के लिए सब से बड़ा अवरोध यह तामसिक निरुत्साह ही है। ऐसे मे जीव "अंधकार व निराशा के बीच म्लान हो जाता है।"[1] इस मनोस्थिति से हर कीमत पर जद्दोजहद करना जरूरी है क्योकि जितनी खतरनाक यह है उतनी राजसिक कामना की जलती आंधी भी नही।

1. शेली (Shelly) की ये पंक्तिया ode to Dejection नामक कविता के लेखक कोलरिज (Coleridge) के लिए लिखी गई थीं।

अफसोस की बात है कि जैसे कुछ लोग रजस् की अशाति को दैवी क्रियाशीलता समझ लेते है वैसे ही कुछ अन्य तमस् की जड-उदासीनता को आध्यात्मिकता समझ बैठते है। सरासर कायरता को "दूसरा गाल पेश करना" कहा जाता है; आलसी अकुशलता को भौतिक जगत मे अरुचि का नाम दिया जाता है; थोथे भाग्यवाद को अपने पिछले कर्मो का फल मानने का सयानापन मान लिया जाता है; दूसरों की परवाह न करने को राग-द्वेष से ऊपर उठ जाना कहा जाता है; और समस्त कला व साहित्य की उपेक्षा करने वाली आतरिक निर्धनता को इन्द्रीयातीत स्तर पर पहुचना कहा जाता है। सब माया है! सब शून्य है! सब भगवान की लीला है! सब कुछ निरर्थक है! यह सब आध्यात्मिकता नही तमस् है। सेट जान औफ दि क्रौस ने अपने कुछ अनुभवो का विवरण देने के लिए जिस उक्ति "आत्मा की अधेरी रात" का गठन किया था उसकी आड़ लेकर पश्चिमी देशो के कितने ही लोग निरुत्साह के उन प्रवेगो को अपने पर हावी हो जाने देते है जो सब ही के जीवन मे यदाकदा आया करते है।

इसलिए, शिष्य को सदैव अपने मन पर नजर रखनी चाहिए ताकि जब वहा तमस् आता दिखाई दे तो चाहे वह एकदम सात्विक प्रकाश के स्तर तक न से कम रजस् के बहिर्मुखी कर्म की सहायता से उसे पराजित भी उठ सके, कम तो किया जा सके। आमतौर से यह कहा जा सकता है कि सात्विक मनोस्थितिया उसे और ऊपर के स्तरो तक ले जायेगी क्योकि उनकी पारदर्शक दीप्ति अगले उच्चतर स्तर की छवि को प्रतिबिंबित होने देती हैं और इस प्रकार निम्न स्तरीय मनस् को उच्च स्तरीय मनस् के प्रकाश से या मनस् को बुद्धि से आप्लावित कर देती है।

श्लोक 18

राजसिक मनोस्थितिया शिष्य को जहां का तहां छोड़ देती है क्योकि चाहे वह अपने क्रियाकलापो से सारा संसार ही क्यो न भर दे, प्रगति उसकी केवल बाहर की ओर ही होती है और जिस स्तर पर वह है उस पर ही वह बना रहता है।

तामसिक मनोस्थितियां उसे नीचे घसीटती जाती है यहा तक कि वह अपना सब कुछ खो अधः मानवीय मानस-रहित दशा को भी प्राप्त हो सकता है। अधोगति होने का अर्थ यह नही लगाना चाहिए कि जीव पशु-योनि मे जन्म लेने लगेगा। ऐसा होना तो असभव है, परन्तु हा, कभी-कभी ऐसी प्रक्रिया हो सकती है जिसका सब से अच्छा विवरण यही हो सकता है कि अहभाव एक या अधिक पशु जीवनो का उपद्रष्टा बन अपने को उन के साथ जुडा समझता है। बहरहाल सामान्यतः इसका अर्थ यही होता है कि जीव धीरे-धीरे गिर कर निम्नतम कोटि के मानव अस्तित्व तक पहुंच जाता है।

यह एक दिलचस्प वात है कि हमारे पागलखानो मे रजस् व तमस् की चरम सीमाएं देखने में आती है। राजसिक प्रवृत्ति "मैनिक एक्साइटमेंट" (Manic Excitement) में दिखाई पडती है।

"रोगी निरंतर क्रियाशील रहता है। प्रतिक्षण एक नया काम शुरू कर उसे फौरन ही छोड़ दूसरा नया काम शुरू कर देता है। वह कभी शांत नही रहता बल्कि उसका बरावर कुछ न कुछ करते रहने पर जोर होता है। वह जल्दी-जल्दी और बिना रुके बोलता है..................प्रत्येक अर्थहीन व छोटी-छोटी वस्तु उसका ध्यान आकर्पित करती है और वह ध्यान फिर कही और बट जाता है। वह अधिकतर जरूरत से ज्यादा मुदित और अपने आप मे इतना प्रसन्न रहता है कि इसे वाहियात ही कहना पडेगा......परंतु जरा-सी वात बिगडी नही कि वह क्रोधित हो जाता है।"[1]

इसी मूल ग्रंथ से मै तामसिक प्रव्यक्ति का विवरण देता हूं जिसे इमोशनल डिमेशिया (emotional dementia) कहा जाता है :—

"रोगी एक कोने मे सिर झुकाये और चेहरे पर विना किसी भाव के बैठा रहता है। कुछ काम कर अपने को व्यस्त रखने की चेष्टा नही करता। अपने चारो ओर होती हुई किसी भी बात मे रुचि नही दिखाता और ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह किसी भी चीज पर गौर नही करता.........। रोगी जड समान बना रहता है और अपनी मानसिक क्षमता का प्रयोग नही करता। यह इसलिए नही कि उसके पास ऐसी क्षमता नही है वल्कि इसलिए कि उसे न कोई कामना है न किसी वात मे रुचि। उसके लिए सपूर्ण वाह्य जगत इस लायक नही कि उस पर मानसिक ऊर्जा खच की जाय। वह न तो कोई शौक रखता है, न आशायें, न महत्त्वाकाक्षांये, न मन्सूवे।"

कोन है ऐसा जो उक्त विवरणों मे स्वयं अपने मन मे कुछ ही कम उग्रता से होने वाली प्रक्रियाओ को नही पहचान सकता ?

गुणो की एक और विशेपता यह है कि उनमे निरतर परस्पर क्रिया-प्रक्रिया होती रहती है। ससार, जिसका अर्थ ही है "चलते रहने वाला", कभी शात नही रहता। सत्त्व की जगह राजसिक क्रियाशीलता आ जाती है और यही यदि पराकाष्ठा तक पहुंच जाय तो उसकी तामसिक प्रतिक्रिया हो जाती है।[2] हर एक आदमी जानता है कि

श्लोक 10

1. बर्नार्ड हार्ट कृत साइकॉलजी ऑफ इनसैनिटी (Psychology of Insanity by Bernard Hart)
2 इस वात का चरम उदाहरण तथाकथित मैनिक डिप्रेसिव (manic depressive) किस्म के व्यक्ति के बदलते भावो मे मिलता है जिनमे बीच-बीच मे स्वस्थ अतराल भी होते है जो (अपेक्षाकृत) सात्विक होते हैं।

कैसे उत्साह और प्रसन्नता का मनोभाव अकारण ही निरुत्साह और निस्तेज के भाव में बदल जाता है। इस उदाहरण से ही यह समझ में आ जाएगा कि शिष्य के लिए गुणों के क्रिया-व्यापार को समझना कितना जरूरी है—कि किस प्रकार वे एक से दूसरे में बदलते हुए जीवन का जाल बुनते हैं।

सनातन ज्योति के अखंड संतुलन को प्रतिबिंबित कर सकने की शक्ति के कारण सत्त्व ही अपेक्षाकृत स्थायी होता है। परंतु इस सत्त्व में भी बंधन शक्ति होती है। निर्मल और कलेश रहित होने पर भी इसकी ज्योति केवल प्रत्यावर्तित ज्योति ही होती है और इसलिए जीव को उस ज्ञान व हर्ष में फंसा लेती है जो उसकी प्रव्यक्तियां है। किसी भी समय हर्ष के प्रति लगाव और ज्ञान की पुण्य प्यास रजस के संस्पर्श से बिगड़ कर विषय भोग की इच्छा और साधारण कौतूहल मे परिणत हो सकती है।

श्लोक 6

इसलिए शिष्य को अपना पूरा ज़ोर लगा कर सब गुणों के पार गुणातीत स्थिति तक पहुंचने का प्रयास करना चाहिये। उसे यह देखने की कोशिश करनी चाहिये कि गुणो का सारा खेल उसके सच्चे स्वरूप से बाहर का दृश्य मात्र है। वह स्वयं तो द्रष्टा ज्योति है। इस ज्योति, इस पापमोचिनी पवित्र गंगा, की शरण मे "वह शाश्वत जीवन का अमृत पान करता है।" ब्रह्माण्ड की—ज्ञान से दीप्त, कामना से क्रियाशील या अंधकारमय निष्क्रिय—सब गतियो को वह अपलक निहारता रहता है। किसी गरम देश की झील पर पड़ते चंद्रमा के शीतल प्रकाश के समान यह आत्मन् की शांत अमर दृष्टि है। कुछ भी आये, वह उसे अस्वीकार नही करता; जो कुछ चला जाता है उससे उसे दुःख नहीं होता। वह जानता है कि विश्व के लिए सब जरूरी है और अंधतम तमस् में भी ज्योति निहित होती है। और इस तरह वह अपने आंतरिक ध्यान मे मग्न, चट्टान की तरह दृढ़ता से स्थित रहता है, चाहे नगरों मे हो चाहे निर्जन पर्वत शिखरो पर, वह गुणो को अपना ताना-बाना बुनते देखते हुए, शत्रु व मित्र के प्रति समभाव रखते हुए रहता है। सुख-दुख, मान-अपमान, उसके लिए एक-से होते हैं। यद्यपि वह सब काम पूरी स्वतंत्रता से करता है परंतु यह घातक विचार कि "मैं इन कर्मों का कर्ता हूं" उसके ज्योतिर्मय हृदय के पास नही फटक सकता।

श्लोक 19,20,22, 23, 24

भाग्य का त्रिविध जाल अब कट चुका है। गुणो को पार किया जा चुका है और भूतपूर्व शिष्य अब सनातन ब्रह्म के छोर पर पहुंच गया है। अब उसकी ज्योति सर्वातीत ज्योति-पुंज में विलय होकर मानव जगत के परे आनंदमग्न रह सकती है। धारा पार की जा चुकी है और पूर्ण पारितोषिक अब उसके हाथ मे है। परंतु कृष्ण हमे एक अन्य पथ दिखाते है जो एक नई संभावना के रूप मे

सामने आता है। वह चाहे तो अपनी ज्योति को अव्यक्त सनातन मे लीन न करे और स्वयं एक कर सव में स्थित शाश्वत प्राण की सेवा का व्रत धारण करे।

श्लोक 26 अपनी मुक्ति जीत लेने पर अब वह दूसरो को मुक्त कराने मे जुट जाए और चुपचाप पथ के यात्रियो का पथ-प्रदर्शन करे। ऐसा करना अंतिम गोता लगाने से कतराना नही है, क्योकि कृष्ण के अनुसार वह "ब्रह्मभूयाय कल्पते—ब्रह्म बनने के योग्य है।" मतलव यह है कि वह स्वयं अपनी इच्छा से परब्रह्म की प्रतिष्ठा[1] यानी अद्वय महाप्राण की सेवा मे रत रहने का व्रत लेता है। अब वह मनुष्य नही रह जाता वल्कि एक महान शक्ति वन जाता है जो केवल अपनी अदृश्य उपस्थिति से ससार के दुखों का हरण करती है चाहे उसे कोई न देखे न जाने।

1. मैत्रि उपनिषद् 6, 15 में "ब्रह्म के घोसले" से तुलना कीजिये। इस घोसले को उपनिषद में संवत्सर वताया गया है, यानी कालचक्र या महत् आत्मन्, जिसका चक्र कृष्ण धारण करते हैं।

अध्याय 15

पुरुषोत्तम योग

जिस प्रकार पिछले अध्याय का विषय क्षेत्र का विश्लेषण था ठीक वैसे ही इस अध्याय का विषय है क्षेत्रज्ञ यानी चैतन्य, विशेष तौर पर उसके तीन पहलू—वैयक्तिक जीव, सर्वभौमिक आत्मा और सर्वोच्च सत्य।

परतु अध्याय का आरंभ संसार-वृक्ष के विवरण से होता है। इस महान प्रतीक का जिक्र ऋग्वेद तथा उपनिषदो[1] मे आया है और प्राचीन काल के सभी लोगो को यह ज्ञात था। स्कैंडिनेविया निवासी इसे पुनीत अंगू-वृक्ष, इग्द्रासिल, कहते थे जिसकी जडे मर्त्य लोक मे व शाखायें आकाश मे थी। स्विनबर्न (Swinburn) ने नार्स प्रकृति देवी हर्था (Nors Nature Goddess Hertha)को अर्पित कविता मे लिखा है—

"The tree many rooted
That swells to the sky
With frondage red fruited
The life tree am I ,
In The buds of your lives is the sap of my leaves,
Ye shall live and not die."

गगनोन्मुख वहुमूल
लाल पर्ण फल फूल,
मै हू जीवन तरुवर।
मेरा ही रस है
तुम्हारी प्राण-कलियो मे
नष्ट नही होगे, रहोगे तुम अजर अमर।

मिस्र के निवासी भी अपने पुण्य गूलर वृक्ष को पूजते थे। अमेरिका के

1 ऋग्वेद 1(24),7 और कठोपनिषद् (6)।

ऐज़्टकों की एक पुण्य वनस्पति बनकुमारी जाति की होती थी, और एरिडू के प्राचीन सुमेरियन किसी आश्चर्यमय वृक्ष के बारे में कहते थे कि "उसकी सफेद स्फटिक की जड़ें बड़ी गहराई तक फैली थी, उसका आसन पृथ्वी का केंद्र था, और उसकी पत्तिया आद्य जननी की शय्या थी। इसके बीचोबीच था ताम्मुज (Tammuz)।[1]

स्थानाभाव के कारण हम यहा इस विषय से सबधित अति रुचिकर प्रतीक-वाद मे नही जा सकते, बस इतना ही कहा जा सकता है कि वृक्ष प्रकृति की देवी उस जगज्जननी का प्रतीक था जो सब जीवधारियो को अपना स्तन-पान कराती है। इसलिए मिस्रवासियो ने गूलर का वृक्ष चुना क्योकि उससे दूध निकलता है और इसलिए प्राचीन हिंदू आर्यो के तीन सबसे पुण्य वृक्ष अश्वस्थ, वड़ और उदुम्बर, सब के सब गूलर जाति के थे।

अश्वस्थ शब्द की निरुक्ति अकसर अ-श्व-स्थ की जाती है, अर्थात् "कल तक न रहने वाला"। यद्यपि यह उस संसार का सही विवरण है जो हमारी आंखो के ही सामने सदा खिसकता जाता है, फिर भी एक प्राचीन कथा है जिसके अनुसार अग्नि (काम चेतना) को अश्व, यानी कामना मनस्, के रूप मे एक वर्ष (एक कल्प) तक इस वृक्ष मे छिपकर रहना पड़ा।[2] इस पौराणिक कथा का बहुत महत्त्व है क्योकि यह उस समेरियन संसार वृक्ष की कहानी से मिलती-जुलती है जिसके बीचोबीच ताम्मुज था। शायद कथा का संबध इस किवदंती से भी है कि मृत आसिरिस[3] के ताबूत के चारो ओर एक सुपारी का वृक्ष उगा क्योकि ये दोनो ही मरने वाले देवता, ताम्मुज व आसिरिस, आंतरिक दृष्टिकोण से उस आत्मन् के प्रतीक है जिसके टुकड़े कर उसे ससार मे बंदी बनाया गया है।

1 द'लवीला कृत 'दि माइग्रेशन आफ सिम्बल्स' (D'Alviella—The Migration of Symbols, पृष्ठ 157)

2 तैत्तिरीय ब्राह्मण 3,8,12,5,21 इस श्लोक पर लोकमान्य तिलक कृत गीता रहस्य भी देखिए। यह कथा महाभारत के अनुशासन पर्व 8,85 मे भी आती है। यह भी ध्यान दीजिये कि अश्व का अर्थ "सात" है (आप्टे का कोष देखिए)। मिस्री "बुक आफ दि डेड" का एक रेखाचित्र पुण्य गूलर वृक्ष को सात शाखाओ वाला दिखाता है, और असीरी जीवन वृक्ष (Assyrian tree of life) के कुछ चित्र भी ऐसे ही हैं। और अन्त मे सुविख्यात एफीसस की आर्टेमिस (Artemis of Ephesus) की अनेक स्तनवाली मूर्ति का धड़ भी सात स्तरो में विभाजित है और इनमे से पाच जीवित प्राणियो के चित्रो से भरे हैं। इनके चित्रो के लिए, मैकेंजी कृत माइग्रेशन आफ सिम्बल्स (Mackenzie Migration of Symbols) देखिये पृष्ठ 162-9

3. प्लूटार्क कृत आ[illegible] ड आसिरिस (Plutarch's Isis and Osiris)। इस विषय का अध्ययन [illegible] नेया में घुमा ले जा सकता है।

प्राचीन भारत के लेखको ने इस प्रतीक मे एक परिवर्तन किया जो, जहा तक मुझे ज्ञात है, और कही नही मिलता। अन्य संसार वृक्षो की जड़ें पाताल मे और शाखाएं आकाश मे हैं परतु ऋग्वेद के वृक्ष के समान गीता का वृक्ष "ऊर्ध्वमूल" है यानी उसकी जड़ें ऊपर अव्यक्त ब्रह्म में हैं जहां से निकलकर उसकी शाखाए--अनात्मिकता के विभिन्न स्तर, मूल प्रकृति के उद्भलय—व्यक्त अस्तित्व के संसारों की रचना करते है।[1] पूरे वृक्ष को वेद कहा गया है क्योंकि यह समस्त ज्ञान का वस्तु-विषय है और उसकी पत्तियां यानी व्यक्तिगत अहं इस सार्वभौमिक वेद के विभिन्न छद हैं। "जो इसे जानता है वह वेद का ज्ञाता है।"

सब गोचर विषयो के रचयिता तीन गुणों द्वारा पोषित (इग्द्रासिल की तीन जड़ों से तुलना कीजिए) वृक्ष की शाखाएं ऊपर और नीचे फैली है, अर्थात् सार्वभौमिक ज्वार उच्च लोकों मे ऊपर की ओर और सार्वभौमिक

श्लोक 2

भाटे निम्न लोकों मे नीचे की ओर जाते है।[2] वृक्ष की चिपचिपी कोपलें मनुष्य को फंसाने वाले इंद्रियो के विषय है। और पूर्व काल के विश्वो[3] के कर्मो की प्रवृत्ति रूपी जड़ें नीचे की ओर बढकर "मनुष्य लोक मे कर्मो के बंधन" रचती है।

मनुष्य जब तक संसार मे है और उसकी चेतना उन नामरूपों में ही लिपटी है जिन्हे वह देखता है तब तक उसके लिए पूरे वृक्ष को देख पाना असंभव है। उस मूलभूत ज्योति को तो वह और भी कम देख सकता है जिसने

श्लोक 3

सब नामरूपों को महागर्भ से बाहर ला उन्हे अस्तित्व प्रदान किया, जो उन्हे इस समय कायम रखे है और जो अत मे उन्हे उस महागर्भ मे ही विलीन कर देगी।

"हां तो अब ब्रह्म के बारे में अन्वेषण किया जाय" ऐसा कह कर ब्रह्मसूत्रों के लेखक ब्रह्म की यह परिभाषा देते है—"वह जिससे नामरूप के समस्त ससार का उद्भव और पालन होता है और जिसमे इसका अंत होता है।" उत्तर तो है और पास ही मौजूद भी है परंतु यदि खोजने वाले मे कुछ विशेष गुण

1. गीता 7, 4 देखिए। इसकी समानता पिण्डाण्ड के स्तर पर मस्तिष्क के स्नायु मंडल में भी मिलती है जिसकी जड़ें तो चेतना के आधार मस्तिष्क में होती हैं लेकिन शाखाए सारे शरीर के अवयवो में फैली होती हैं।
2. अध्याय 11 देखिये।
3. पिण्डाण्ड में पूर्व-जन्म के कर्म। पीपल की एक विशेषता यह है कि इसकी जड़ें मिट्टी की सतह पर तने से मिलने के बजाय हवा में कुछ दूरी तक अपनी अर्ध-स्वतंत्रता बनाये रहती हैं। इस श्लोक के अर्थ पीपल व बड़ के पेड़ में भ्रम के कारण कई जगह गलत लिये गये हैं। बड़ से हवाई जड़ें निकल कर जमीन में जाती हैं, पीपल से नहीं।

नहीं हैं तो अन्वेषण उसे कोरे पांडित्य के जंगल में ले जाकर छोड़ देगा। आम तौर से ये चार गुण इस प्रकार बताए जाते है : (1) विवेक, यानी नित्य और अनित्य में अन्तर पहचान सकना—(2) वैराग्य, यानी अनित्य से मुह मोड़ लेना; (3) षट सम्पत्ति, यानी शम (मन पर नियंत्रण), दम (इंद्रियों पर नियंत्रण), तितीक्षा (दृढ़ता से काम पर लगे रहना), उपरति (बाहरी अनुभव अथवा धर्म से अलग होना), श्रद्धा (गीता के अर्थों में), व समाधान (मानसिक संतुलन), तथा (4) मुमुक्षत्व, यानी अज्ञान से मुक्ति पाने की इच्छा ।

परंतु गीता केवल एक परम गुण का ही जिक्र करती है जो यदि सचमुच उपलब्ध हो जाय तो उसमें अन्य सब समा जाते है। और यह गुण है अनासक्ति। यही वह कुठार है जिससे दृढ़मूल संसार वृक्ष काटा जा सकता है। परंतु अनासक्ति का अर्थ केवल इतना ही नही कि फकीरों के समान संसार से कोई वास्ता ही न रखा जाय। इस प्रकार व्यक्तिगत इच्छाशक्ति को तो बल मिल सकता है, परंतु, जैसा कि भगवान बुद्ध ने अनुभव किया था, ऐसा करने से लक्ष्य के निकट नहीं पहुंचा जाता। वास्तव मे व्यक्तिगत इच्छाशक्ति के बलशाली होने से शिष्य अपने बंधनो मे और भी अधिक जकड़ सकता है। **अपने व्यक्तित्व में बने रहकर अनासक्ति कभी भी उपलब्ध नहीं हो सकती।** न ही वह वैयक्तिक अहंभाव या पृथक जीव में स्थित रहकर मिल सकती है। यह जरूरी है कि शिष्य अपने व्यक्तित्व को अपने से अलग ऐसे देखे जैसे वह स्वप्न में विभिन्न व्यक्तियो को देखता है, और अवैयक्तिक ज्योति में शरण ले। तब जाकर ही उसके हृदय में अनासक्ति प्रस्फुटित होगी क्योकि ज्योति तो सदा निस्संग होती ही है।

बुद्धदेव ने कहा, "अह भाव को पूरी तरह नष्ट कर"; ईसा ने कहा, "मेरी शरण आ" और पंतजली ने कहा "सब चित्तवृत्तियों का निरोध कर", और यह वही चित्त है जो सब बाहरी वस्तुओ से युक्त होकर झूठे अहं को जन्म देता है। इन तथा पथ के अन्य आचार्यो ने अपने-अपने शब्दों मे बस एक ही बात कही है—मनुष्यको क्षुद्र अहं से निकलकरआत्मन् में, मृत्यु से अमरत्वमे और अंधेरे से निकल ज्योति मे जाना चाहिए। इस ज्योति में स्थित होने पर संसार वृक्ष को बांधने वाली शक्ति समाप्त हो जाती है और वह ऐसे छिन्न-भिन्न हो जाता है जैसे चुम्बकीय पर्वत के पास पहुंचने पर लोहे की कीलें उखड जाने के कारण परीकथाओं के जहाज टूट-फूट कर डूब गए थे। "चलने से संसार के अन्त तक नही पहुंचा जाता। मैं घोषणा करता हूं कि इस साढ़े तीन हाथ के शरीर, उसके मन और उसकी अनुभूतियों मे ही संसार है। यही उसका उद्भव विषय होता है और इसी

मे इसके विलय का पथ भी है ।[1]

वाहरी और भीतरी दोनो ही प्रकार के इन्द्रिय विषयो से अपने को अनासक्त कर, सव प्रकार के नामरूप से निस्संग हो शिष्य को आदि चैतन्य की ओर जाने वाले इस ऐसे निर्जन निश्चिह्न ज्योति पथ पर वढते जाना चाहिए जिससे पुरातन काल मे सार्वभौमिक ऊर्जाए वह निकली थी ।

श्लोक 4

परतु परम निरपेक्ष होने के कारण यह चैतन्य हमारे ज्ञान की सीमाओ से परे होता है । इसमे ज्ञाता और ज्ञेय एक होकर ऐसे रहते है जैसे परम जड पदार्थ मे (यदि ऐसी कोई वस्तु हो तो) दोनो एक होते है । वास्तव मे हमारे लिए वह चैतन्य है ही नही क्योकि वह प्रव्यक्त जीवन के पावक, मूल प्रकृति के चन्द्र तथा अव्यक्त आत्मन् के सूर्य के पार होता है । वह शून्य भी है और पूर्ण भी । वहा जाकर कोई वापस नही आता । इसे कृष्ण अपना परम धाम[2] वताते है । यही परम लक्ष्य है और परमानन्द भी यही हे ।

श्लोक 6

इस परम स्तर से उतर कर अव गीता नीचे आती है और अद्वय के आविर्भूत होने का रहस्य समझाती है । उस अखड सत्ता की एक नित्य कला, जिस दृष्टिकोण को पिछले अध्यायो मे समझाया गया है, मानसिक जगत की प्रकृति मे स्थित हो उसके नामरूपो से सयोग करती है । रजस् के प्रभाव से वहिर्मुखी होकर वह निम्न, कामना मनस्, वन जाती है और उसकी ज्योति मे जो स्वाभाविक ज्ञानशक्ति होती है वह अपने चारो ओर के जगत को समझने के प्रयास मे पचेन्द्रियो के रूप मे व्यक्त होती है । पहले तो ये पांच आतरिक या ज्ञानेन्द्रियां होती है परंतु जैसे पिछले अध्याय मे वताया गया, तमस् के प्रभाव मे इनका वाह्यकरण पाच तथाकथित शारीरिक अगो या कामेद्रियो मे हो जाता है। और फिर, हमारे दृष्टिकोण से तो भौतिक शरीर अनुभव का द्रष्टा पक्ष न होकर दृश्य पक्ष ही होता है । वह तो वास्तविक पर्यावरण का केवल एक विशिष्ट अश है क्योंकि वह सवसे निम्न स्तर पर चेतना के वस्तु विषय का भाग ही है ।

श्लोक 7

यह हमेशा याद रखना चाहिए कि इन्द्रिय ज्ञान शक्तिया चैतन्य की स्वाभाविक प्रकाशदायी शक्ति के विभेदकरण का फल है और किसी प्रकार भी भौतिक प्रव्यक्ति मे शामिल नही हैं । इस तथ्य से जीव-वैज्ञानिको की यह सम्मति समझ मे आ जाती है कि विभिन्न इन्द्रिय ज्ञान एक आदि इन्द्रिय ज्ञान के विभेदकरण से ही वनते है और किन्ही विशेप परिस्थितियो मे कोई एक इन्द्रिय किसी अन्य का काम

1. वुद्ध देव, सम्युत्त निकाय, 2.3.6
2 ध्यान दीजिए कि धाम का अर्थ निवासस्थान और ज्योति दोनो ही हैं ।

कर सकती है। स्पर्श ज्ञान की शक्ति त्वचा से काफी दूरी पर भी अपने को व्यक्त कर सकती है।[1]

जब आंतरिक ईश्वर यानी अहं भाव शरीर ग्रहण करता है तो इन इन्द्रिय ज्ञान शक्तियों को बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयोग करता है।

श्लोक 8

यहां यह ध्यान रखना जरूरी है कि वैज्ञानिक और पराभौतिक वर्णन मे सम्भ्रम न होने दिया जाय। वैज्ञानिक हिसाब से या नामरूप के दृष्टिकोण से देहधारण प्रक्रिया का विवरण यो किया जा सकता है कि एक सूक्ष्मतर परंतु फिर भी भौतिक शरीर[2] (काम शरीर) किसी अनुकूल आयोजित वाहन मे प्रवेश करता है। पराभौतिक दृष्टिकोण से यह प्रक्रिया नामरूपों का स्थूलीकरण है जिनसे चैतन्य अपना तादात्म्य स्थापित करता है। या यो कहे कि यह प्रक्रिया तमस् की आवरण शक्ति के प्रभाव मे इन नामरूपो का प्रकाश-क्षय होना है जो कि काम मनस् के तरल आकार से अपेक्षकृत ठोस भौतिक पदार्थो के रूप मे जम जाते है।

एक वार वन जाने पर भौतिक शरीर रजस् और तमस् की विरोधी शक्तियों के संघर्ष का अखाड़ा बन जाता है। जीव-वैज्ञानिक शरीर मे होने वाली दो प्रक्रियाओ, उपचय (सृजन) और अपचय (विनाश) को जानते है जो शरीर के वनने से लेकर उसके नष्ट होने तक बरावर क्रियाशील रहती है। पहले प्रकार की प्रक्रियायें कामभाव के राजसिक प्रभाव मे नित्य शरीर रचना और उनके रखरखाव मे लगी रहती है और दूसरी जड़ता के तामसिक प्रभाव मे वैसी ही तत्परता से जो वनता है उसे नष्ट करती जाती है। जीवन के पूर्वार्ध मे पहली प्रक्रियायें विशेष क्रियाशील होती है परन्तु धीरे-धीरे नाशक शक्तिया प्रवल होती जाती है और अन्त में एक दिन शरीर अहंकार व काम भाव के प्रोत्साहनो पर कान देना वन्द कर उन्हे वापस जाने को मजबूर कर देता है ताकि वह शांति से विघटित हो सके।

परतु जैसा हम देख चुके है इन्द्रिय शक्तियों पर शरीर का नही बल्कि स्वयं अहंभाव का अधिकार होता है। और इसलिए कहा जाता है कि वह उन्हे लेकर

1. दो रोशा कृत "लेक्सतीरियोराइजैस्यो दला मात्रिसिते" (L' Exteriorization de la Motricite by Rochas) देखिए। जूल्स रोमेन्स कृत "आइलेस साइट" (Eyeless Sight by Jules Romains) भी देखिए। भारत में एक प्रकार के योगी एक इन्द्रिय का काम दूसरी से लेने का अभ्यास करते हैं।
2. इस शरीर को भी वनाने वाला "पदार्थ" शायद प्रेतवादियो का एक्टोप्लाज्म (Ectoplasm) है। परन्तु सब प्रकार के पदार्थ को परिशिष्ट "ख" के दृष्टिकोण से देखना चाहिये।

अपने लोक को ऐसे वापस जाता है "जैसे वायु गन्धो को उनके शरणस्थल से ले जाती है" । जब यह अहभाव जाता है तो पीछे केवल मृत भौतिक शरीर को ही नही वल्कि उस कामभाव को भी छोड़ जाता है जो अह-

श्लोक 8

भाव और भौतिक शरीर के बीच की चीज़ है। इस तरह ऊर्ध्वमुखी चेतना हमारे अनुभव के सार को ले चलती है और वह उस पूर्णतया मानसिक रूप मे घुलमिल जाता है जो निरतर चलते भौतिक जन्म-मृत्यु चक्र के केन्द्र-विंदु के इर्द-गिर्द निर्मित होता रहता है ।

जैसा कि गीता मे अन्य स्थान पर लिखा गया है, अपने शुद्ध मानसिक स्तर पर अहभाव, मिस्र-वासियो के कथनानुसार "आहलू" के खेतो मे स्वर्गिक अनाज काटता हुआ, तव तक "विशाल स्वर्गलोक का भोग करता है", जब तक कि सारे कर्मफलो का भोग पूरा नही हो जाता—इस प्रक्रिया मे कई सदिया लग सकती है—और उसके वाद रजस् और तमस् का मिश्रित अधोगामी प्रभाव एक बार फिर सक्रिय हो जाता है और अहभाव पुनर्जन्म होने की आकाक्षा करने लगता है ।

मूढ व्यक्ति आत्मन् को न तो शरीर से निकलता देखते है और न उसे शरीर मे स्थित ही देखते है। उपनिषद् का पूछना है "वह द्रष्टा कैसे देखा जाए ?" और जिनकी दृष्टि वाहरी नामरूपो मे ही फंसी है

श्लोक 10

वे अपने चीरफाड़ के औजारो और सूक्ष्मदर्शी यत्रो की मदद से भी केवल नामरूप ही देख पाते है ।

वाह्य प्राणायाम इत्यादि मे या, वहुत हुआ तो, अपने मन को वशीभूत करने मे लगा हुआ योगाभ्यासी भी यदि अन्तर्मुखी हो सव नामरूपो से निस्सग होकर आत्मन् की ओर नही मुड़ता तो वह केवल तुच्छ

श्लोक 11

सिद्धिया ही प्राप्त कर पाएगा। अमरत्व के आकाक्षी, ज्ञान-चक्षु वाले कुछ विरले ही अपनी दृष्टि को अतर्मुखी कर हृदय मे स्थित जीवात्मा को देख पाते है ।[1]

परंतु वह जीवात्मा भी विश्व आत्मा की ही एक कला है । अहंभाव के चारो ओर निर्मित नामरूप मे नही, वल्कि स्वय उसके अन्दर जो ज्योति है वह वही है जो अन्य जीवो मे भी चमकती है और जो उसे ठीक

श्लोक 12

से देख पाता है वह सूर्य, चन्द्र , और अग्नि[2] के पार उस ब्रह्म की एकता पर आधारित सर्वव्यापी एकता देख लेता है ।

1. कठोपनिषद् 2, 1, 1 "कश्चिद्धीर. प्रत्यगात्मानम्…"
2. इस अध्याय के छठे श्लोक की टीका देखिए ।

अपने ज्योति ओज के रूप मे यह पर-ब्रह्म "पृथ्वी", अर्थात् अपने जड़पक्ष (मूल प्रकृति) में प्रविष्ट होकर सर्वभूतों का आधार बनता है और फिर काम-रंजित अमर अद्धय (रसात्मक सोम) वन कर वही वैयक्तिक जीवन के "पौधो" (औषधि)[1] का पोषण करता है। इससे भी नीचे चल कर वह काम-जीवन का अग्नि, वैश्वानर, बन जाता है जो समस्त संसार मे जलता रहता है। स्वयं अहभाव न होकर यह अहंभाव के चारों ओर संगठित वह अवैयक्तिक आग है जिसकी जीवित लपटे किसी प्राणमय शरीर से युक्त होकर भौतिक जगत के चार तत्त्वों से निर्मित भोजन को ग्रहण करती व पचाती है।

श्लोक 14

इन विभिन्न स्तरो पर और विभिन्न प्रव्यक्तियो मे उस एक दैवी कृष्ण को ही खोजना चाहिये जो "सब के हृदय मे स्थित है"। वहां उसकी उपस्थिति से ही जीवन का सारा प्रवाह, यहां पिण्डाण्ड मे और वहां ब्रह्माण्ड में भी चलता है। उसकी उपस्थिति के ही कारण पुराने अनुभवो के चित्र सुसंगत हो स्मृति वन जाते है—ऐसी स्मृति जिसमे उसके चरणो मे स्थित योगी की तो सारी पूर्वजन्म श्रृंखला ही चित्रित हो जाती है। उसकी त्रिकाल दृष्टि न हो तो भूतकाल का अस्तित्व हमारे मन की आंखो के सामने टिक ही न पाए। और उसी कृष्ण से आती है द्रष्टा और दृश्य को जोड़ने वाली वह कड़ी जिसे खोजने के असफल प्रयास में कितावी दर्शनशास्त्री लगे रहते है—वह ज्ञान शक्ति जिसके द्वारा हम उसे जान पाते है जो "हकीकत में है" और, जैसा कि कुछ लोग सोचते है, अपने दिमागी खयालात तक ही सीमित नही रह जाते। सच्चा ज्ञान हृदय मे "उस" की उपस्थिति से ही सम्भव होता है क्योकि वही द्रष्टा और दृष्य को एकता मे समोए रखता है।

श्लोक 15

स्मृति के ज्ञान का अभाव या हानि (अपोहनम्) भी "उस" के ही द्वारा होता है क्योकि सर्वव्यापी ज्ञान को सीमित करने से ही यानी स्मृति के उत्तरार्ध रूपी भविष्य की इन झांकियों को रोक देने से ही, जो कि "उसकी" दृष्टि मे तो वरावर वनी रहती है, जीवन-धारा को किसी दिशा विशेष मे प्रवाहित किया जा सकता है। जिसे हम नही जानते, जिसे हम याद नही कर पाते, वह भी किसी निर्दिष्ट समय पर व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन प्रवाह की दिशा पर उतना ही प्रभाव डालता है जितना वह जो हमें ज्ञात या याद होता है। यही है वह

1. औषधि मक्का इत्यादि उन पौधो को कहते हैं जो फल देने के वाद मर जाते हैं और अगले वर्ष वीज से फिर उत्पन्न होते हैं। इनके विपरीत वनस्पति है जो वृक्षो के समान कई वर्षों तक रहते है, औषधियां क्षणभगुर वैयक्तिक स्वत्व की प्रतीक हैं और वनस्पतियां अपेक्षाकृत स्थायी अहभाव या जीव की प्रतीक हैं।

सर्वातीत होते हुए भी सर्वव्याप्त अद्वय सत्ता जिसकी सम्पन्न एकता बहुमुखी सुसगति मे, वैदिक प्रतीको मे, व अधिक प्रत्यक्ष "दार्शनिक" रूप से वेदान्त (उपनिपदो) मे, दर्शाई गई है। यदि वह अद्वय हृदय मे स्थित न होता तो वेदान्त का ज्ञानोदय हो ही नही सकता था। वही अद्वय वह गुप्त स्रोत है जिससे उसका सजीवन जल आप्लावित होता है।

अगले श्लोको मे चैतन्य या पुरुप की प्रव्यक्ति की तीन रीतियो का अति महत्त्वपूर्ण शिक्षण आता है। पहले श्रीकृष्ण उन दो सुविख्यात रीतियों को बताते है जिनको उन्होने यहा "क्षर" अर्थात् प्रवाहशील और "अक्षर" अर्थात् प्रवाहरहित कहा है। प्रवाहशील चेतना वह है जो एक प्रकार से समय की धारा मे किसी केन्द्र बिन्दु विशेष से निकल कर प्रवाहित होती है। दूसरे शब्दो में यह चेतना अगणित प्राणियो के अनवरत कालक्रम के रूप मे व्यक्त होती है। यही विश्व प्रांगण मे नदी के समान बहने वाले सब सीमित अहभावो की आधार है।

बहरहाल, इसके भी पार विशाल प्रवाह रहित सामुद्रिक चैतन्य है जो निरपेक्ष और समान दृष्टि से सारे प्रव्यक्त विश्व को व्याप्त किये है। यही है सुमेरु पर्वत पर स्थित वह "कूटस्थ" जिसकी प्रशात निर्लिप्त दृष्टि मे सब कुछ बराबर है। सब बीते कल आने वाले कलो के समान है, और यहा कर्म व प्रवाहित गतिशीलता टिक ही नही सकते। यही ब्रह्माण्ड का अचल साक्षी कभी न विचलित होने वाला प्रकाश है। इसे परम लक्ष्य मानकर बहुतो ने इसकी अविक्षुब्ध शाति मे निरतर परिवर्तनशील और दु खमय ससार से बच कर आश्रय लेना चाहा है। चैतन्य की ये दो कलाएं उपनिपद् के वे दो सुपर्ण है जो एक ही वृक्ष पर बैठे है। एक तो परिवर्तनशील व्यक्तिगत अहं है जो गतिशील अनुभव के मीठे फल खाकर बंधन मे फंस जाता है, और दूसरा अपरिवर्त्य साक्षी देखता तो है पर खाता कुछ नही।[1]

परन्तु इन दो के अलावा एक तीसरा सुपर्ण भी है, वह चैतन्य जो परमात्मन् है—सर्वोच्च, सर्वोत्तम।

और यह पुरुपोतम कोई सर्वातीत सत्ता मात्र ही नहीं जो सब विश्वो के पार किसी निराली शान के साथ अपने सिंहासन पर आरूढ़ हो। वह दूसरा, यानी अक्षर, पुरुष प्रव्यक्ति की लीला मे प्रविष्ट हुआ नही कि वह प्रवाहित होने, और इसलिए अपना स्वभाव गवाने लगता है। परन्तु परम चैतन्य—परमेश्वर—समस्त सृष्टि के

श्लोक 17-18

1. मुण्डकोपनिपद् 3, 1, ऋग्वेद 1,164,20। इसी तरह इगद्रासिल की सबसे ऊची शाखा पर एक गरुड़ बैठा था और अन्य पक्षी निचली शाखाओ पर थे।

अन्दर भी है और उसके पार भी क्योंकि, जैसा श्रीकृष्ण कहते है वे इस पुरुषोत्तम रूप में ही स्वभाव स्थिति की हानि के विना प्रव्यक्ति के केन्द्र में प्रवेश कर तीनो लोको का भरण-पोषण व शासन करते है। यही चैतन्य श्रीकृष्ण का असली स्वरूप है जिसका वे कई बार जिक्र कर चुके हैं। सीमित परन्तु सदा सक्रिय व परिवर्तनशील जीवो से परे, सार्वभौमिक साक्षी की अपरिवर्त्य निश्चलता से भी उत्तम तथा उससे परे, वैयक्तिकता व अवैयक्तिकता के द्वंद, साकार और निराकार के पचडे के पार वही सर्वोच्च व सर्वोत्तम है। श्रीकृष्ण का चैतन्य ही सबका भर्ता है। उन्ही का चैतन्य प्रत्येक परमाणु को उसके हृदय बिन्दु से प्रेरित कर चलाता है। चल व अचल उनके लिए एक समान है; स्वतत्रता और अनिवार्यता उनके दो हाथो के समान है, अपरिवर्त्य सूर्य तथा सदा परिवर्तनशील चन्द्र उनके दो नेत्र है और वे उन दोनो से एक साथ ही देखते है। परिमित हो जाने के भय से मुक्त यह श्रीकृष्ण ही प्रत्येक नामरूप के मर्म मे प्रवेश कर जाते है; हर बधन से निडर, कृष्ण ही वह गुप्त शक्ति हैं जो समस्त चर जगत को गति देती है।

निस्संदेह इस दैवी परम स्वभाव स्थिति के ज्ञान के कारण ही भागवत या पंचरात्र की शिक्षा (जिसके बारे मे अध्याय 4 श्लोक 1 की पादटीका मे कहा गया था) को त्रिसौपर्ण, तीन पक्षियो की शिक्षा, कहा जाता था ताकि इस शिक्षा और उन सम्प्रदायो की शिक्षा मे भेद किया जा सके जिन्हे केवल उक्त लिखित दो पक्षियों का ही ज्ञान था। पुरुषोत्तम की इस अद्भुत स्वभाव स्थिति के कारण ही अस्तित्व के दो पहलू, चर व अचर, संसार और निर्वाण, एक प्रगाढ़ आलिगन मे वधे है। और इस प्रकार हमारा यह संसार एक ऐसी भयानक भूल मात्र ही नही रह जाता जो कि कुछ पद्धतियो के अनुसार होनी ही नही चाहिए थी और एक विचित्र अगम्यवादी तर्क-प्रणाली के अनुसार तो जो कभी हुई ही नही है।

परमात्मन् का यह परम संतुलन ही "वैयक्तिक" कृष्ण के रूप मे व्यक्त होता है। तभी वे ऐसे अलौकिक अधिकार से बोल सकते है, ऐसे परम प्रभुत्व व स्वतंत्रता से कर्म कर सकते है, सब रागद्वेषों से परे निरपेक्ष रह सकते है और साथ ही जिन्होने प्रेमपूर्वक उन्हे आत्मसमर्पण किया है उनके भावोन्मत्त प्रेमी भी हो सकते है। उन्होने सब मे भाग लिया—प्रेम मे, युद्ध मे, राजनीति मे, लेकिन रहे वे हर हालत मे अविक्षुब्ध। प्रेमियों, गुरुजनो, योद्धाओ, राजनयिकों में सर्वश्रेष्ठ, वे साथ ही भोलेभाले ग्वालों के सखा और ब्रज की गोपियों के प्रेमी भी थे। वे सब के लिए एक ही थे और फिर भी सदैव उनके पक्ष में थे जो उन्हें प्रेम करते थे। कौरव और पाण्डव उनके लिए बराबर थे और उन्होने शांति

स्थापना के लिए पूरा वाक्चातुर्य दिखाया परन्तु फिर भी ये सब यत्न करने से पहले ही वे द्रौपदी को युद्ध का वचन दे चुके थे।

इसीलिए इस अध्याय के अन्तिम श्लोको मे वे कहते है कि सब द्वंद्वो और संसार व निर्वाण के इस परम द्वन्द्व के भ्रम में पडे बिना जो उन्हे पुरुषोत्तम रूप मे जानता है केवल वही सब कुछ जानता है और केवल वही अपने सर्वस्व से उनकी सेवा कर सकता है। अन्य लोग उनकी सेवा तो कर सकते है परन्तु केवल अपने श्रेष्ठतर अशो से ही; अपने पूरी तरह संघटित अस्तित्व से तो बस वही सेवा कर सकता है। यही गुह्यतम शिक्षा है और इस विषय पर श्रीकृष्ण पूरे संवाद के अत मे फिर आयेंगे। जो इसके गूढ रहस्य को समझ गया उसने सब कुछ पा लिया।

श्लोक 19-20

अध्याय-16

उज्ज्वल और तमोमय शक्तियों के भेद का योग

इस अध्याय के शीर्षक का शब्दशः अनुवाद होगा "दैवी और आसुरिक सम्पदाओं का भेद"। परन्तु इसमें कम-से-कम पाश्चात्य पाठकों को मिल्टन के द्वैतवाद की ध्वनि आती मालूम होगी जो कि गीता के अभिप्राय से नितान्त भिन्न है। "दैव" शब्द और इससे बना विशेषण "देवी" दोनों ही "दिव्" धातु से बने है और दिव् का अर्थ है उज्ज्वल अथवा चमकने वाला। "असुर" शब्द पहले तो इन्द्र व अन्य वैदिक देवताओं का सूचक था परन्तु बाद मे इसका अर्थ "जो दिव्य नही" अर्थात् "तमोमय" हो गया।

इस संसार मे दो प्रकार के स्वभाव होते है, दैवी व आसुरिक, और इस अध्याय का उद्देश्य उनके भेद को समझना है। परन्तु यह किसी एक वैयक्तिक ईश्वर या आचार्य विशेष की इच्छा पर आधारित मनमाने ढंग से किया गया भले-बुरे का भेद नही, बल्कि स्वयम् सार्वभौमिक प्रव्यक्ति के स्वभाव पर ही आधारित है।

विश्व के उन ज्वार-भाटो का जिक्र तो पहले किया ही जा चुका है जिन्हे पारिभाषिक रूप से "प्रवृत्ति" व "निवृत्ति" कहा जाता है। प्रवृत्ति वह बहिर्गामी महा श्वास है जिसके द्वारा ब्रह्म से विश्व का उद्भव होता है; निवृत्ति इसी के प्रतिरूप अंतर्गामी श्वास है जिसके द्वारा सब वस्तुये अद्वय की ओर वापस आती है।

इन दो गति क्रियाओ को "उज्ज्वल" व "तमोमय" नाम देकर हमे साधारण नैतिक अर्थों के जंजाल में फंसने से सतर्क रहना चाहिये। आसुरी शक्ति तमोमय इसलिए कही गई क्योंकि इसमे ज्योति नामरूप के अन्दर लगातार और अधिक डूबती चली जाती है; दैवी को उज्ज्वल इसलिए कहा

गया है क्योकि इसका रुझान ज्योति की मुक्ति की ओर है। ऐसी मनोस्थितियां जो वहिर्गामी गति-क्रिया को व्यक्त करती है, या उसकी सहायता करती हैं, तमोमय कहलाती है, और जो प्रत्यावर्तन को व्यक्त करती है वे उज्ज्वल कहलाती है।

संसार के नैतिक द्वैत का वास्तविक आधार यही है, परन्तु किसी नैतिक द्वैतवाद को अपरिवर्त्य या अंतिम मान कर फिर इस विपय मे माथापच्ची करना कि "अशुभ का मूल" क्या है एक वहुत वडी गलती है। सार्वभौमिक ज्वार-भाटो का द्वैतवाद तो हर सृष्टि-क्रम मे अनिवार्यत. होगा ही। एक ही तरह की गति-क्रिया पर आधारित विश्व ऐसे ही नही हो सकता जैसे कि विना झटका दिए चलने वाली वन्दूक नही हो सकती। क्रिया और प्रतिक्रिया तो प्रव्यक्ति मात्र के लिए अनिवार्य हैं, और विशाल सृष्टि यत्र भी इस विधान से वच नही सकता।

अधिकाश तथाकथित नीति-शास्त्र किसी विचारक विशेप के अपने समाज के रीति-रिवाजो और पक्षपातो को युक्ति-युक्त मान्यता देने का प्रयत्न भर होते है। कुछ कर्मों को अच्छा वता दिया जाता है और कुछ को वुरा—जैसे, किसी "अन्य व्यक्ति" की सम्पत्ति पर अविकार या किसी विशेष प्रकार का यौनाचार। परन्तु ऐसे नाम देने से केवल यही प्रश्न पैदा नही होता कि 'वदी' विश्व मे हो ही क्यो वल्कि यह भी मालूम हो जाता है कि इस पृथ्वी पर ही ऐसे अन्य समाज भी है जो इन नामों को नही पहचानते और कही-कही तो उनका ठीक उल्टे अर्थो मे प्रयोग करते है। और क्योकि पराप्रकृतिवादियो की कपोल-कल्पना के अलावा अपने पूरे रूप मे विश्व इन मान्यताओं पर अमल करते नही मालूम होता, अतः फैसला कर लिया जाता है कि विश्व अनैतिक है और इस प्रकार मानव और प्रकृति के द्वैत को और अधिक वढ़ावा देकर वेचारा मनुष्य अपने को ऐसी दयनीय स्थिति मे पाता है गोया कि उसे तो भले-वुरे की फिक्र है लेकिन जिस विश्व मे वह है वह स्वय इस विषय मे नितांत उदासीन है।

ऐसा निष्कर्ष तो कतई नागवार है क्योकि इस से मनुष्य या तो अपने ही हाथो से वनाई हुई उस प्रतिमा का पुजारी वन जाता है जिसमे वह जानता है कि कुछ भी असलियत नही, और या फिर यह उसे उसकी अपनी उच्छृंखल कामनाओ के चगुल मे फंसा देता है।

हमारी नैतिकता तो दोहरी सार्वभौमिक गति पर आधारित है और इसी कारण आपेक्षिक होनी चाहिये। वौद्ध दर्शन मे दो प्रकार के कल्पो (प्रव्यक्ति कालो) का वर्णन है जिन्हे क्रमशः विवर्तकल्प अर्थात् निर्वेष्टन (खोलने) और सम्वर्त कल्प अर्थात् आवेष्टन (लपेटने) की कालावधि कहा जाता है। जब

वोधि प्राप्ति से पहले दिन भगवान बुद्ध ने अपने समस्त पूर्वजन्मो की श्रृंखला देखी तो उन्हें याद आया कि उन्होने एक के वाद एक आने वाली विवर्तन और प्रत्यावर्तन की ऐसी कितनी ही अवधियों में जीवन व्यतीत किया था। परन्तु इस प्रकार विश्व को सृष्टि की सीधे खुलते जाने और उसके वाद सीधे वापिस लिपट जाने की प्रक्रिया के रूप मे नही वल्कि एक चाक्रिक प्रक्रिया के रूप में देखना चाहिए, जिसमे कितने ही एक के वाद एक आने वाले युगो मे अवरोहण और ऐसे ही फिर आरोहण होता है।

अतएव, यदि नैतिकता का विश्व मे कोई आधार होना है तो हमे भलाई या वुराई की परिभाषा उन प्रक्रियाओ के अनुसार करनी चाहिए जो काल विशेप में प्रवल सार्वभौमिक प्रवृत्तियो के अनुकूल या प्रतिकल हो। ये प्रवृत्तिया क्या हैं यह इस पर निर्भर करता है कि हम निर्वेष्टन युग मे रह रहे है या आवेष्टन युग मे। जो गुण भौतिकता की ओर अधिकाधिक वढने वाले विस्तार काल मे सहायक होते और इसलिए उस काल मे "अच्छे" कहलाते है, वे उन गुणो के विल्कुल उल्टे हैं जो आरोहण या प्रत्यावर्तन काल मे उपयोगी सिद्ध होंगे। इस प्रकार एक युग के सद्‌गुण दूसरे के दुर्गुण वन जाते है।

नीति-निरपेक्ष "उज्ज्वल" और "तमोमय" शब्दो के प्रयोग करने से इस अस्पष्टता या आपेक्षिकता से वचत हो जाती है क्योंकि इस प्रकार हम केवल किसी युग की विशेषताओ का जिक्र ही करते है उन पर नैतिक फैसला नही देते।

मान्यताओं मे ऐसे अदल-वदल के कुछ दृष्टांत हिन्दू पौराणिक कथाओ मे अव भी मिलते है। पुराणों मे आता है कि विश्व के आदि कालो मे किन्ही विशेप अर्हंजीवो को मनुष्य जाति की वृद्धि करने का काम सौपा गया था। परन्तु उन्होने उससे इन्कार कर दिया और ब्रह्मचारी तपस्वी वन गये। उनका यह आचरण अन्य युगों मे भले ही "पुण्य" कहा गया हो पर उस युग में तो इसे "पाप" ही समझा गया, क्योकि कहा जाता है कि इसके कारण वे श्राप के भागी हुए।

असुर शब्द का अर्थ-परिवर्तन भी कदाचित् इसी वात का द्योतक है। आदिकाल मे, जैसा कि कहा जाता है, यह शब्द वरुण, इन्द्र, अग्नि जैसे महान् देवताओं की उपाधि के रूप मे प्रयोग होता था और पारसी परम्परा के अहुर मज्द में अव भी ऐसा ही है। परन्तु वाद में असुर का अर्थ देवताओ के "तमोमय" शत्रुओं के रूप मे किया जाने लगा। ऐसी ही वात "प्रभातपुत्र" लूसिफर के साथ हुई कह सकते हैं, जिसके नाम ही से यह स्पष्ट है कि वह ज्योति का वाहक, यानी ज्योति के अवरोहण का द्योतक था। बाद में वही ईश्वर और सत्कर्मी मनुष्यो का शत्रु, ईसाई परम्परा का शैतान हो गया।

सिद्धात को छोड जब हम व्यावहारिकता के क्षेत्र मे आते है तो सबसे पहला सवाल यह उठता है कि हमे यह मालूम कैसे होगा कि जिस युग मे हम रह रहे है वह विस्तरण का है या प्रत्यावर्तन का। इसका उत्तर मुख्यत: हमारे अपने हृदयो मे ही है जिनमे कि समस्त विश्व प्रतिबिंबित होता है और इसलिए वे यह जान लेते है कि किसी समय किस ओर का रुझान क्रियाशील है। परन्तु अन्दर की इस अभी तक हल्की-सी आवाज को अपने युग के उन महान आध्यात्मिक आचार्यो के समर्थन से बल मिलता है जो द्रष्टा होने के कारण विश्व-विधान की वाणी के अनुसार शिक्षण देते है।

अब यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ऐतिहासिक काल के सब महान आचार्यो के शिक्षण मे स्पष्टत. आरोहण या निवृत्ति पथ की नीति पाई जाती है। गीता, बुद्ध, ईसा तथा शंकर की नीति इतनी स्पष्टत: ऊर्ध्वमुखी है कि ऐसी शिक्षाओ को ही शुद्ध सच्ची नैतिकता समझने की भूल हो सकती है और अन्य प्रकार की शिक्षाओ को सदा के लिए बुरा समझा जा सकता है।

परन्तु ऐसे भी पक्के सकेत है जिन से स्पष्ट हो जाता है कि ये निष्कर्ष भ्रातिपूर्ण हैं। इतिहास को ज्ञात प्राचीनतम सस्कृतियो मे, हमारे 'अपने युग' से पचास-साठ शताब्दियो पहले की सभ्यताओ मे, हम पाते हैं कि उनके धर्म एकदम भिन्न थे। मैने धर्म शब्द का प्रयोग बहुवचन मे किया है लेकिन शायद एकवचन का प्रयोग ही उचित था, क्योकि जैसे सब आधुनिक धर्मो मे एक समानता मिलती है वैसे ही उन प्राचीन धर्मो मे भी समरूपता थी।[1] बाबल, प्राचीन मिस्र या क्रीटवासियो के धर्मो की "ऐतिहासिक" गुरुजनो द्वारा स्थापित धर्मो से तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि प्राचीन धर्मो के दृष्टिकोण मौलिक रूप से भिन्न थे।[2]

1 मैं यहा "गुह्य ज्ञान" परम्परा की उस क्षीण धारा की बात नही कर रहा हू जो ऐसे थोड़े-से लोगो के लिए होती है जो सदैव ऊर्ध्वगामी पथ का अनुसरण करते हैं बल्कि उन बाह्य सम्प्रदायो के बारे मे कह रहा हू जो जनसाधारण के लिए बने होते है।

2. इस कथन का खडन उपर्युक्त उद्धरणो द्वारा किया जा सकता है परन्तु मेरा विचार है कि लौकिक प्राचीन धर्मों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर मान्यताओ तथा सामान्य "वातावरण" मे गहन गुणात्मक अतर नजर आयेगा। उदाहरण के लिए देखिए कि किस प्रकार डी० एच० लारेंस सर्व स्वीकृत आध्यात्मिक मान्यताओ के खिलाफ विद्रोह में एट्रस्कन (Etruscan) जाति के जैसे प्राचीन धर्म सम्प्रदायो की ओर आकृष्ट हुआ और "काले देवताओ" का पूजक बना "सैटर्नेलिया" (Saturnalia) व अन्य इसी प्रकार के उत्सवो के बारे मे लिखते हुए सर जेम्स फ्रेजर (Sir James Frazer) ने अपनी "गोल्डन बाव" (Golden Bough) नामक पुस्तक में कहा है "यह सब बातें किसी एक ही चित्र के अग हैं, शायद ये सब किसी सुदूर काल मे भूमध्य सागर से प्रशात महासागर तक फैले पुरानी दुनिया के किसी एक ही जैसे धर्म और समाज के बचे-खुचे भाग हैं।"

सब ही प्रागैतिहासिक धर्मो में प्रवृत्ति पर जोर दिया गया है, विशेष तौर पर उसके यौन शक्ति रूप पर और उनमे ऐसे रीति-रिवाज शामिल है जिनकी नैतिकता आज हमारी नजरों में संदिग्ध है। तब महाशक्ति जगज्जननी ही पूजा की मुख्य पात्री थी। गीता में जो धर्म प्रतिधारित है उसके लिए वही संसार-वृक्ष बन गई है जिसे अनासक्ति के कुठार से काटना होता है। इस अन्तर को मनुष्य की धार्मिक सूझबूझ मे हुए संवर्धन की दुहाई देकर टाला जा सकता है, परन्तु ऐसा करना दो युगो की मान्यताओ के वास्तविक अन्तर पर परदा डालना ही होगा।

यूनान के आर्फिक व इस प्रकार की अन्य विचारधाराये मिस्र मे "र्हमिस-वाद" भारत में बौद्धधर्म, मध्यपूर्व तथा यूरोप मे ईसाई मत—ये सब केवल अधार्मिक दुनिया में आने वाले अत्युत्तम धर्म ही नही थे बल्कि ऐसे आंदोलन थे जो एक नये युग का सूत्रपात करने के लिए आए थे और जिन्होने पुराने युग की अनेक मान्यताओं को उलट कर मनुष्यो के हृदय को उस निवृत्ति के पथ पर अग्रसर किया जिसका कि वर्तमान काल मे प्राबल्य है—इस मानी मे नही कि मानव जाति पर इसका आधिपत्य हो गया है बल्कि इस अर्थ मे कि इस वर्तमान युग की मान्यताएं निवृत्ति की ऊर्ध्वगामी आध्यात्मिक मान्यताएं है।

परन्तु आइये अब फिर अधिक प्रत्यक्ष रूप से गीता की ओर आया जाय। शरीर की उपचय (सृजन) और अपचय (विनाश) की प्रक्रियाओ की तरह हर युग मे बराबर साथ-साथ चलने वाली दैवी और आसुरिक मनोस्थितियों के बारे में शिक्षण को तब तक के लिए मुल्तवी रखा गया था जब तक कि शिष्य पथ पर काफी आगे न बढ़ आए। कारण यह है कि इस शिक्षण का असर अपरिपक्व जीवात्माओं पर यह होता है कि वे हमेशा अपने पक्ष को दैवी तथा अपने प्रतिद्वंद्वियो को आसुरिक मान बैठते है। स्वयं अपने आप तो वे "ईश्वर के चुने हुए जन" हो जाते हैं और उनके शत्रु शैतान के चेले। पिछले महायुद्ध मे प्रत्येक राष्ट्र न्याय और धर्म के ही लिए लड़ने का दावा करता था।

गीता मे दी गई उज्ज्वल और तमोमय गुणो की सूचियो का अध्ययन करते समय उन्हे शताब्दियों की सामान्य नैतिक विचारधारा के प्रभाव से आई "पाप" "पुण्य" की बू से मुक्त करना जरूरी है।

यह समझना जरूरी है कि दान का मतलब सिर्फ भिक्षा बांटना, अनाथालयों को चलाना या पुण्यकर्मो का ढिंढोरा पीटना ही नही है और स्वाध्याय का पश्चिम मे चलने वाली बाइबिल क्लासों या भारत के रूढ़िवादी वर्गो मे इतने लोकप्रिय यंत्रवत् गीतापाठ से कोई वास्ता नहीं है। दान वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा विश्व की अच्छी वस्तुयें बंद पानी की तरह कुछ एक व्यक्तियों तक ही

सीमित न रह कर प्रवाहित हो सब तक पहुचें और जाहिर है कि यह क्षुद्र अहभाव के बंधनो को तोड़ने का साधन है। ऐसे ही स्वाध्याय का अर्थ ज्ञानसचय के लिए अध्ययन करना है और कोई जरूरी नही कि यह अध्ययन "धार्मिक" पुस्तको का ही हो।

यहा दिये अन्य गुणों की विस्तारपूर्वक समीक्षा आवश्यक नही है, बस इतना ही कहना जरूरी है कि इन गुणो का परम्परागत अर्थ लगाने मे खतरा है और इन अर्थो मे वे अक्सर गुण न रह कर दोप हो जाते है जिनका ऊपर से तो अधिकाश लोग अनुमोदन करते है लेकिन दिल ही दिल उनके खिलाफ विद्रोह की भावना रखते हैं। यह एक वेमतलव वात नही है कि परम्परागत सन्तो के परम्परागत सद्गुण स्वस्थ मनवाले लोगो को अच्छे नही लगते। इन गुणो के असली अर्थो को ढूढ निकालना और उन पर जमी सदियो की पवित्रता की धूल को झाडना इस पथ के शिष्य के लिए महत्त्वपूर्ण साधना है। जिसने इस दिशा मे प्रयास किया हो वही जानता है कि ऐसा करने से और घिसी-पिटी धारणाओ को त्याग देने से कितना गहन नीति-वोध होता है। और सवसे वडी वात तो यह है कि अव शिष्य प्रत्येक वस्तु का उसके वाहरी रूप के अनुसार मूल्याकन करने की आम गलती से वच जायगा क्योकि अव उसे यह मालूम हो जाएगा कि विभिन्न मनुष्यों द्वारा किये गये ऊपर से एक जैसे लगने वाले कर्मों का आतरिक दृष्टि से विलकुल अलग-अलग महत्त्व होता है।

ध्यान दीजिए कि उज्ज्वल कहलाये जाने वाले सव गुण ज्योति की मुक्ति मे सहायक होते है, परन्तु अपने आप मे वे ज्योति के नही वल्कि उस मनोभौतिक वाहन के गुण होते है, जिसमे यह ज्योति फसी होती है। जैसे स्पज मे भरे पानी को निकालना ईंट मे भरे पानी को निकालने से आसान होता है वैसे ही ये गुण भी वाहन को कावू करने और उससे अपने को अलग करने मे ज्योति का काम आसान कर देते हैं।

इसलिए, "अहिंसा" का अर्थ है रजस् की वहिर्मुखी शक्तियो को रोकना। जैसा कि हम चौदहवें अध्याय के सदर्भ मे देख चुके है, यही शक्तिया एकता पर आधारित प्रेम को "खूनी दात-पंजो वाली प्रकृति" मे और उससे भी वदतर, खूनी तलवार और संगीन वाले इंसान मे वदल देती है।

श्लोक 2

ऐसे ही 'तेज' उस तामसिक वोझ को काट फेकने का साधन है जो ज्योति को भौतिकता के जड़ आलस्य मे डुवा देता है।

श्लोक 3

तमोमय गुणो के विवरण मे एक कठिनाई तो तत्काल ही उपस्थित हो जाती है। पहले जिन निष्कर्षों पर हम पहुचे उनके प्रतिकूल इस सिलसिले मे ऐसे शब्द प्रयोग किए गये हैं जिनमे इनके प्रति नैतिक कुत्सा की झलक है।

आसुरिक व्यक्तियो मे उनके अपने विशेष क्षेत्र, प्रवृत्ति तक का ज्ञान भी स्वीकार नही किया गया है। उन्हें "नष्टात्मान:" यानी बर्बाद आत्मायें कहा गया है जिसके अर्थ है कि उनकी ज्योति एकदम डूब चुकी है

श्लोक 7 और वे "जगत के अहित के लिए उत्पन्न होते है।"

इन कटु-वचनों का निस्तार तब होता है जब हम यह याद करते है कि गीता निवृत्ति काल[1] के लिए लिखी गई है, और इसलिए, यहां ये आसुरिक गुण अपने उचित रूप मे प्रवृत्ति की बहिर्मुखी मनोस्थितियां

श्लोक 9 नही बल्कि एक मानी मे इन गुणों के ऐसे अवशेष है जो अपने यथोचित समय से बहुत आगे निवृत्ति काल तक चले आने के कारण विकृत और कुत्सित रूप मे प्रकट होते है। इनमे और शुद्ध प्रवृत्ति के गुणो मे वही संबंध है जो किसी बूढ़े की कामुकता और नव यौवन की सहज प्रणय कामना में होता है।

निवृत्ति काल की प्रवृत्ति वह स्वस्थ व तेजस्वी बहिर्मुखी गति क्रिया नहीं है जो वह उस समय थी जब उसे विश्व विधान का अनुमोदन प्राप्त था। अब तो वह यदाकदा फूट पडने वाली विघ्नकारी व हानिकारक

श्लोक 7 प्रत्यक्ति है जो कोशाणुओ की उस अवांछित क्रियाशीलता के समान है जिससे शरीर मे व्याधि-ग्रन्थियां पैदा होती हैं। इसीलिए कहा गया है कि (निवृत्ति काल में) आसुरिक व्यक्ति "न ठीक प्रवृत्ति जानते है न ठीक निवृत्ति।"

आठवें श्लोक को भी इसी दृष्टि से समझना चाहिए—"वे कहते है कि जगत सत्य रहित, आधारहीन, विना किसी अधिष्ठाता स्वामी के, काम हेतु परस्पर संयोग[2] से उत्पन्न हुआ है और उसके अलावा अन्य कुछ नही है।"

ऐसे लोग इतना तो जानते है कि उनके अपने कर्म किसी मूलभूत लय या सत्य पर आधारित नही बल्कि केवल कामना से प्रेरित होते है और विश्व-विधान का समर्थन उन्हे प्राप्त नही होता, इसलिए स्वाभाविक है कि वे ऐसे सिद्धांतो को खड़ा करते है जो विश्वभर मे ही इन सपदाओ के अभाव की घोषणा करते है। हम विश्व में कोई भी ऐसी वस्तु नही देख सकते जिसे हमने पहले अपने हृदय मे न देख लिया हो, और यदि किसी मनुष्य का हृदय "चिर

1. यह बात श्लोक 5 में श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए इस आश्वासन मे निहित है कि "तू दैवी सम्पदा के लिए उत्पन्न हुआ है।"

2 "परस्पर सम्भूत" का प्रयोग लेखक ने शायद काम सयोग के लिए किया था, परन्तु ये शब्द इस सिद्धान्त पर भी लागू होते हैं कि ससार अन्तत: परमाणुओ के अनायास सयोग से उत्पन्न हुआ है।

अतृप्त कामनाओ" से भरा हो तो वह विश्व-भर मे अनियन्त्रित शक्तियो के बर्बर सघर्ष के अलावा और कुछ नही देख सकता। इस प्रकार की दृष्टिहीनता उसकी भोगशक्ति का समर्थन करती मालूम होगी और वह कामनापूर्ति के आगे पूरी तरह आत्मसमर्पण कर देगा "इस निश्चय के साथ कि यही सब कुछ है।"[1]

कामनाओ के दासत्व का एक विशिष्ट परिणाम ध्यान देने योग्य है। हम देख ही चुके है कि काम शक्तियां अहभाव मे स्थित वैयक्तिक शक्तिया नही है, बल्कि ऐसी महान अवैयक्तिक तरंगें है जो मनुष्य को बहा ले जाती है। तीव्रगामी कार मे बैठकर जैसे किसी निर्बल से निर्बल मनुष्य को भी एक अल्प बुद्धि ऐंद्रिक सुख व शक्ति का अनुभव होता है, यद्यपि वह गति व शक्ति उसकी अपनी नही होती, वैसे ही अपने को प्रबल कामना-तरंगो के हवाले कर हम उत्तेजित और आह्लादित हो जाते हैं, इस पर बिलकुल ध्यान न देते हुए कि वे न हम हैं न हमारी है, और वह भंवरदार ज्वार हमे विनाश की ओर लिए जाता है।

श्लोक 13-14

जब वह उग्र क्रोध, कामोत्तेजना, अथवा विषाद से ग्रस्त हो तब यदि कोई व्यक्ति आत्मपरीक्षण करे तो पता लग जायेगा कि उसे कामना के तीव्र प्रवाह में कितना मजा आता है और उस मजे का अन्त करने के लिए वह बिलकुल राजी नही होता। यद्यपि अधिकांश (परन्तु ऐसा लगता है कि सब नही) आधुनिक समाज श्लोक 14 मे वर्णित शठतापूर्ण ढंग से हमे अपने द्वारा मारे गये और मारे जाने वाले शत्रुओ की मृत्यु पर हर्षोल्लास प्रकट नही करने देंगे फिर भी अगले श्लोक का कामना-जन्य उल्लास हम सब पहचान सकते है। "मैं धनवान हूं, उच्च वंश का हूं। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, मजा करूंगा। इस प्रकार वे अज्ञान से मोहित हैं।"

यहां अज्ञान इस बात का है कि कामना धारा बिलकुल अनात्मगत है, और उसकी उन्मत्तता बाइबिल के उन सुअरो (Gadarene Swine) की सी है जो कगार से कूद कर समुद्र मे मरने के लिए दौड रहे थे। ऐसे उद्दंड जीवन का अन्त, जैसा कि गीता मे कहा गया है, "अवश्य ही गन्दे नरक मे है।" मध्य-युगीन ईसाइयों के दोजख की आग और तपन तथा भारत के परपीडन प्रिय नरक निर्माताओ की चतुर यत्रणा विधियां केवल मूढाग्रह भले ही हो, परन्तु फिर भी नरक तो बहुतेरे होते है, इस संसार मे भी और मृत्यु के बाद भी, अतृप्त कामनाओ के नरक जिनमे काम, क्रोध और लोभ के 'त्रिविध नरकस्येद द्वार' से

1 आज के पूर्वी या पश्चिमी समाज मे इन श्लोको की दुहाई देकर हमारा इरादा कोई नैतिकता दिखाने का नही है। पाठको को स्वयं निर्णय करना चाहिए कि यह श्लोक उनकी ओर उगली उठाते हैं या नही और उनकी सभ्यता दैवी है या आसुरिक।

प्रवेश किया जाता है। यह भी सच है कि ये नरक 'आत्मन् का नाश करने वाले' होते है क्योकि आत्मन् की ज्योति विषय-वासनाओं में विखर कर नष्ट-प्राय हो जाती है।

ग्यारहवे अध्याय के छत्तीसवे श्लोक में वताया गया था कि भयभीत राक्षस कैसे विश्व के कोने-कोने मे भागते है। वह इस प्रक्रिया का सार्वभौमिक पहलू था, और अव यहां यह वताया जा रहा है कि इस प्रक्रिया के प्रव्यक्त रूप असुर कैसे अन्तर्स्थित ज्योति से मुह मोड़ लेते है और कामना की उग्र तरंगो के वश हो, एक के वाद एक जन्म लेते हुए भौतिकता व आत्मविस्मृति के भीषणतम गढे मे ढकेले जाते है। जिस जीव ने एक बार अपने को इन तरंगों में डाल दिया वह उनके वहाव को रोक उन्हें आसानी से वापस नही मोड सकता। जैसा वर्जिल (Virgil) ने लिखा है "नरक मे गिरना आसान है", कठिन तो वहां से वापिस आना है।

श्लोक 19-20

फिर भी यह याद रखना चाहिए कि इस सब नैतिक आक्रोश के पीछे यह ज्ञान है कि अंधेरे पथ पर चलने वाले इसलिए उस पर जा रहे है क्योकि वे अभी तक भौतिकता की उस निम्नतम गहराई तक नही पहुंचे हैं जिस तक आज के प्रकाश पथिक पहले जा चुके है। आत्मा का नाश कभी नही होता; चाहे उज्ज्वल हो चाहे अंधेरी, हर गति अद्वय के ही अन्दर होती है और इसलिए हर गहराई से निकला जा सकता है। प्लाटाइनस ने इसी को यो कहा है, "आत्मा का स्वभाव चरम अस्तित्वहीनता को छूना नही है; पतन ज्यादा से ज्यादा बुराई तक या कि अनात्म तक ही हो सकता है, चरम अस्तिवहीनता तक नही। जब जीवात्मा फिर ऊपर उठने लगता है तो किसी नई अजनवी स्थिति को नही बल्कि स्वयं अपने ही स्वरूप को प्राप्त होता है।"

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले अंतिम दो श्लोकों के वारे मे कुछ शब्द कहने आवश्यक हैं। सव मामलो मे शास्त्रो का अनुशासन मानने की अनुज्ञा के कारण ये रूढिवादियो के अतिप्रिय श्लोक है। परन्तु केवल परम्परागत व मान्य धार्मिक पुस्तको को ही शास्त्र मानना गीता के मुख्य अभिप्राय को ही गलत समझना है जिसमे वार-वार कहा गया है कि शिष्य को वुद्धिपरायण होना चाहिए (दृष्टांत के लिए अध्याय 2 श्लोक 49) और निरंतर यह शिक्षण दिया गया है कि सव ज्ञान अपने हृदय मे ही मिलता है।

श्लोक 23-24

बात यह है कि उच्चतम अर्थ मे शास्त्र त्रिविध शासक (शासक त्रय)[1] बुद्धि व महत् से मुक्त मनस् है, अर्थात् आध्यात्मिक अन्तःप्रेरणा द्वारा हृदय मे प्रकट हुआ आतरिक ज्ञान है। यही उस औपनिषदिक परामर्श का अर्थ है जिसमें इन्द्रियो को मन मे, मन को बुद्धि मे और बुद्धि को महत् आत्मन् मे पैठाने को कहा गया है, और अपने को हमेशा इन तीन आतरिक शासको के ही हवाले करना चाहिए। उस आतरिक ज्योति के आदेशो के अनुसार ही ससार में सब कर्म करने चाहिए और इस आंतरिक वाणी की अवज्ञा कर "कामना के भड़कावो का अनुसरण करने वाला न सफलता प्राप्त करता है न सुख और न ही परम लक्ष्य"।

1. यहा यह कहना ही न्यायसंगत होगा कि यह इस शब्द "शास्त्र" की सामान्यता प्राप्त व्युत्पत्ति नही है। मुझे मालूम है कि बहुत-से लोग इसे कपोल-कल्पित कहेगे। न ही मेरा इरादा शास्त्रो के बाह्य अर्थ का मजाक उडाने का है। ऋषियो के प्रेरणा युक्त लेखन हमारी सबसे बडी विरासत है और उनका महत्त्व इसीलिए है क्योकि वे उस आतरिक शास्त्र के बाह्य रूपान्तर होते हैं जो सिद्ध पुरुषो के हृदय मे प्रकट हुए थे। परन्तु साथ ही यह भी नही भूलना चाहिए कि उनका व्याख्यान शून्य मे नही बल्कि देश-काल और समाज की विशेष और परिवर्तनशील परिस्थितियो मे हुआ था।

अध्याय 17

श्रद्धात्रय विभाग योग

सत्रहवां अध्याय एक ऐसे प्रश्न से आरंभ होता है जो अक्सर पूछा जाता है: उस मनुष्य का क्या दर्जा होता है जो कामना के उकसावे मे आकर नहीं (क्योंकि ऐसों का वर्णन तो हो चुका है) वल्कि अपने कार्य-व्यवहार के औचित्य पर पूर्ण श्रद्धा होने के कारण (आंतरिक अथवा बाहरी) शास्त्र की निषेधाज्ञा का पालन नही करता ?

श्लोक 1

परन्तु यह इतना आम सवाल श्रद्धा के बारे मे एक भ्रान्ति पर आधारित है। श्रद्धा को कभी तो सम्भाव्यताओं को आकने पर आधारित दिमागी विश्वास मान लिया जाता है, और इसमें भी अधिक उसे भेड़चाल की महजवृत्ति से उत्पन्न संकुचित रूढियों की अंध स्वीकृति समझ लिया जाता है। परन्तु पहली धारणा को श्रद्धा न कहकर युक्तिसंगत राय कहना चाहिए और दूसरी तो झुडवृत्ति पर आधारित महज एक जवानी आदत होने के कारण इस काविल भी नही कि उसका कोई वर्गीकरण भी किया जाए।

सच्ची श्रद्धा इनसे वहुत ऊंची चीज है। वह निम्न स्तरीय मनस् मे उच्च मनस् तथा वुद्धि के ज्ञान की झलक है। तेरहवें अध्याय के पच्चीसवे श्लोक में हमने उन लोगों के वारे मे पढा था जो शायद पहली वार ही महान सत्यो के वारे मे सुन कर सत्यपरायण हो जाते है। ऐसा वे इसीलिए कर पाते हैं क्योकि उनका निचला मन उच्चतर मन के ज्ञान से प्रदीप्त हो जाता है और इस प्रदीपन से मनुष्य को एक ऐसा नैश्चित्य लाभ होता है जैसा ज्यामिति के किसी सिद्धात प्रमाण को समझने पर मिलता है। अन्तर इतना ही होता है कि श्रद्धा के मामले मे इस नैश्चित्य के मूल कारण मस्तिक की चेतना मे नही उतरते। इसीलिए हर्मिस ने कहा था––

"मेरा वचन तुझसे पहले सत्य तक अवश्य पहुंचता है, परन्तु मन शक्तिशाली होता है और जब वचन उसे एक निर्दिष्ट स्तर तक पहुंचा देता है तो उसमें

तुझसे पहले सत्य तक पहुचने की क्षमता आ जाती है। और इन सब बातो को सोच-विचार कर तथा उन्हे पूर्वाजित ज्ञानसगत पाकर मन को पूरा विश्वास हो जाता है और वह सच्ची श्रद्धा को प्राप्त हो जाता है।"

इस बात को समझ लेना बहुत जरूरी है। ससार ऐसे लोगो से भरा पड़ा है जो अन्य मनुष्यो को इस या उस मत, धर्मग्रंथ, अथवा आचार्य पर विश्वास करवाने की जी तोड कोशिश मे लगे रहते है। परन्तु जो अधविश्वास वे मागते हैं वह यदि उन्हे दे दिया जाए तो भी वह तामसिक मन के जड प्रत्युत्तर से अधिक और कुछ भी नही है और हर्मिस की सच्ची श्रद्धा से उसका कोई ताल्लुक नही। अधविश्वासो का अभिनिश्चित सत्यो से बराबर टकराव होता रहता है और इसीलिए "ईमान रखने वाले" ऐसे मतान्ध प्रचारक होते है क्योकि वे अपने ही संशयो को अनेक नारो के चीत्कार मे डुबो देना चाहते हैं।

इसके विपरीत सच्ची श्रद्धा का कभी भी ज्ञान से संघर्ष नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयं ही तो ज्ञान है, यद्यपि उसके आधार अभी समझ मे नही आए हैं। फिर भी याद रखना चाहिए कि निम्न मनस् धोखेबाज होता है; और कितनी ही चीजें अपने मे सत्य का मर्म रखने के बावजूद स्वय सत्य नही होती। मन तो अपने ज्ञान को अपनी धारणाओ की सहायता से ही व्यक्त करता है। अत: अगर मन मे पहले से ही कुछ धारणाएं भरी हो तो ऐसी सच्ची श्रद्धा या विश्वास कि विश्व बुनियादी न्याय पर आधारित है वैयक्तिक ईश्वर और कयामत के दिन की मिथ्या धारणाओ को अपने नैश्चित्य का बल दे सकती है।[1]

सत्य को तो सामजस्यपूर्ण और सब कुछ का समावेश करने वाला होना है। वह सकुचित मत-मतातरो के बद दायरो मे सीमित नही रह सकता। हर्मिस ने ठीक कहा है कि एकमात्र निरापद मार्ग यही है कि विचार परीक्षण तो सभी चीजो का किया जाए लेकिन मान्यता उन्ही को दी जाए जो मन मे पहले से मौजूद ज्ञान के साथ सामंजस्यपूर्ण ढंग से मिल सके। यदि कोई पूछे कि यह तथाकथित युक्तिवादियो की प्रणाली से कैसे भिन्न है तो इसका जवाब यह है कि

1 अक्सर नही पर कभी-कभी, कुछ व्यक्ति अपनी श्रद्धा को अपने ऊल-जलूल मानसिक असबाव के प्रभाव से विकृत होने से बचा लेते हैं। दृष्टात के लिए कैथोलिक रहस्यवादिनी जुलियाना आफ नॉरविच को नास्तिको व विधर्मियो के दुर्भाग्य की बड़ी चिन्ता रहती थी। अन्तत उन्हे ईसा के दर्शन से यह आश्वासन मिला कि "सब कुछ ठीक हो जायेगा"। यद्यपि ये वचन चर्च के मत के बिलकुल खिलाफ थे फिर भी उन्होने उन्हे सरल भाव से मान लिया। लेकिन सत तेरेजा का दृष्टात अधिक प्रतिनिधिक है जिन्होने अपने कैथोलिक मत की धारणाओ के अनुसार ऐसे ही दर्शन का यह मूर्खतापूर्ण अर्थ लगाया कि सब नास्तिको का आत्मा रूपी दर्पण सदा के लिए चूर-चूर हो चुका है।

युक्तिवाद केवल इन्द्रिय न्यास व उन पर मन के निष्कर्षों को ही मानता है, जबकि सच्ची श्रद्धा के अनुयायी ऊपर से आने वाले न्यास को तो मानते ही हैं लेकिन साथ ही इनका अर्थ लगाने का प्रयत्न तव तक करते जाते हैं जव तक वे उन्हें युक्तिपूर्ण विचारो मे व्यक्त न कर लें।

इस "अर्थ लगाने के प्रयत्न" की आवश्यकता इसलिए पड़ती है क्योकि मन, जिसमें ज्ञान प्रतिविंवित होता है, गुणो का वना होने के कारण अनेक रंगों का होता है। "सव की श्रद्धा उनके अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप होती है।" यदि मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप तक उठ सके तो फिर उसे श्रद्धा से कोई वास्ता रखने की जरूरत न हो, क्योकि तव तो उसके पास स्वयं ज्ञान ही होगा, परन्तु जव तक इस ज्ञान को निम्नतर मनस् पर प्रतिविंवित होना पडता है तव तक निश्चय ही वह इस मनस् के रंग मे रंगा जाता रहेगा।

श्लोक 2,3

उच्चतर स्वरूप को दर्शाने वाला ज्ञान ही असली "मानव" है और यह ज्ञान जव श्रद्धा के रूप में व्यक्त होता है तो यह श्रद्धा उसी हद तक सच्चे मानव की होती है जिस हद तक कि वह व्यक्तित्व विशेष की सीमाओ मे प्रकट हो पाती है। इसीलिए कहा गया है कि "आदमी तो अपनी श्रद्धा का ही वना होता है, जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसा ही वह स्वय भी होता है।" यही कारण है कि दुनिया मे बड़े-वड़े काम कर जाने वाले, चाहे वे जोन ऑफ आर्क के समान धर्म-निरत रहे हो, चाहे नेपोलियन के समान बस अपनी तकदीर पर ही विश्वास करने वाले, होते वे अत्यंत निष्ठावान है। उनके महान कर्म उनके उच्चतर स्वरूपों की शक्ति द्वारा पूर्ण किए जाते हैं और उनके हृदयों में इन स्वरूपो के निष्ठारूप मे प्रतिविंवित होने से ही यह शक्ति उन्हे उपलब्ध होती है।

मनुष्य केवल श्रद्धा ही नहीं होता। श्रद्धा को जो मोड़ उसका मन देता है वह उसका निचला या वैयक्तिक अहं भी यही मनुष्य होता है, क्योकि श्रद्धा की अभिव्यक्ति इस पर निर्भर करती है कि उसके स्वभाव मे तीन गुणो में से कौन-सी प्रधान है। सात्विक मनुष्य अपनी श्रद्धा को सात्विक अभिव्यक्ति देगा और इसी प्रकार अन्य गुणों वाले लोग भी करेंगे। यह वात लोगो के इष्ट देवों को देखने से स्पष्ट हो जाती है। ज्ञानी पुरुष की पूजा का पात्र केवल अपने अंदर व सर्वभूतो मे स्थित आत्मन् ही होता है, परन्तु जो केवल श्रद्धा के ही सहारे रहते है, उन्हें इस अनदेखे आत्मन् का आभास एक अद्भुत शक्ति के रूप मे होता है जो वाहरी चीजों मे मालूम होती है और उन्ही मे उसकी पूजा की जाती है। सात्विक मनुष्यो को उसकी उपस्थिति प्रकृति की महान लोमहर्षक शक्तियो—सूर्य, वायु, जलराशि इत्यादि मे प्रतीत होती है और इसलिए वे "देव-

श्लोक 4

ताओ की पूजा करते हैं" । जैसे-जैसे श्रद्धा और अधिक शुद्ध होती चली जाती है वैसे-वैसे वे इन देवताओं के वाहरी रूप को छोड उनमे निहित आध्यात्मिक शक्ति की ओर उन्मुख होते जाते हैं ।

राजसिक प्रवृत्ति वाले इसी शक्ति को कामना के प्रचंड प्रवाहों मे अनुभव करते है और वे यक्षो व राक्षसों की पूजा करते है जो कि क्रमशः धन प्राप्ति की लालसा तथा क्रुद्ध हिंसा की चेतना के प्रतीक है। जिनके स्वभाव मे तमस् की प्रधानता है उनकी कल्पना मृत्यु से मोहित होती रहेगी और इसलिए वे प्रेतात्माओ की पूजा करेंगे ।

आधुनिक सभ्यता में भी ये वर्ग वर्डस्वर्थ के से प्रकृति-रहस्यवाद, धन व वल लोलुपता, जो कि धनी व वलवान व्यक्तियो के जीवन मे अवांछनीय रुचि के रूप मे दिखाई देती है, तथा भूत-प्रेतो मे आस्था के रूप मे सामने आते हैं । हां अन्तिम वर्ग वालों के तमस् मे राजसिक कौतूहल का मिश्रण भी होता है ।

गुणो के प्रभाव केवल पूजा के पात्रो मे ही नही वल्कि ऐसी वातो मे भी प्रकट होते है जैसे विभिन्न प्रकार के आहार । पाश्चात्य पाठक आहार और श्रद्धा मे मुश्किल से ही कुछ सबध स्वीकार करते है और दूसरी ओर भारत मे इनमे जरूरत से ज्यादा सबध मान लिया जाता है ।

श्लोक 7-10

असली वात इन दोनो के वीच मे कही है। क्योकि शरीर आहार द्वारा निर्मित होता है और भोजन का स्वाद हमारे ऐन्द्रिक जीवन का एक जरूरी और रोजमर्रा का हिस्सा है, इसलिए जाहिर है कि पथ पर चलने का प्रयत्न करने वाले के लिए उसके आहार के गुण व स्वाद दोनो ही महत्त्वपूर्ण हैं, हालांकि यह महत्त्व उतना ज्यादा हरगिज नही है जितना कि भारत मे अमूमन माना जाता है । कोई आदमी चाहे कितना भी सात्विक भोजन खाये, केवल इससे ही वह आध्यात्मिक नही वन सकता ।

अव आगे जिस यज्ञ का गीता मे जिक्र है उसे प्राचीन भारत का कर्मकाण्ड वाला वलिदान ही नही समझना चाहिए। गीता के यज्ञ का अर्थ है सामान्यतः त्यागपरक कर्म, यानी अपने सव धन, कर्म और अह को सर्वभूतों मे व्याप्त परमात्मा की सेवा मे अर्पण करना। सात्विक मनुष्य यह काम व्यक्तिगत पारितोषिक लाभ के लिए नही, यहां तक कि स्वयं अपनी मुक्ति लाभ के लिए भी नही, वल्कि इसलिए करेगा क्योकि उसका सात्विक स्वभाव विश्व-यज्ञ के ज्ञान को प्रतिविंवित कर उसे उसमे योगदान करने को प्रेरित करता है।

श्लोक 11

जैसा कि जाहिर ही है, राजसिक व्यक्ति का यज्ञ कामना से दूषित होता

है और इसलिए वह अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए ही वलिदान करता है और आमतौर से वह निष्काम कर्म की सभावना को अस्वीकार कर देता है। घटिया लोगों के कर्मो की प्रमुख प्रेरणा होती है धार्मिक, दयालु, दानी या देशभक्त के रूप में ख्याति पाने की इच्छा ।

श्लोक 12

तामसिक यज्ञ तो और भी निम्न कोटि का होता है और उसमे यज्ञ की वस झलक ही होती है। वह किसी विधि-विधान द्वारा सचालित नही होता और न ही उसे आन्तरिक शास्त्र (मन्त्र) की अनुमति होती है। इसमे कोई वास्तविक दान नही दिया जाता (असृष्टान्न) और सारा कार्य विना कुशलता के (अदक्षिणम्) किया जाता है। ऐसे तथाकथित यज्ञो को करने की प्रेरणा अधिकतर केवल सामाजिक भेड़चाल की सहजवृत्ति होती है।

श्लोक 13

मनुष्य की श्रद्धा और किस-किस प्रकार अभिव्यक्त होती है इसकी विस्तार-पूर्वक चर्चा तो एक थकाने वाला काम है परन्तु गीता मे दी गई सूची एक फुटकर संलग्नमात्र नहीहै। पूजा, आहार, यज्ञ-कर्म, आत्मविनिग्रह और दानशीलता—ये सव आध्यात्मिक जीवन के आवश्यक अग है और इसलिए गीता मे इन सब पर इतने विस्तार से विचार किया गया है।

तपस्या के बारे में यहां कुछ कहना आवश्यक है। तपस्या का मतलव एक टांग से जगल मे खड़ा होना या शरीर पर सुइयां चुभाना नही है। शरीर को इस प्रकार यत्रणा देना, जो कि मध्ययुगीन यूरोप व भारत दोनों मे प्रचलित था, तामसिक मनुष्य की तपस्या का ही आदर्श हो सकता है। अपने को वस अपना भौतिक शरीर ही मानते हुए, ऐसे लोगो को आध्यात्मिक प्रगति का एक मात्र यही जरिया नजर आता है कि शरीर इन यंत्रणाओ को चुपचाप वर्दाश्त करे।[1]

श्लोक 5, 6, 19

शरीर को अनुशासित करना उसको इन यंत्रणाओ द्वारा क्षति पहुंचाने से विल्कुल भिन्न है। शरीर तो वह कार्यक्षेत्र है जिसमे इस समय हमे साधना करनी है और वाद मे अद्वय की सेवा के लिए जिसकी आवश्यकता पड़ेगी। ऊल-जलूल तपश्चर्याओ द्वारा उसे दुर्बल वनाना या नष्ट करना एक अति उपयोगी

1. यहा यह उत्तर देने से काम नही चलेगा कि शरीर को कष्ट देने वाले ये लोग शरीर और आत्मा के वीच चरम द्वैत मानते हैं। सिद्धात एक चीज है और अनुभव दूसरी। चूकि ये लोग शरीर के अलावा और कुछ नही जानते इसलिए वे कल्पना करते हैं कि शरीर को दण्ड देने से आत्मा की मुक्ति हो जाएगी।

उपकरण को नष्ट कर देना है। कभी-कभी इस वात पर जोर दिया जाता है कि शरीर तो मिथ्या व अनित्य है और इसलिए ज्ञानी पुरुष इस वात की परवाह नही करता कि वह ठीक से काम कर रहा है या नही, जिन्दा है या मुर्दा। परन्तु ऐसा ख्याल गलतफहमी से पैदा होता है। आत्मनियत्रण का अभ्यास करने वाले, ज्ञानी नही ज्ञान-प्राप्ति की आकांक्षा रखने वाले होते है। जैसा कि उपनिषद्[1] मे कहा गया है, दुर्वल शरीर का मतलव है दुर्वल मन, और यदि शरीर को विला वजह लक्ष्य-प्राप्ति से पहले ही छोड़ दिया जाए तो इसका परिणाम यही होगा कि कई वहुमूल्य वर्ष एक नए शरीर को तैयार करने मे और उस जगह तक लाने मे जाया करने पडेंगे जिस पर पथ को छोड़ दिया गया था। शरीर के प्रति सही दृष्टिकोण तो यह है कि उसे सवारी के घोडे की तरह माना जाए। उसे होशियारी से अनुशासित करना चाहिए, उसकी पूरी तरह देखभाल करनी चाहिए और ठीक तरह इस्तेमाल करना चाहिए, यह नही कि उसे अपनी मर्जी के अनुसार इधर-उधर फिरने दिया जाए और न ही यह कि उसे मार-मारकर वेकार या मुर्दा वना दिया जाए।

इतना ही सवल एक और तथ्य भी है। वाह्य इंद्रियां आतरिक या मानसिक इंद्रियो की ही प्रव्यक्तियां हैं। वाहर वाली इद्रियो का दमन कर लेने पर भी अदर की इद्रिया ज्यो की त्यो वनी रहती है। यही नही, वाहरी स्तर पर वलपूर्वक दवाए जाने पर वे अंदर की ओर भागती है और काल्पनिक मनोरथ-सृष्टि का हंगामा पैदा कर अपना वदला चुकाती है और इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन मे वाहरी इद्रियो से कही अधिक विघ्न डालती है।

आत्मनियत्रण का आरभ इद्रियो से नही मन से होना चाहिए। ब्रह्मज्ञान के चतुर्विध लक्षणो (अध्याय 15) मे षट-सपत्ति नामक मानसिक गुणो मे "शम" यानी मन पर नियंत्रण "दम" यानी इंद्रिय नियत्रण से पहले आता है। अपने उच्छृखल मन पर कावू पाने मे शिष्य को अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिए और जव यह कार्य सम्पन्न हो जाए तो वह निश्चित रहे कि वाहरी इंद्रियां स्वय वश मे आने मे ज्यादा अड़चन नही डालेगी। विना मन को नियत्रित किए इद्रियो पर कावू पाने की चेष्टा करना वैसा ही है जैसा किसी डूवते जहाज के पेंदे मे हुए छेद को वंद किए विना उसमे भरे पानी को निकाल फेंकने की कोशिश करना। निश्चित रूप से अनुचित इद्रिय भोग के मामलो मे भी वाहरी भोग से कही अधिक हानि उसके विषयो का ध्यान करते रहने से होती है।

एक और वात जिस पर गौर करना जरूरी है वह यह है कि सामान्य परिस्थितियो मे मन को शरीर से अलग और उस पर अनाश्रित नही माना जा

1. छादोग्य उपनिषद् 6, 7

सकता। यह सच है कि पूरे अनुशासन का केन्द्र मन में ही होता है, परन्तु यह भी सच है कि साधारण शिष्य व्यवहार मे अपने असली यानी उच्च मनस् के स्तर तक उठने की क्षमता नही रखता और जिस मन-स्तर पर वह रहता है वह भौतिक देह के साथ बड़ी घनिष्ठता से घुला-मिला होता है। शारीरिक इंद्रिय ज्ञान के प्रति उदासीन होने की वात करना तो सरल है परन्तु, फिर भी, तीव्र शारीरिक पीडा की वात तो अलग रही, कुछ घंटे वंद कमरे मे वैठे रहने से ही लगभग हर किसी की स्पष्ट विचारशक्ति नष्ट हो जाती है और कुछ ही दिनों के अतिश्रम तथा निद्रा-हानि से ही आत्मनियंत्रण चिडचिडेपन के धुएं मे गायव हो जाता है। अतएव, जीवन के दैहिक और वाहरी पहलुओं की उपेक्षा करना उस साधारण शिष्य के लिए एकदम वेवकूफी होगा जिसका मानसिक जीवन उनसे इस कदर जुड़ा हुआ है। जैसा कि हमने दूसरे अध्याय मे पढ़ा है "इन्द्रियो के स्पर्श तो आते-जाते रहेगे" और यद्यपि शिष्य को इन सव को "धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए", प्रारंभिक अवस्थाओ[1] मे इनकी पूर्ण उपेक्षा करने से तो उसे भीपण परिणाम भुगतने ही होगे।

यह तो हुआ तपस्या के नकारात्मक पहलू के वारे मे। तपस्या का सकारात्मक पक्ष है शरीर, वाणी व मन का सामंजस्यपूर्ण नियत्रण। देवताओं,

श्लोक 14 — द्विजो (केवल वाहरी उपनयन संस्कार कर लेने पर अपने को यह पद देने वाले नही वल्कि सच्चे तत्त्वदर्शियो) गुरुजनों व ज्ञानी पुरुपो की सेवा तथा शौच, आर्जव, अहिंसा और ब्रह्मचर्य का आचरण कर शरीर को अनुशासित करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है सयम, यौन शक्तियों का दमन नही। ऐसा मनस्तापी यौन निग्रह जिसमे अतृप्त कामवासनाओ से भरे तथाकथित अचेतन मन से प्रच्छन्न मनोरथ-सृष्टियां फूट निकलती है, आंतरिक जीवन के साधक के लिए अत्यत प्रतिकूल परिस्थिति पैदा करता है। अत्यधिक शारीरिक दुर्वलता के समान यह परिस्थिति भी अद्भुत अनुभवो व झलक दर्शनो को ला सकती है परन्तु पथ के सच्चे अनुसरण को तो यह पूरी तरह समाप्त ही कर देती है। कामवासना के उस पार तो जाया जा सकता है, उसे विना नुकसान उठाए जोर-जवरदस्ती दवाया नही जा सकता।

इस वात पर ध्यान देना आवश्यक है कि चेतन मन और इच्छाशक्ति द्वारा यौन परित्याग कर देना ही काफी नही है। भारत मे कई भवितव्य संन्यासी, और मेरे ख्याल से पश्चिम मे भी कुछ लोग, ब्रह्मचर्य की करामातो के

1. याद रहे कि इन अंतिम छः अध्यायो मे अनिवार्यत कुछ हद तक पहले कही गई वातो को दोहराया गया है।

वारे मे पढ-सुनकर अपनी इच्छाशक्तियो को खेंच-मरोड उनसे रतिक्रिया का त्याग करवा देते है। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि अतृप्त काम-वासनाएं मनोवैज्ञानिको द्वारा "अचेतन" कहलाए जाने वाले मन मे दव जाती है। जिस दृष्टिकोण से हम यहा लिख रहे है उसके अनुसार "अचेतन" एक भ्रान्दिायक विशेषण है, क्योकि ऐसा कुछ भी नही जो चेतना मे स्थित न हो और उसमे तैर न रहा हो। कहने का तात्पर्य यह है कि मन की चेतना इन वासनाओ की ओर ध्यान देना बद कर देती है परन्तु, चाहे कहें किसी तरह भी, वात यह है कि अपने अदर वंद मनोबल के कारण ये वासनाए मन की शाति भग कर देती है, और यदि उनकी ओर ध्यान न दिया जाय तो वे विक्षुब्ध करने वाले स्वप्न, चिडचिडे स्वभाव इत्यादि के रूप मे व्यक्त होती है। एकमात्र इलाज यह है कि उनकी ओर फिर से ध्यान दिया जाय। परन्तु यौन कामनाओ के मामले मे यह अक्सर अव्यावहारिक ही होता है क्योकि ऐसा करने से या तो मन को पथभ्रष्ट हो जाने के भय से महान् यत्रणा होती है और या इच्छाशक्ति का विभाजन ही हो जाता है।

इस पथ पर चलने के लिए शांत आत्मरत मन और अविभाजित इच्छाशक्ति अनिवार्य है, इसलिए शिष्य को इसी से सतुष्ट रहना चाहिए कि वह फूल की तरह समरसता से विकसित हो और अस्तित्व की पूर्णता के वजाय केवल इच्छा-शक्ति मे आधारित परित्यागो के द्वारा अपने विकास को जवरदस्ती आगे धकेलने की चेष्टा न करे। कामवासनाओ का प्रत्याहार कर उनका प्रकोप हरण कर लेना चाहिए, केवल इच्छाशक्ति द्वारा उन्हे अपने सामने से हटाना नही चाहिए। जव वे पूरी तरह वलहीन हो जाय तव ही उनका "परित्याग" करना खतरे से खाली होता है और सच तो यह है कि ऐसा होने पर परित्याग की आवश्यकता ही नही रह जाती।[1]

अहिसा के वारे मे इतना कहना काफी है कि सर्वभूतों मे स्थित महाप्राण की सेवा करने को उद्यत हो उसे आखेट या, साधारण परिस्थितियो मे, अपने भोजन के लिए भी जीवित प्राणियो का वध नही करना चाहिए। "सव प्राणी दण्ड

1 इस सव का अर्थ यह नही लगाना चाहिए कि कामवासनाओ को खुली छूट्टी देने का उकसावा दिया जा रहा है। वह भी साधना के लिए घातक है। हर हालत मे मध्यम मार्ग पर ही चलना चाहिए। कहा यह गया है कि वासनाओ को अपने पर्यवेक्षण क्षेत्र मे रख वहा आत्मन् को उनसे अलग कर उनका वलहरण करना चाहिए। अपने सामने से हटा मन की किसी/वद कोठरी मे डालकर उनसे हरगिज नही निपटा जा सकता। पथ पर चलने के लिए इस पथ की नितात अनिवार्यताओ मे से एक यह भी है कि शिष्य अपने अदर जो कुछ भी है उसका निर्भीकता से सामना करे, चाहे उच्चतर स्वभाव ऐसी स्वीकृति का कितना भी विरोध क्यो न करे। आत्मविस्मृति और आत्मवचना दोनो ही एकदम घातक होते हैं।

से डरते है, सब को जीवन प्रिय होता है। अन्य जीवो को अपने जैसा समझ न तो हत्या करो न करवाओ"[1] अपने जीव बन्धु के मांस पर लालच-भरी नजर डालना इस पथ के पथिक का काम नही है। ऐसा पथिक तो उस कथा को याद रखेगा जिसमे किसी पिछले जन्म मे बुद्धदेव ने एक क्षुधा-पीड़ित शेरनी व उसके बच्चो के भोजन के लिए अपना शरीर ही दे डाला था।

शरीर के ऐसे अनुशासन के अलावा शिष्य अपनी वाणी को भी अनुशासित करेगा और इस बात का ध्यान रखेगा कि वह सदा सत्य व कल्याणकारी रहे :—

"Govern thy lips
As they were palace doors, the king within ;
Tranquil and fair and courteous be all words
Which from that presence win."[2]

महल के कपाटो सा जान,
होठों को वश मे कर।
जैसे भीतर हों महाराजा विराजमान,
वहां से जो शब्द निकलें वे हो शांत शुभ सुंदर।

सत्यवादी होने मे शिष्य को इस सामान्य अहंकारी गलती से बचना चाहिए जिसके कारण वह अपनी सत्यप्रियता के बहाने अपने श्रोताओ को कटुवचन सुनाता है। जैसा कि अभ्यास करने का प्रयत्न करने वाले सब जानते है, वाणी का ऐसा नियत्रण आसान नही है। जो भी हो, जब तक मन पूरी तरह नियमित नही हो जाता तब तक, वाणी का यह नियंत्रण भी पूरी तरह नही होता।

वास्तव में सबसे अधिक आवश्यक मानसिक अनुशासन है, क्योंकि आंतरिक जीवन का सार इसी मे है कि मन को उसके सच्चे स्वभाव तक उन्नत व बुद्धि से उसका समागम किया जाए। मन को शांत, सौम्य, तथा विभ्रान्त विचारों से मुक्त रहना चाहिए। इस अंतिम गुण को "मौन" कहा गया है जिसका शब्दार्थ है "चुप रहना"। परन्तु जैसा कि संदर्भ से स्पष्ट है, असली मौन मानसिक होता है और उसका तात्पर्य उस क्षमता से है जिससे वह बाहरी उत्तेजनाओ के बावजूद कहावती बंदर की तरह उछल-कूद न कर शांत रह सकता है।

श्लोक 16

यही नही, मन को आत्मसंयत भी होना चाहिए। मतलब यह कि वह अपने विचार-प्रवाह को स्वय अपनी ही अंतर्हित शक्ति द्वारा नियंत्रित कर सके और इसके लिए किसी बाहरी मजबूरी या लालच पर निर्भर न हो। कम से कम

1. धम्मपद, 130
2. लाइट आफ एशिया

बाद की अवस्थाओं मे तो इस शांति के लिए मन को अपने मत्र जप की ध्वनि को बार-बार सुनने की आवश्यकता भी नही होनी चाहिए। अत मे, मन का भावना मे भी शुद्ध होना जरूरी है यानी, भय व द्वेष विमुक्त और सब के लिए प्रेम व करुणा से भरपूर। यह कहने की अब विशेष आवश्यकता नही है कि यदि इस अनुशासन से आध्यात्मिक परिणाम निकलना है तो इसका पालन बिना किसी एकागी अतिरजना या कट्टरता के, एक सहज सरसता से, और वैयक्तिक लाभ की आकांक्षा न रखने की सात्विक वृत्ति के साथ होना चाहिए। अपने प्रयत्न के मूल मे आत्मन् का प्रेम होना चाहिए, ससार का भय नही।

श्लोक 17

अध्याय का अंत ब्रह्म के त्रिविध नाम "ऊतत् सत्" से होता है। इस सुविख्यात मत्र द्वारा यहा उस मार्ग के बारे मे बताया गया है जिस पर सात्विक श्रद्धा शिष्य को ले चलेगी और परोक्ष रूप से यही अध्याय के आरंभ मे पूछे गए प्रश्न का उत्तर है। जैसा कि अच्छी तरह विदित है ऊं ब्रह्म का प्रतीक है परन्तु उन तीन चेतनावस्थाओ[1] का द्योतक भी है जो चौथी सर्वातीत अवस्था तक ले जाती हैं। ऊ के साथ वे यज्ञ और अनुशासन कर्म आरंभ किए जाते है। जिनके द्वारा पथ का अनुसरण होता। कहने का तात्पर्य है कि इस पहले चरण का काम है, सच्चे स्वरूप, चैतन्य, की प्राप्ति गोकि यह अभी अपने विलग व्यक्तिगत रूप मे होती है।

श्लोक 23,24

अगला चरण, जिसका लक्षण होता है समस्त फल-त्याग की सात्विक भावना, जीवात्मा का सार्वभौमिक बुद्धि से समागम होना है। यह बुद्धि महत् आत्मन्, अद्वय-महाप्राण, का प्रज्ञा पक्ष है। इस अवस्था को "तत्" शब्द द्वारा इगित किया गया है क्योकि बुद्धि के ज्योति सागर से समागम होने पर ही उस (तत्) सर्वातीत सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है।

श्लोक 25

अतिम चरण को "सत्" द्वारा प्रतीयमान किया गया है जिसका अर्थ है अस्तित्व, साधुता या वास्तविकता। यह ब्रह्म-प्राप्ति की मंजिल है और इस प्राप्ति को "प्रशस्ते कर्माणि—प्रशसनीय कर्म" कहा गया है जो मूल पाठ के अनुसार सत् शब्द का एक और अर्थ है।

परन्तु चौदहवे अध्याय (श्लोक 26) मे हम देख चुके है कि जो मजिल पर पहुंच चुका है उसके लिए यह संभव है कि वह अपनी ज्योति को ससार से खीच

1. जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। परिशिष्ट 'ग' देखिए।

अव्यक्त ब्रह्म में विलीन करने के बजाय यही रह कर उस अद्वय की सेवा करे जो इस कड़ुवे भवसागर मे अगणित दुखी प्राणियों के रूप मे अपना बलिदान करता रहता है।

इसलिए गीता में अब कहा गया कि यज्ञ, तप और दान में दृढता भी सत् है, जिसका अर्थ है कि जो अपना बलिदान का जीवन बनाए रहता है और इतनी गाढ़ी कमाई से खरीदे मोक्ष को अंधकार मे विचरते मनुष्यो के लिए महान प्रकाश-दान के रूप मे अर्पित कर देता है उसकी उपलब्धि उस पार चले जाने वाले से कुछ कम नही होती। उसका सत् होता है सब मे व्याप्त "तत्" के लिए कर्म करना। इसलिए कहा जाता है कि त्रिविध पथ के इस मंत्र द्वारा पुरातन काल में गुरुजनो'[1], ज्ञान व यज्ञो की उत्पत्ति हुई है—उन मुक्त आत्माओं के यज्ञो की जो दु.ख के ऐन बीचोबीच निर्वाण ढूंढ निकालते है।

श्लोक 27, 23

1. इस श्लोक में ब्राह्मण शब्द का अर्थ इस नाम की पुस्तको से लगाया जाता है। परन्तु अर्थ ब्राह्मण कहलाने वाले मनुष्यो यानी ज्ञान के आचार्यों के लिए लगाना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

अध्याय 18

मोक्षसंन्यास योग[1]

इस अध्याय का आरंभ सच्चे त्याग के स्वभाव के वारे मे उस प्रश्न से होता है जो पिछले अध्याय के निष्कर्ष से निकलता है। वहा यह सिखाया गया था कि मुक्त जीवात्मा के लिए मोक्ष के पश्चात् भी सेवारत वने रहना संभव है। परन्तु तत्कालीन भारत मे यह माना जाता था कि समस्त कर्म का ही परित्याग करना आवश्यक है। यह सिखाया जाता था कि कर्मयोग एक उपयोगी और आवश्यक तैयारी भले ही हो पर क्योकि कर्म मूलत. माया पर आधारित है इसलिए वह सव कर्मो के एकदम त्याग, यानी संन्यास, की ओर ले जाने का साधन मात्र ही है। यह एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है क्योकि यदि यह वाद वाली बात सही है तो मनुष्य को अपने मुक्त वन्धुओ से सहायता पाने की कोई सभावना ही नही रह जाती। जो कर्म करता है वह अभी वन्धन में ही होता है और जो मुक्त होता है वह कर्म कर ही नही सकता।

इस अध्याय का उद्देश्य यह वताना है कि ऐसा सोचना गलत है और इसलिए श्रीकृष्ण सवाद का आरंभ संन्यास और त्याग मे अंतर वतला कर करते है। सन्यास का अर्थ है काम्य कर्मो यानी कामना-प्रेरित कर्मो को छोड़ देना। बुद्धियुक्त मनस् अव वाहर की ओर कामना प्रवाह मे नही वहता वलिक बुद्धि द्वारा निश्चित "श्रेय" या उचित कर्म को ही करता है। परन्तु स्पष्ट है कि सन्यासी अभी भी अपने सत्कर्मों के फल भोग सकता है और समय आने पर जव उसका ज्ञान उसे व्रह्म-निर्वाण के द्वार पर पहुचा देता है तो उसकी निर्वाण-

श्लोक 2

1. कुछ सस्करणो मे इस अध्याय का शीर्षक केवल "सन्यास योग" दिया गया है, परन्तु वह तो अध्याय पाच का शीर्षक है। कही-कही इसे "मोक्ष योग" भी कहा गया है, परन्तु पूरा शीर्षक मोक्षसन्यास योग ही है।

प्राप्ति और प्रव्यक्त जगत से सदा के लिए लुप्त हो जाने में कोई बाधा नही रह जाती ।

इसलिए श्रीकृष्ण बताते है कि इससे भी आगे एक और "त्याग"[1] नामक अवस्था होती हैं । सब मे व्याप्त अद्वय महाप्राण की सेवा में सत्कर्मो व निष्काम कर्मो द्वारा अर्जित फलों को समर्पण कर देना ही त्याग है ।

श्लोक 3, 6 कुछ आचार्यों के इस मत के बावजूद कि सब कर्म बन्धन पैदा करने वाले होते है और इसलिए त्याज्य हैं, श्रीकृष्ण विशेष ज़ोर देकर कहते हैं कि यज्ञ, तप व आत्मदान (यानी जैसा पिछले अध्याय के अंत में बताया गया, पथ के कर्म) नहीं छोड़ने चाहिए क्योकि वे शुद्धिकारक होते है ।

परन्तु यह कर्म भी आसक्ति रहित होकर यानी स्वयं अपनी व्यक्तिगत शुद्धि की आकांक्षा न रखते हुए किए जाने चाहिएं । इन कर्मो का फल भी अद्वय महाप्राण की सेवा के निमित्त उसी भावना से रख छोड़ना चाहिए जिस भावना से बोधिसत्व पथ के महायानी सर्वभूतों के कल्याणार्थ अपने सत्कर्मो के फल उत्सर्ग करने को प्रेरित होते हैं । कुछ लोग ऐसे भी है जो यह कहते है कि दूसरों की ऐसी सहायता करना अपने को मोहपाश मे बांधना है और कर्म के विधान का उल्लंघन करना है । इस दलील को सुनने का समय तो तब आएगा जब कहने वाले स्वयं इस बात से इन्कार करें कि उन्हें पुस्तकों या जीवित गुरुओ से सहायता मिलती है । अन्य कुछ ऐसे भी होते हैं जो एक झूठी विनय भावना के कारण इस पथ पर आने से झिझकते हैं । उनका कहना होता है कि स्वयं अपनी मुक्ति के बाद ही सहायता देना सभव है और तब जाकर ही हम दूसरो की सहायता की बात सोच सकते है । परन्तु यह एक भूल है । जिसने आरंभ से ही अपने आपको इस भावना का आदी बना लिया हो कि दूसरों के लिए ही पथ पर चलना है, केवल वही ब्रह्मनिर्वाण के आनन्द को अपने सामने प्रत्यक्ष पाकर आत्मोत्सर्ग करने व अपना आनन्द त्याग करने मे दृढ रह सकता है ।

यही दिव्य सात्विक त्याग है और आलस्य, हीन-भावना, अथवा जीवन के दुःख-दर्दो से बचने के लिए किए गए उत्सर्ग इसके विपरीत होते हैं । ऐसा "खट्टे अंगूर" किस्म का त्याग निश्चय ही घटिया होता है ।

श्लोक 6, 7, 8 भगवान बुद्ध के त्याग को इस प्रकार का त्याग बताना सरासर

1 सन्यास और त्याग को सामान्यत: पर्यायवाची शब्द माना जाता है, परन्तु "छोड़ देने" के अलावा त्याग का अर्थ "दान" या दे देना भी है (आप्टे का सस्कृत अग्रेजी कोश देखिए) मेरे विचार मे शायद dedication के अलावा अग्रेजी का कोई एक शब्द नही है जो "छोड़ देते" और "दे देने" को एक साथ ही व्यक्त करता हो। मेरे मित्र पं० जगदीशचन्द्र चटर्जी ने मुझे बताया कि यज्ञ में दी गई आहुति को "त्यक्त" कहा जाता है ।

कपटपूर्ण मिथ्या निन्दा है, चाहे वह आज के समीक्षक द्वारा की गई हो चाहे प्राचीन भारत के। गृहत्याग करते समय बुद्धदेव से निम्नलिखित कहलवा कर "लाइट आफ एशिया" के रचयिता ने वस्तुतः इन समीक्षको से कही अधिक मार्मिक दृष्टि का परिचय दिया है :

"This will I do because the woeful cry
of life and all flesh living cometh up
Into my ears, and all my soul is full
of pity for the sickness of the world
Which I will heal, if healing may be found
By uttermost renouncing and great strife."

यही मैं करूंगा क्योकि
जीवन का, चराचर प्राणियो का आर्तनाद
अब मेरे कानो मे गूजता है।
और मेरी आत्मा अब विश्वव्याधि के लिए
करुणा से भरी है
उसका निवारण करूंगा मैं—
परम उत्सर्ग और घोर संघर्ष से
अगर हो सकेगा निवारण ये।

सच्चे उत्सर्ग का स्रोत भय नही प्रेम मे होता है। सर्वोच्च उत्सर्ग यही है कि सब कर्म इसलिए किए जायें क्योकि उनका बुद्धि द्वारा दिखाई गई सार्वभौमिक प्रक्रिया से तालमेल है और इस प्रकार वे "कर्त्तव्य स्वरूप" हैं, लेकिन साथ ही उन्हे करने मे कर्तापन के गर्व और व्यक्तिगत फल प्राप्ति की कामना का अभाव हो। कर्म मात्र का पूर्ण त्याग देहधारियो के लिए असभव होता है और हर हालत मे अनावश्यक है क्योकि जो कर्म फलाकांक्षा के बिना किए जाते हैं वे जीवात्मा को कभी भी बांध नही सकते।

श्लोक 9, 11, 12

कामना और व्यक्तिगत लाभ का परित्याग कर देने पर कर्म मे ऐसा कुछ बच ही नही जाता जो बांध सके। यह दिखाने के लिए कि यह कोई दुराग्रह नही बल्कि सीधा-सादा तथ्य है गीता अब उन पांच तत्त्वो का विश्लेषण करती है जो शरीर, मन व वचन के समस्त कर्मो से संबधित होते है। पहला है "अधिष्ठान" यानी शरीर, दूसरा "कर्ता" यानी वह झूठा अहं जो ज्योति तथा इस मनोभौतिक वाहन के समागम से उत्पन्न होता है, तीसरा "करण" यानी इन्द्रियां, चौथा

श्लोक 14

"चेष्टा" यानी शरीर के अंदर की विविध शक्तियां और पांचवां "दैव" यानी पूर्व जन्मो के कर्मों द्वारा संचित शक्तियां।

इसलिए "अकृत बुद्धि" यानी वह मनुष्य जो बुद्धियुक्त न होने के कारण अपने आपको, अर्थात् आत्मन् को कर्मो में लिप्त समझता है वह बिल्कुल गलत होता है। यदि आत्मन् "मैं कर्ता हूं" इस भाव से नामरूप में

श्लोक 16, 17

अपना बहिर्वेशन न करे तो वह कर्मों से वैसे ही मुक्त रहता है जैसे सरोवर की लहरों से चन्द्रमा। जैसा कि एक चीनी ऋषि ने कहा है "चन्द्रमा अविक्षुब्ध झलकता है, बयार पेड़ों के बीच धीमे-धीमे बहती है"...जब यह समझ में आ जाय तो कर्म-बधन स्वभावतः थोथे हो जाते है। जब यह समझ मे न आए तो पिछले ऋण चुकाने पड़ते है।"[1]

इसी बात को और समझाने के लिए गीता में कहा गया है कि कर्म के स्वभाव के अतिरिक्त हमे कर्ता व उसके ज्ञान पर भी ध्यान देना चाहिए। ये तीनों ही जब जो गुण प्रधान हो उसके अनुसार तीन प्रकार के होते हैं।

श्लोक 19,26,20, 23,25

जीवात्मा कर्म के बंधन से तभी बच सकता है जब यह तीनों ही सात्विक हों। कर्ता अनासक्त और अहंभाव से मुक्त होना चाहिए, उसका ज्ञान वह शुद्ध ज्ञान होना चाहिए जो सब मे एक ही अविनाशी तत्त्व को "अविभक्त विभक्तेपु" देखता है और कर्म को सुसंगत, अंतर्यामी अधिष्ठाता द्वारा अनुमोदित तथा अपनी सामर्थ्य व दूसरों पर उसके प्रभाव को ध्यान मे रखते हुए किया जाना चाहिए। यह अतिम वक्तव्य ही यह सिद्ध करने के लिए काफी है कि कर्मफल त्याग का अनुमोदन कर गीता गैर जिम्मेदाराना कर्मों की हिमायत नही करती। इसका हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि अपने कर्मों से दूसरों के लिए क्या परिणाम निकलते है; परित्याग केवल व्यक्तिगत लाभ का ही करना होता है। यद्यपि पुराणों व अन्य कुछ स्थानो मे कुछ ऐसे श्लोक अवश्य है जिनमें जीवन-मुक्त जीवात्माओ को "बालको या विक्षिप्तो की भांति" हंसते-रोते और अनुत्तरदायी व्यवहार करते बताया गया है, परन्तु इन श्लोको का शब्दशः अर्थ नही लेना चाहिए। ज्ञानी पुरुप विक्षिप्त नही होता और न ही वह अपनी मुक्ति को बालकों की भांति आचरण कर व्यक्त करता है। यह सही है कि अब निरा व्यक्तिगत चिंतन उसमें शेष नही रहता परन्तु अब उसकी जगह उसके माध्यम से विश्व परिकल्पन की अभिव्यक्ति होने लगती है और चाहे उसके कर्म सुस्थापित रीति-रिवाजों से मेल न भी खाते हों फिर भी उसका विश्व व्यवस्था से पूरा तालमेल होता है।

1 योका दैशी (Yoka Daishi) सुजूकी कृत मैन्युअल आफ ज़ेन बुद्धिज्म (Suzuki's Manual of Zen Buddhism) से उद्धृत।

बुद्धि, धृति और सुख के त्रिविध स्वभाव को विस्तारपूर्वक समझाने की यहा कोई आवश्यकता नही क्योकि श्लोक 29 से 39 तक मे दिया गया विवरण स्पष्ट है और उस पर समीक्षा की जरूरत नही है। बस इतना ही कहना है कि यहां बुद्धि का तात्पर्य उस उच्च बुद्धि से नही जिसके बारे मे इतना लिखा जा चुका है बल्कि साधारण युक्ति या अक्ल से है। उच्च बुद्धि तो मनसातीत और सात्विक होती है जबकि साधारण बुद्धि गुणो के अधीन एक मानसिक वृत्ति होती है। परन्तु फिर भी साधारण बुद्धि जब सात्विक हो तो उच्च बुद्धि के समान अपने स्तर पर सत्य को निर्धारित कर सकती है, और जिस हद तक बौद्धिक सत्य एक होता है वहां तक उच्चतर बुद्धि की तरह वह भी सब मे समान ही होती है।

श्लोक 29, 30

जैसा कि शकराचार्य ने कहा है, इकतालीसवें श्लोक से एक नया अनुभाग आरभ होता है। अब तक यह अध्याय अतिम छः अध्यायो वाले खण्ड का ही भाग था और श्रीकृष्ण द्वारा पहले अध्यायो मे दिए गए शिक्षण के मूलभूत सिद्धांतो का विस्तृत विवरण था। शिष्य के दृष्टिकोण से यह सब विश्वरूप दर्शन मे प्रकट हुए दैवी ज्ञान का अतर्ग्रहण और दिमागी तौर से उसको व्यक्त करने का प्रयत्न है। इकतालीसवे श्लोक से सपूर्ण गीता का उपसंहार आरभ होता है।

अध्याय 4 श्लोक 13 मे समाज की चातुर्वण्य व्यवस्था के बारे में कहा जा चुका है। मनुष्यो के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मे वर्ग विभाजन को जो वहां ईश्वर-सम्मत ठहराया गया है उससे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि हिन्दू जाति व्यवस्था के हर अन्याय व पक्षपात का अनुमोदन किया जा रहा है। यह इंगित करने की आवश्यकता नही कि इस बात का काफी प्रमाण है कि प्राचीन भारत मे वर्णाश्रम धर्म हमेशा एक ऐसी कट्टर व निर्जीव व्यवस्था नही थी जैसी आजकल है।

बहरहाल, गीता का जिससे सबंध है वह कोई विशेष सामाजिक व्यवस्था नही —भले ही वह हजारो साल पुरानी हो—बल्कि उससे कही बेहतर व व्यापक है। यह साफ तौर से कह दिया गया है कि वर्णाश्रम विभाग तत्सबधी मनुष्यो के स्वभावो मे व्यक्त गुणो पर निर्भर है। भारत ही मे नही बल्कि सारे संसार मे मनुष्यो के चार प्रधान प्रकार होते हैं। पठन-पाठन, भजन-पूजन करने वाले विधिजीवी या वृत्ति व्यवसाय जीवी प्रकार के तो हुए ब्राह्मण; क्षत्रिय होते है शासक, योद्धा, राजनयिक या पश्चिम के "बन्दूकची शिकारी" टाइप। व्यापार, लेन-देन व खेती-बाड़ी करने वाले वैश्य, और अत मे शारीरिक श्रम या चाकरी करने वाले शूद्र होते है। इन प्रधान प्रकारो मे से प्रत्येक के विशेष गुण होते है। अनिवार्यतः नही परन्तु कभी-कभी ये गुण इन लोगों की सन्तान मे भी आ जाते

हैं और यद्यपि ऐसे जाति गुण निश्चय ही मिले-जुले पाये जाते है, परन्तु फिर भी हर देश-काल मे वे कम से कम उतने साफ तौर से तो देखे ही जा सकते है जितना कि, उदाहरण के लिए, आधुनिक मनोविज्ञान के अन्तर्मुखी (introverts) व वहिर्मुखी (extroverts) वर्ग विभाजन।

ध्यान दीजिए कि कम से कम ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्गीकरण नैतिक व बौद्धिक स्वभाव के आधार पर किया गया है। इसलिए, कोई व्यक्ति ब्राह्मण पुत्र होने या पुरोहित का काम करने से ही ब्राह्मण नही हो जाता। वह ब्राह्मण कुछ विशेप गुणो के कारण होता है जैसे शम, दम, आत्म-अनुशासन, क्षांति, आर्जव और प्रज्ञा। इस बात मे गीता व भगवान बुद्ध के विचार एक ही है: "जटा-जूट, गोत्र या जन्म से कोई ब्राह्मण नही। ब्राह्मण वह होता है जिसमे सत्य और धर्म हो।"[1]

श्लोक 42

आतरिक जीवन के लिए इन चार प्रकारो का प्रतीकात्मक महत्त्व भी है। अनासक्त व शुद्ध, सर्वभूतों में अद्वय को देखने वाला, ब्राह्मण सात्विक बुद्धि का प्रतीक है। शासक, निर्भीक, धैर्यवान क्षत्रिय शुद्ध राजसिक मनस् यानी उच्च स्तरीय मनस् है इसीलिए जीव स्वरूप अर्जुन को क्षत्रिय दिखाया गया है। धनार्जन मे तत्पर वैश्य वहिमुखी काम-भाव का प्रतीक है (तमोमिश्रित रजोगुण) और सेवारत अन्य सवके लिए साधन रूप शूद्र यह भौतिक देह है।

अपना कर्त्तव्य (धर्म) दृढतापूर्वक निभाकर परमगति कैसे प्राप्त होती है, आगे दिए गए श्लोको मे इस वात का विवरण है। धर्म शब्द का अर्थ है किसी वस्तु या मनुष्य का सहज गुण या वृत्ति। अत: अग्नि का धर्म जलाना है और क्षत्रिय का धर्म श्लोक 43 में दिए गए गुणों को जाहिर करना है। इन श्लोको मे हमे चतुर्वर्ण व्यवस्था के बाहरी व भीतरी दोनों अभिप्रायो को ध्यान में रखना चाहिए।

श्लोक 45

अपनी सहज वृत्ति का "उस" अद्वय की सेवार्थ पालन कर "जिससे सारी सृष्टि का आविर्भाव हुआ है" परमगति प्राप्त की जानी चाहिए। दूसरे के धर्म का पालन करने की कोशिश करने मे खतरा है क्योंकि इसका मतलव है एक अविकसित और इसलिए घटिया वृत्ति के आधार पर अपने जीवन का निर्माण करना। यह किसी सफल हास्य अभिनेता के कारुणिक अभिनय करने के प्रयत्न की तरह है जिसमे आमतौर से एकदम असफलता ही पल्ले

श्लोक 46,47

1. धम्मपद, 393

पडती है। मानवीय दृष्टिकोण से अपना धर्म किसी को घटिया या त्रुटिपूर्ण लग सकता है, परन्तु बारीकी से देखने पर पता चलेगा कि सभी धर्म ऐसे होते है क्योकि वे सब आपेक्षिक होते हैं, और पूर्णता तो केवल उस एक "संपूर्ण" मे ही होती है। फिर भी, विश्व-परिचालन के लिए तो सभी आवश्यक होते है और यदि कोई चाहे तो "रेणुकणिका मे निस्सीम को" देख सकता है।

फलाकांक्षा न देखते हुए अपना कर्त्तव्य पालन करने, यानी अपनी सहज वृत्ति द्वारा अद्वय की सेवा करने, का भी आन्तरिक दृष्टिकोण से इतना ही महत्त्व है। मनुष्य केवल इस भौतिक जगत का ही वासी नही होता और उत्कृष्टता तो तब प्राप्त होती है जब उसके अस्तित्व के विभिन्न स्तर—जिनके प्रतीक ही चार वर्ण है—अपनी सहज वृत्ति के अनुसार काम करने लगते है। मनुष्य के सबसे उत्पाद कारक अश, काम-भाव को भी विश्व व्यापार मे हाथ बंटाना होता है, और एक बार फिर गीता की शिक्षा यह है कि ज्योति सब स्तरो पर मुक्त व अनासक्त सक्रिय रहे न कि सख्यावादियों के मतानुसार उसे साकार विश्व से विमुख कर दिया जाए। भौतिक देह की तामसिक जड़ता और काम-मनस् के प्रखर प्रवाह को अनासक्ति द्वारा तत्वांतरित कर स्थिरता व ऊर्जा मे बदलना होता है। इस प्रकार नियंत्रित तथा पूरी तरह काबू मे हो वे अद्वय की सेवा के लिए, दिव्य बुद्धि के समान ही, उपयुक्त साधन होते जाते है।

यह योग जिससे सब स्तरो का तत्त्वांतरण होता है विश्व-विजय का पथ है। शिष्य को शुद्ध बुद्धि द्वारा अद्वय प्राण से संयुक्त रहना चाहिए। मन (आत्मानम्) के हानिकारक प्रवेग को दृढतापूर्वक रोकना चाहिए ताकि वह अपनी ही शक्ति से गतिशील हो सके और राग द्वेष की अन्धी शक्तियो के वश हो खीचा-धकेला ही न जाता रहे। इंद्रिय विषयो को अब व्यक्तिगत सुखभोग का साधन न मान उन्हे अद्वय महाप्राण की सेवा में अर्पण[1] कर देना चाहिए। बडे ध्यानपूर्वक नामरूप से अपने को खीच (विविक्त सेवी) और निरतर ऐसे आंतरिक ध्यान मे मग्न रह—जिसके लिए किसी विशेष समय, स्थान व आसन की आवश्यकता नही होती—वह अहं ग्रथि को काटे ताकि उससे उत्पन्न कामुकता, वैमनस्य, हिंसा व लोभ की विकृत चेष्टाए रुककर समाप्त हो जाये।

श्लोक 51,52,53

यह सब होने पर ही शिष्य सनातन ब्रह्म पद प्राप्ति के लिए परिपक्व होता है। साधारण मनुष्य विश्व-पुरुप बन जाता है। उसके पैर अब कच्ची मिट्टी के नही रह जाते बल्कि दृढता से पृथ्वी पर जमे होते है और उसका ललाट होता है

1. त्यक्त। अर्पण करने का अर्थ ही यहा प्रमुख है।

बादलों से ऊपर निर्मल आकाश मे। व्यक्त जगत के सब स्तरों का वह स्वामी हो जाता है। अब उसे कुछ भी अस्वीकार करने की जरूरत नही रह जाती क्योंकि अब जो कुछ भी है वह ब्रह्म ही तो है। यदि उसने

श्लोक 54

प्रेम के पथ का अनुसरण किया है तो अपने सहज स्वभाव मे अविक्षुब्ध स्थित वह अब उस परम भक्ति को प्राप्त होता है जिसमें किसी भी व्यक्तिगत लाभ, यहां तक कि मोक्ष प्राप्त के इतने चाहे जाने वाले लक्ष्य की भी परवाह नही रहती। परमानन्दमय ब्रह्म सत्ता मे अपने आपको खो देने के महान आनन्द, यानी व्यक्तिगत मुक्ति के उत्कट आनन्द की बिल्कुल परवाह न करता हुआ वह अब केवल पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की सेवा मे ही रहना चाहता है—चाहे जिस क्षेत्र मे भी उसकी सेवा की आवश्यकता हो।

"जिन्हे तेरे चरणों मे शरण मिल गई है वे न स्वर्ग का सुख चाहते है न पृथ्वी का साम्राज्य, न ब्राह्मिक लोको अथवा मनोकामना के मायावी राज्य का आधिपत्य, न यौगिक सिद्धियां और न ही पुनर्जन्म से मुक्ति।"[1]

इस महान प्रेम के द्वारा वह श्रीकृष्ण—पंद्रहवे अध्याय के पुरुषोत्तम—को तत्वतः जान जाता है। ऐसा ज्ञाता ही सच्चा अद्वैती होता है क्योकि वह "इस" और "उस" के द्वैत को, निर्वाण और संसार के वैमनस्य को,

श्लोक 55,56

नही मानता। एक से भागकर दूसरे में जाने की उसे आवश्यकता नही रह जाती, क्योंकि सब अवस्थाओ मे उसे सनातन कृष्ण ही दीखते है और अपने उत्कृष्ट प्रेम द्वारा वह उनके अन्तरतम हृदय को ऐसे देख लेता है जैसे अन्य कोई नही देख सकता, और यों देखकर फिर वह उसी का वासी हो जाता है।

इस प्रकार अपने प्रेम द्वारा मुक्ति को ठुकरा कर जहा वह स्थित होता है वही मुक्ति पा जाता है। अब वह सब कर्म स्वतंत्रता से कर सकता है और करता है। स्वतंत्र होकर वह उसकी सेवा करता है जो चिरस्वतंत्र है। और अब वह बराबर श्रीकृष्ण के चरणों के दर्शन अपने हृदय मे करता है। उनसे प्रवाहित होती शात आनन्दमय ज्योति रेखा, यानी उनकी कृपा,[2] के कारण वह कही भी हो, कुछ भी करता हो, स्थित होता है वह सदैव परम धाम[3] मे ही।

अब श्रीकृष्ण सामान्य विवरण छोडकर सीधे अपने शिष्य के हृदय को संबोधित करते है। वे वचन देते है कि यदि शिष्य सब स्वार्थी भय त्याग कर उन

1. श्रीमद्भागवत 10, 16-37
2. प्रसाद शब्द का अर्थ "कृपा" और "शात स्पष्टता" दोनो ही हैं।
3. वैष्णव मुक्ति त्याग का सिद्धात, और बोधिसत्व सिद्धात वाले बौद्धजनो के "अप्रतिष्ठित निर्वाण" का शिक्षण भी यही है।

अंतर्यामी स्वामी की शरण मे आ जाए तो उनकी विश्व को हिला देने वाली शक्ति उसे सब अवरोधो व सकटो के पार ले चलेगी। लेकिन साथ ही वे यह चेतावनी भी देते है कि अन्ततः इस पथ पर चलना यानी पंक्तिवद्ध आसुरिक शक्तियो से युद्ध अवश्यभावी है। भोग-विलास की अहंवादी कामना और कष्ट के भय उसे युद्ध मे जूझ जाने से फिलहाल भले ही रोक ले लेकिन अंत में विश्व-विकास का निष्ठुर प्रभाव उसे जबरन इस पथ पर अग्रसर करा देगा जिस पर चलने से अभी वह हिचक रहा है, और उस अह भाव का, जो अव तक उसे रोके हुए था, इस तरह वध कर दिया जाएगा जैसे वलिपशु का खिला-पिलाकर मोटा करने के वाद वध कर दिया जाता है।

श्लोक 58-59

कारण यह है कि विश्व का संचालन करने वाली महान शासन शक्ति प्रत्येक प्राणी के हृदय मे वास करती है। कुम्हार की चाक जैसे ससार-चक्र पर घूमते हुए कोई भी "आत्मा के सुनम्य तनाव" से वच नही सकता। मनुष्य चाहे जितना भी यह दावा करे कि वह एक स्वाधीन अहं है जिसका केवल अपने मे और अपने लिए ही अस्तित्व है, आत्मन् की शासन शक्ति वरावर उसके अंदर रहती है और उसे चैन से नही वैठने देती। मनुष्य तो जैसे अपनी सत्ता के केन्द्र से किसी रवड़ की डोर से वधा होता है; जितना ही अधिक वह उसे खीचता है प्रतिक्रिया उतनी ही अधिक होती है। इसलिए भौतिकवाद के आधिक्य के पश्चात् उतनी ही अति-धार्मिकता आती है और स्वेच्छाचार के युग के वाद अति नैतिक निग्रह का युग आता है।

श्लोक 61

आज नही तो कल पथ पर सब ही को चलना होगा, परन्तु तव तक कोई जवरदस्ती नही है। दैवी इच्छाशक्ति की ही चिगारी, मानवीय इच्छाशक्ति, सर्वथा मुक्त होती है और कोई सच्चा गुरु शिष्य से जवरन, उसकी भलाई तक के लिए भी, कुछ नही करवाता। ज्ञान के गुप्त पथ का रहस्योद्घाटन करने पर वह केवल इतना ही कहता है: "विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु—इस पर पूरी तरह विचार कर तू जैसा चाहे वैसा कर।" पथ सव के लिए खुला है। हर एक को उस पार आने का अधिकार है, लेकिन कोई किसी को न तो मजवूर ही कर सकता है और न किसी की इच्छाशक्ति पर जरा-सा अतिक्रमण ही कर सकता है।

श्लोक 63

जव मध्यम मार्ग सदा ही खुला है और उस पर जो चाहे वह चल सकता है तो युग-युगान्तर तक चलने वाली चक्की मे क्यों पिसा जाय? भोग-विलास

की कामना और प्रतिक्रियावादी तपश्चर्या दोनों ही से बचते हुए शिष्य को अपना सर्वस्व (सर्वभावेन) हृदय में स्थित दैवी शक्ति को अर्पण कर देना चाहिए। यह कह कर कि अब वह परम गोपनीय रहस्य, परम शिक्षण,

श्लोक 62-64 बता रहे है, श्रीकृष्ण उसी श्लोक को दोहराते है जिससे उन्होने नवें अध्याय की इतिश्री की थी :

"अपने मन को मुझ मे लगा, अपने हृदय का प्रेम मुझे दे, अपने सब कर्म मेरी सेवा मे अर्पण कर, अपने अहं को मेरे सामने कुछ न

श्लोक 65 समझ, निश्चय ही तू मुझको प्राप्त होगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है क्योंकि तू मुझे प्रिय है।"

श्लोक 66 "सारे अवलम्बन[1] छोड़ बस मेरी शरण आ।
कातर मत हो, मैं तुझे मुक्त सब पापों से कर दूंगा।"

कौन है यह "मेरी" कहने वाला जिसकी शरण को ऐसा परम रहस्य बताया जा रहा है ? यहां श्रीकृष्ण उस अंतिम शिक्षण पर फिर आ गए है जिसका रहस्य उन्होंने पन्द्रहवें अध्याय मे बताया था। यह है उस सर्वोच्च दैवी आत्मन्,पुरुषोत्तम, का रहस्य जो सब द्वन्द्वों के परे स्थित, सब द्वन्द्वों का आधार होते हुए भी उन सबसे निर्लिप्त होता है। यहां वह बहुत निश्चयात्मक रूप से कहते है कि यह शिक्षण उस बासठवें श्लोक के रहस्य से भी गूढ़तर है जहां सब के हृदय में स्थित महान दैवी शक्ति का उल्लेख था और जिसे श्रीकृष्ण ने वहां अन्य पुरुष रूप से संबोधित किया था। परन्तु अब उसी के बारे में वे प्रथम पुरुष मे बोल रहे है।

/

उनके इस परम अस्तित्व तक न तो उस दार्शनिक ज्ञान द्वारा पहुंचा जाता है जो अव्यय ब्रह्म का अनुभव प्रदान करता है और न ही उस यौगिक ध्यान द्वारा जो ऐसे चैतन्य का अनुभव कराता है जो दिव्य किन्तु अवैयक्तिक रूप से सबके हृदय में रहता है। उस तक तो पहुचा जाता है उस शक्ति के द्वारा जो इतने अधिक सीमित और उलझे हुए लगने वाले मानवीय व्यक्तित्व मे स्थित होती है।

एक अवैयक्तिक रूप से नियत प्रवाह में अंतरिक्ष के तारामंडल अपना भव्य भ्रमण करते रहते है; सागर की अवैयक्तिक तरंगें पूरी अगाधता के साथ उतरती-चढ़ती रहती हैं; और सबको आच्छादित करने वाला आकाश भी परम शांति

1. धर्मान्! धर्म शब्द के कई अर्थ होते है परन्तु अन्ततः वह धृ धातु से बना है जिसका अर्थ अवलम्बन होता है।

से निःशब्द रहता है। अपने व्यक्तिगत आवेगों से त्रस्त, अपनी व्यक्तिगत उलझनों से परेशान, अपने व्यक्तिगत सवंधो को संभाल पाने की असमर्थता के कारण किंकर्त्तव्यविमूढ, हम अवैयक्तिकता के मुक्तिदायक वातावरण की शरण मे भागते हैं और हमारे घायल हृदयो पर एक अद्भुत शान्ति उतर आती है। परन्तु जो आत्मिक वार्तालाप मानव मानव के साथ करता है वह पर्वत, सागर या आकाश के साथ थोड़े ही किया जा सकता है। अवैयक्तिकता की ओर बढ़ने का साहस हमे अच्छा इसीलिए लगता है क्योकि हम ऐसा अपनी व्यक्तिगत पृष्ठभूमि मे करते है और बरावर व्यक्तिगत भावना के दृढ़ आधार पर स्थित रहते हैं। व्यक्तित्वहीन ससार फीका ही नही नितांत फीका होगा। हमारी व्यक्तिगत जघन्यता के अंतर मे ही वह रहस्यमय मणि छिपा होता है जिसे अवैयक्तिक अस्तित्व वाले देवगण नहीं जानते और इसीलिए, वे मनुष्य-योनि मे जन्म लेने को तरसते हैं। यह मणि है मनुष्य का अन्तरतम निधान, श्रीकृष्ण का सबसे ऐश्वर्यशाली और प्रखर रूप, जिस तक केवल व्यक्तिगत आत्मसमर्पण और व्यक्तिगत प्रेम द्वारा ही पहुंचा जा सकता है।

यह कहना गलत है कि व्यक्तित्व तो भ्रममात्र ही है जिसे कि अवैयक्तिकता की अगाधता में विलीन कर देना चाहिये। आध्यात्मिक जगत मे जो महानतम पुरुप हमे मिलते है उनमे व्यक्तित्व की आभा साधारण जनों से कही अधिक होती है। और यदि हम उनसे भी आगे दैवी अवतारों, श्रीकृष्ण, राम, बुद्ध, ईसा को लें तो देखेंगे कि उनकी वही व्यक्तिगत विशेपता एक असीम प्रखरता से सम्पन्न हो जाती है। भगवान बुद्ध की प्रशांत करुणामय दृष्टि, ईसा मसीह की ज्वलंत प्रखरता और हंसते हुए श्रीकृष्ण की अपनेपन से भरी हंसती निगाहे ये सब अत्यंत आत्मीय है और यही मनुष्यों के हृदयो को ऐसी प्रबल शक्ति से आकर्पित करती है कि दुनिया-भर के "शिक्षण" उसके सामने कुछ नही होते।

दार्शानिकता व मुक्तिवाद की दलीलें चाहे कुछ भी कहती रहे, यह अतरतम दैवी महत्ता आंखो से दीखने वाले नामरूप के हट जाने पर अवैयक्तिकता के सागर मे लुप्त नही हो जाती। जैसा कि स्वयं गीता ने ही कहा है: "नाभावो विधते सतः—सत् का कभी अभाव नही होता"। अथाह जिस भापा मे अथाह का आह्वान करता है वह सब दार्शनिकता के परे होती है। जैसा कि रासायनिको ने कहा है "हमारा सब से मूल्यवान मणि कूड़े के ढेर पर फेंक दिया गया है," और फेंकने वाले हैं अमूर्त्तिकरण के आग्रही दार्शनिक।

यही है अतिम रहस्य, वह अकथनीय सार जो व्यक्तित्व में छिपा रहता है और उसे गुरुत्व प्रदान करता है। यह एक ऐसा विचित्र और जादुई कुछ है जिसका कोई भी दिमागी विश्लेषण नही किया जा सकता और जो कोरे दार्शनिको की

नजर से इस प्रकार लुप्त हो जाता है जैसे केनोपनिषद् में यक्ष इन्द्र की आंखों के
सामने से लुप्त हो गया था ।

इसलिए इन अट्ठारह अध्यायों मे जैसे यथोचित भूमिका बांधने के बाद अब
श्रीकृष्ण गीता रहस्य चूडामणि, पूरे कथोपकथन के दीप्त केन्द्र, को यथास्थान
स्थापित करते है। और सब कुछ छोड़ इन अंतिम श्लोकों मे वे अब केवल अपने
ही बारे मे बोल रहे हैं—अपनी उस सर्वसमृद्ध परमगोपनीय सत्ता के बारे में जो
केवल मानव-हृदय द्वारा ही जानी जा सकती है ।

और अपने सखा से वे व्यक्तित्व और वैयक्तिक भावनाओ के त्याग का नहीं
बल्कि उनकी उलझनो को सुलझाने का अनुरोध करते हैं, व्यक्तित्व का
पुनरभिस्थापन व केन्द्रण करने को कहते है ताकि शिष्य वह अद्भुत प्रधान
चमत्कार देख सके जिसकी हल्की-सी ही झलक दीख जाने पर कोई उसे कभी
भूल नही सकता—शून्य मे खिला दीप्त कमल, जिसके हृदय में स्थित है संसार
के सब रंगो से मनोरम श्याम ज्योति से जगमगाता अमूल्य मणि ।

"अपना मन मुझ पर लगा, अपने हृदय का प्रेम मुझे दे" । जो प्रेम के दीवाने-
पन में अपने को इस तरह अर्पण कर देता है उसे मिलता है प्रेम का मुक्त
प्रतिवेदन, हाथ का सबल स्पर्श, समर्थ सहारा, जो पात्र-अपात्र की भावना से वैसे
ही सर्वथा मुक्त होता है जैसे सर्वोच्च मानवीय प्रेम । "तब तू मुझको प्राप्त होगा,
यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है क्योकि तू मुझे प्रिय है ।"

यही है "कृपा" का रहस्य । सर्वव्यापी दैवी करुणा के भी परे यह कृपा उन
सबके लिए उपलब्ध है जो अपना हृदय उसके लिए खोले रहते है। नितात
अननुनेय व अप्रत्याशित यह वह रहस्यमयी शक्ति है जो हृदयों के बीच बिजली
की तरह कौंध जाती है—प्रेम की चरम अज्ञेय शक्ति ।

इस सबके लिए जो एक चीज परम आवश्यक है वह है उन सब अवलम्बनों
(धर्मान्) का परित्याग जिन पर अब तक हम अपने अहंभाव को उसकी महत्ता
और सुरक्षा भावना को बल देने के प्रयत्न मे टिकाते आए है। ये अवलम्बन
होते हैं वर्ण और आश्रम के, धन-सम्पत्ति, मान-मर्यादा, विद्या और सुकृत्यों के
आसरे जिनके बल पर हम दावा करते है—"मैं मै हूं, दुनिया का कोई ऐसा-वैसा
आदमी नही।" इन सब असार आसरों को छोड़ हमे अपनी स्थिति उस में
करनी होगी जो समस्त संसारों का आधार है। अपने अहं के बंधनों से मुक्त हो
जब जीव अपना हाथ मुक्त हृदय से चिर मुक्त कृष्ण के हाथ मे रख देता है तो
उसे प्रेम का यह मुक्त उपहार मिलता है—"डर मत, मैं तुझे सब पापों से मुक्त
कर दूगा ।"

जो अपने पुण्यों, सत्कर्मों, यौगिक [illegible] दार्शनिक अन्तर्दृष्टि के बूते
पर ही खड़ा होने की चेष्टा करता [illegible] ो अग्नि-परीक्षा देनी पड़ती

है और यदि उसमे वह सफल न हुआ तो फिर उसके बंधन बने ही रहते है। परन्तु जो अपने हृदय की गहराइयो मे श्रीकृष्ण के प्रेम व मित्रता पर अवलंबित रहता है वह एक ऐसे आधार पर स्थित होता है जो विश्व की उत्पत्ति से पहले भी था और इसलिए वह विश्व कर्म शृंखला मे वधा नही रहता। वह "एकाकी की ओर जाता एकाकी" नही वल्कि चिर मुक्त के लिए जीवित मुक्त होता है और इस प्रकार वह सदैव उस सेवा में लगा रहता है जिसकी मांग प्रेम प्रेम से और मित्र मित्र से करता है।

युद्ध तो उसे अव भी स्वयं ही करना होगा क्योंकि कृष्ण तो निःशस्त्र सारथी ही है। परन्तु भगवद्शरण गये जीवात्मा की नस-नस मे श्रीकृष्ण की असीम शक्ति प्रवाहित होगी, प्रत्येक किंकर्त्तव्यविमूढता मे उनकी अचूक सलाह ठीक रास्ता दिखाएगी और उस परम आपदा के समय, जव कर्ण अपने सधे निशाने से अजेय अमोघास्त्र उस पर फेंकेगा तव वह उसके रथ को नीचे दवाकर ठोस पृथ्वी के अदर धंसा देगे ताकि वह भीषण अस्त्र निष्फल होकर सिर के ऊपर से निकल जाय। जव वे सारथी हो तो विजय निश्चित है। यही है कृष्ण की शरण मे जाना और जव यह पूरी तरह हो जाय तव शिष्य को अन्य सव कर्त्तव्यो से मुक्ति मिल जाती है। अव प्रत्येक स्तर पर उसका जीवन श्रीकृष्ण की सेवा मे अर्पित होता है और केवल उन्ही का हो जाता है, इसलिए उसे न तो अपने सांसारिक व असासारिक कर्त्तव्यो के वारे मे सोचने की आवश्यकता रहती है और न अपनी विभिन्न उपाधियो को अपने आधिपत्य को लाने की। जैसे-जैसे व आगे वढ़ता है वैसे-वैसे उसके परमप्रिय कृष्ण और भी अधिक उसके जीवन का मर्म और केन्द्र वनते चले जाते है और एक ऐसी अवस्था आ पहुंचती है जव हर विचार या कर्म वस उनके प्रति ही होता है।[1] एक पृथक व्यक्तिगत जीवन की जगह अव उसके अस्तित्व मे प्रवाहित होता है सर्वभूतो का अद्वय दैवी प्राण—वह ज्योति जो संसार मे आए प्रत्येक मनुष्य को प्रकाशमान करती है। अपने हृदय मे उससे युक्त हो जो स्वयं अद्वय प्राण का हृदय है, उसके सव पाप ऐसे गायव हो जाते है जैसे वे कभी थे ही नही। अहं के न रहने पर कोई पाप भी नही रह जाते। अव तो केवल मुक्त दैवी प्राण ही उस माध्यम के जरिए कर्म करता है जिसे अज्ञान-वश लोग "अमुक व्यक्ति" कहते जाते है।

इस रहस्य को किसी भी उच्छखल, प्रेमहीन, सेवाभावहीन (अशुश्रूपु) तथा गुरु-निन्दक व्यक्ति को न वताने की चेतावनी भी गीता मे दी गई है। यह निषेध किसी अलगपन की भावना से नही दिया गया है

1 जव ठीक से समझा जाए तो जो कुछ यहा श्रीकृष्ण के लिए कहा गया है वह मानवीय गुरु के सवध के लिए भी सही है।

बल्कि इसका उद्देश्य तो यह है कि किसी का अहित न होने पाए। निश्चय हीउपरोक्त प्रकार के व्यक्ति इस रहस्य का मर्म तो समझेंगे नही और जैसे

श्लोक 67 श्लोक 66 मे दिए गए हैं वैसे दैवी वचनो के बाहरी अर्थों को ही पकड़ लेंगे और इस तरह अपने को और दूसरो[1] को हानि पहुंचाएंगे।

अगले दो श्लोको में यह बात पूरी तरह साफ हो जाती है क्योंकि उनमे उन लोगों की प्रशंसा है जो इस गुप्त विद्या का दान सुपात्रो को देते है। ये ही होते है अपने मोक्ष का त्याग कर देने वाले लोग जिनकी ओर इस अध्याय का शीर्षक इगित करता है—वे जो पराभक्ति (श्लोक 54 से तुलना कीजिए) के कारण अपने आनन्द को तब तक के लिए छोड़ देते है जब तक हर जीवधारी उसमे उनका सहभागी न हो सके। इस महान त्याग के कारण ही कृष्ण कहते है कि इसको करने वालो से अधिक प्यारा न उन्हें कोई है न होगा। .यही हैं वे "शांत महान्तः"[2] जिनका उल्लेख शंकराचार्य ने किया है—जो स्वयं भवसागर पार कर लेने के बाद निस्वार्थ भाव से दूसरों को पार करवाने मे रत रहते है।

अब और कुछ कहने को कम ही बचा है।[3] पथ, लक्ष्य और महायज्ञ सब बता दिए गए है और समझ मे आ चुके है और जीवात्मा उन्हे समझ लेने के कारण विजयोल्लास से घोषणा करता है: मेरा मोह नष्ट हो चुका है, पुनः स्मृति लाभ हो गया है। हे चिर अजेय! तेरी कृपा से मेरे सब संशय दूर हो गए हैं। अब जो तू कहेगा वही मैं करूंगा।

एक बार पहले भी[4] जब उसे परिव्याप्त आध्यात्मिक शक्तियो की पहली अनुभूति हुई थी, अर्जुन ने ऐलान किया था कि उसका मोह समाप्त हो चुका है। परन्तु अब आगे के कदम भी लिए चा चुके है। अब वह

श्लोक 73 सत्य मे स्थित है और उसे उस नित्य अद्वय की स्मृति पुनः प्राप्त हो गई है जिससे वह आया था और जहां अब वह वापस जा रहा है। अब उसे समस्त ज्ञान उपलब्ध है और शाश्वत अचल आनन्द या अपने दुखी मानव बन्धुओं की अथक सेवा

1. गीता का प्रमाण देकर बम काडो व धार्मिक भावुकता का समर्थन करना ऐसे निषेध की अवज्ञा का फल है।
2. अर्थात् वे जो अपने आपको समस्त प्रव्यक्ति के पार शात आत्मन् जान लेने पर भी महत् आत्मन्, यानी विश्व परिकल्पना या दैवी ज्ञान के स्तर पर बने रहते हैं। (विवेक चूड़ामणि 39)
3. श्रद्धापूर्वक सुनने भर के ही फल के बारे मे श्लोक 71 में जो कुछ कहा गया है उसे पिछले अध्याय मे श्रद्धा के बारे में दिए विवरण के सदर्भ मे समझना चाहिए।
4. अध्याय 11 श्लोक 1।

इन दो रास्तो मे से वह दूसरा वाला चुनता है और गद्गद् कण्ठ से वह अच्युत सनातन पुरुष से कहता है कि अब वह उन्हीं की आज्ञा का पालन करेगा व अंत तक उनकी ही सेवा करता रहेगा।

इस प्रकार जीव व उसके सनातन उद्गम स्रोत का संवाद समाप्त होता है। बोध-प्राप्ति तो जीवात्मा को हुई है परन्तु वह ज्ञान का प्रकाश सामान्य जाग्रत व्यक्तित्व तक संजय की मध्यस्थता से ही आया जिसने इन दो के बीच कडी का काम किया है। इस अद्भुत दैवी बोध को बार-बार स्मरण कर (संस्मृत्य-संस्मृत्य) उसका हृदय हर्ष से पुलकित हो उठता है और वह इस अमर सत्य की घोषणा करता है कि जब जीवात्मा परमात्मा से युक्त हो जाता है तब विजय, कल्याण व सद्वृत्ति सदा के लिए निश्चित हैं।

श्लोक 76-78

परिशिष्ट-क

चेतना तथा नाम-रूप पर टिप्पणी

ये दो पद, चेतना तथा नाम-रूप (Consciousness और form) इस पुस्तक में आद्योपांत आते है और यह समझना बहुत जरूरी है कि वे किस अर्थ में इस्तेमाल किये गए हैं।

किसी अनुभव का—दृष्टान्त के लिए मान लीजिए कि एक नीले बिंब के दृष्टिगोचर होने का—विश्लेषण किया जाए तो उसके दो पहलू देखे जा सकते हैं। एक तो दृश्य यानी वह वस्तु जो देखी जा रही है, इस दृष्टांत में नीला बिंब, और दूसरा उस वस्तु की "अभिज्ञता"। मैंने इसी वस्तु-विषय को नामरूप और उसकी अभिज्ञता को चेतना या चैतन्य कहा है।[1]

यह ध्यान देने योग्य बात है कि नामरूप का अर्थ यहां बिंब की बाहरी रूप-रेखा से नही है बल्कि उससे है जो उसके अन्दर भरा होता है, जो उसकी विषय वस्तु है। अनुभव के अन्य ऐन्द्रिक या अनैन्द्रिक तत्त्वों के संदर्भ में भी इस पद को इसी प्रकार समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, ध्वनि, स्वाद, स्पर्श-ज्ञान या विचार का भी नामरूप है और उसे वैसे ही समझना चाहिए जैसे नीले बिंब के दृष्टिगत अनुभव मे "नामरूप" पद को समझा गया है।

नामरूपों में तो वर्गगत व व्यक्तिगत दोनो तरह की विशिष्टताजन्य भिन्नता पाई जाती है लेकिन चेतना, इसके विपरीत, पूरी तरह एक सी होती है।

अन्तर्निरीक्षरात्मक मनन द्वारा साफ हो जाएगा कि सब नामरूपों की स्थिति चेतना मे ही होती है और चेतना के अलावा हम नामरूपों के बारे में न तो कुछ जानते है और न जान सकते हैं।[2]

1. नामरूप और चेतना को "अधिभूत" और "अधियज्ञ" भी कहा जा सकता है।
(अनुवादक)
2. इसे दृष्ट सृष्टिवाद के दृष्टिकोण से नही गड़बड़ाना चाहिए। जिस चेतना के बारे मे कहा जा रहा है वह "आपकी" या "मेरी" नही है। वास्तव मे "आपका" और

असल मे नामरूपो की चेतना से अलग अस्तित्व की बात करना ही बे-मानी है। जिन चीजों को लोग नामरूप का आधार मानते है वे अनुभव को व्यवहार मे लाने के लिए मानसिक खाके मात्र है। इन तथाकथित वस्तुओं को न तो कोई जानता है और न कभी जान ही सकता है। उनके अस्तित्व मे विश्वास रखना नितांत अनावश्यक श्रद्धा की निशानी है।

नामरूप को इंद्रिय बोध यानी मस्तिष्क मे कही स्थित वास्तविकता के कैमरा चित्रो के समान नही समझना चाहिए। स्वयं मस्तिष्क भी वैसी ही वस्तुओ मे से है जिनको ऊपर मानसिक खाका कहा गया है। ऐसी कल्पना-कृतिया कितने ही प्रकार के विचारो व अध्ययनो मे लाभदायक होती है पर यहा ये बिलकुल बेमतलब है।

अनुभव का मुख्य आधार आंख, कान या मस्तिष्क मे इन्द्रिय बोध नही बलिक आकाश (space) मे स्थित दृष्टिगोचर होने वाले अन्य नामरूप हैं। अन्य सब बाते बस तार्किक और काल्पनिक हैं। भौतिकवादी (materialist) विज्ञान पहले तो नामरूप से चैतन्य को अलग करता है ताकि नामरूपो को निरपेक्ष व अवैयक्तिक ढग से देखा बरता जा सके और फिर जब विश्लेपण द्वारा उन नामरूपो मे किसी सजीव या चेतनाशील तत्त्व को नही पाता तो छाती ठोककर कहता है कि सब कुछ यंत्रवत् है और ऐसा कुछ नही है जो कि आध्यात्मिक हो। आचरणवादी मनोविज्ञान (behaviourist psychology) भी मानसिक जीवन मे ऐसी ही कार्यवाही का एक उदाहरण है। यदि आप अनुभव से चैतन्य को अलग करके ही चलेंगे तो यह उम्मीद करना बिल्कुल वाहियात है कि विश्लेपण के अत मे चेतना रह भी जाएगी। इस कारण किसी को इससे निराश नही होना चाहिए कि आजकल का विज्ञान "आत्मा" के बारे मे कुछ नही जानता। यह तो वही पुरानी कहानी है जिसमे बूढा अपनी नाक पर चढे चश्मे को सारी दुनिया मे ढूढता फिरता है।

इस विपय मे पूरी तरह जाने के लिए एक परिशिष्ट नही बल्कि पूरा ग्रन्थ चाहिए। मैं तो यहां सिर्फ यह बताना चाहता हू कि मैंने चेतना (conscious-ness) शब्द का प्रयोग इस पुस्तक मे कैसे किया है। इसमे लेश मात्र भी सदेह नही है कि, भौतिक या मानसिक, किसी भी चीज का, अलावा चेतना के वस्तु विपय होने के, अन्य कोई अस्तित्व नही है। इसलिए हम उप-चेतन (sub-conscious) या अति चेतन (super conscious) मन के बारे मे तो बात कर सकते हैं और उसका मतलब यह लगा सकते है कि साधारणतया

"मेरा" अस्तित्व तो उस चेतना मे नामरूपो की शृंखलाओ के सग्रहण का अभिसरण बिन्दु मात्र है। यह चेतना न विशिष्ट है न मानवीय, बस एक परिव्याप्त ज्योति है।

जिस स्तर पर मन अभिसारित होता है ये उससे नीचे या ऊंचे स्तर की प्रक्रियाएं हैं जिन पर कि सामान्य चेतना ध्यान नही देती। पर हम किसी अचेतन मन की वात नही कर सकते क्योंकि इसके कुछ मायने ही नही हैं।

वस अब इतना ही और कहने को है कि संस्कृत शब्द जिसको यहां चेतना या चैतन्य कहा गया है "चित" है जो मन का अर्थ रखने वाले शब्द "चित्त" से भिन्न है। बौद्ध जन "विज्ञान" (पाली "विन्यान") शब्द का प्रयोग करते हैं। वह चेतना जो आंख से दीखने वाली चीजों को प्रकाशित करती है "चक्षु विज्ञान", व जो विचारों को प्रकाशित करती है "मनो विज्ञान" कहलाती है और इसी प्रकार और भी। इन्द्रियों और मन के विज्ञान के पार (कम से कम महायान पद्धति मे) "आलय विज्ञान" है जिसके समरूप इस पुस्तक मे महत् आत्मत् है। महायानी "चित्त" शब्द का उपयोग चेतना व मन दोनो ही के लिए करते हैं। उदाहरण के लिए, वे कभी "चित्त मात्र" और कभी "विज्ञान मात्र" का प्रयोग करते हैं और दोनों पदों से उनका अभिप्राय शुद्ध चेतना से है।

परिशिष्ट-ख

जीव तथा जड़ पर टिप्पणी

इस पुस्तक मे प्रयुक्त शब्द जीव शरीर के अन्दर की किसी विशिष्ट सत्ता को नही वल्कि उन परस्पर सम्वन्धित अनुभव-शृंखलाओं के आतरिक केन्द्र को निर्दिष्ट करता है जिनसे व्यक्तित्व वनता है। यह केन्द्र किसी व्यक्ति विशेप के चैतन्य मे नही वरन् सर्वव्यापी ज्योति के सागर मे एक अभिसरण विंदु है। अतः इसके अलग "अस्तित्व" की वात करना वैसा ही वेमानी है जैसा किसी लेंस द्वारा किए गए प्रकाश के किरण विंदु के अलग अस्तित्व की वात करना। यह किरण-विंदु मुख्यतः उच्च या शुद्ध मानस के स्तर पर होता है, परन्तु इसका एक वहिर्वेशन वासना मनस् या अशुद्ध मनस् या निचले व्यक्तित्व के रूप मे क्रियाशील रहता है। यह निचला या वहिर्वेशित केन्द्र ही अनुभाविक व्यक्तित्व का बीज कोप होता है। यह केन्द्र स्वतन्त्र रूप से विद्यमान नही होता। इसका अस्तित्व उस विन्दु के रूप मे होता है जिसके सुपुर्द हमारे अनुभव किए जाते हैं। यही कारण है कि शिशुओ को अपनेपन का ज्ञान नही होता और इसी कारण, जव कुछ व्याधिकीय अवस्थाओं मे अनुभव किए हुए विपय एक के वजाय दो विंदुओ पर संघटित हो जाते है तो एक ही शरीर मे दो अहभाव पाए जाते हैं यानी विभक्त-मनस्कता हो जाती है।

जहां तक उच्चतर स्वरूप यानी सच्चे अहंभाव का सवाल है उसका भी "अपने आप मे कुछ अस्तित्व" नही होता। फिर भी वह एक ऐसा किरण विंदु होता है जो युगो तक कायम रहता है। स्वय अजन्मा होते हुए भी यह उस वहिर्वेशन को उत्पन्न करता है जो किसी जन्म विशेप के अह को वनाता है। वहिर्मुखी होने पर इसकी अंतर्वस्तु होती है वार वार के वहिर्वेशनो से अर्जित अनुभव और अंतर्मुखी होने पर वुद्धि का सर्वव्यापी ज्ञान।

और भी उच्चतर दृष्टि से, सच्चा स्वरूप या जीव "महत् आत्मन्" होता है—सर्वव्यापी अद्वय प्राण जो कि भिन्न-भिन्न अभिसरण विन्दुओ द्वारा देखता

तो है पर होता स्वय उन सबसे परे है। सर्वोच्च दृष्टि से यही सर्वातीत स्वरूप या "शांत आत्मन्" है। इसके भी परे परब्रह्म है जिसमे नितांत नैरात्म्य होता है।

पाठक देखेगे कि जीव (soul) और स्वरूप (self) को पर्यायवाची रूप में इस्तेमाल किया गया है। जहां पहले शब्द का उपयोग किया जाता है वहां संदर्भ मे अधिक सजीव भावात्मकता की आवश्यकता थी जो "स्वरूप" (self) जैसे दार्शनिक पद मे नही मिलती। खासतौर से जीव (soul) शब्द का तात्पर्य उससे है जिसे बुद्धि के भावना-ज्ञान द्वारा समर्थित सच्चा अहंभाव कहा जाता है।

इसी तरह संस्कृत शब्द "आत्मन्" का—जिसका अंग्रेजी अनुवाद "self" है, उपयोग उस स्तर के अनुरूप ही किया गया है जिसके साथ संदर्भ मे ज्योति का तादात्म्य है। कभी शरीर, पर उससे अधिक वार मन (उदाहरणार्थ गीता 6, 5), कभी बुद्धि (उदाहरणार्थ कठोपनिषद् मे ज्ञानात्मन्), कभी अद्वय प्राण यानी सार्वभौमिक परिकल्पना (महत् आत्मन्), कभी सर्वातीत आत्मन् (शांत आत्मन्) और कभी-कभी प्रतीकात्मक रूप से परब्रह्म (परमात्मन्—उदाहरणार्थ गीता, 15, 18) के रूप मे आत्मन्, शब्द का उपयोग हुआ है। इस अंतिम रूप से इस पद का अर्थ "उस" (तत्) से लगाना चाहिए जो वह वास्तविकता है जो कि प्रत्येक भिन्न क्षुद्र अहं का आधार है। इससे स्पष्ट हो जाएगा कि आत्मन् कोई वस्तु नही बल्कि एक ज्योति या, जैसा शायद इसका प्राचीनतम अर्थ था, श्वास है।

[अनुवाद में self के लिए "क्षुद्र अहं" और Self के लिए "उच्चतर अह" या "सच्चे स्वरूप" का इस्तेमाल किया गया है —अनु०]

Matter (जिसके लिए 'जड़' या 'अधिभूत' शब्द का प्रयोग किया गया है—अनु०) के बारे मे यह बता देना आवश्यक है कि यह कोई "चीज़" नही है जो अपने पैरो पर आप खड़ी रह सके। पुस्तक मे यह दिखाया गया है कि यह मानने के लिए कोई भी दलील नही दी जा सकती कि ऐसी कोई चीजें होती भी है। यह तो बस एक मानसिक खाका मात्र है जो कि स्वयं भौतिक शास्त्र की नाक के नीचे प्रगति के प्रत्येक नए चरण के साथ हवा होता जा रहा है। इंद्रिय-स्पर्श न्याय के पीछे या परे यदि कुछ है तो ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नही है। उन्नीसवी शताब्दि के विलियर्ड की गेदों जैसे परमाणु आरम्भिक बीसवी शताब्दि के लघुरूप सौर मण्डल तथा आज की सम्भाव्यता की तरंगें (waves of probability) सब की सब शुद्ध मानसिक रचनाएं है जो व्याख्या करने, नापने और अनुभवो की पूर्व सूचना देने भर के लिए की गई हैं। इनकी अपनी वास्तविकता गणित शास्त्र मे उपयोग किए जाने वाले "ऋणात्मक एक के वर्गमूल"

जैसी धारणाओ से अधिक नही है।

इस पुस्तक मे जड (Matter) शब्द का उपयोग अनात्मिकता के अर्थ मे किया गया है—यानी जिस पर प्रकाश पडता है वह अतर्वस्तु, उस अंतर्वस्तु मे आत्मबहिर्वेशन तथा इससे होने वाली आत्म-हानि, पृथकता और अनेकता। चेतन का जड मे अवतरण ज्योति का उसकी अतर्वस्तु मे प्रवेश और उससे तादात्म्य स्थापित करना है जिसके फलस्वरूप अंतर्वस्तु का अधिकाधिक स्पष्टतर प्रकटीकरण होता जाता है। इस बात को हमेशा ध्यान मे रखना चाहिए।

परिशिष्ट-ग

चेतना की चार अवस्थाओं पर टिप्पणी

दार्शनिक व प्रतीकात्मक हिन्दू लेखनों मे आद्योपांत चेतना की तीन अवस्थाओ—"जागृत", "स्वप्न", "सुषुप्ति"—का जिक्र आता है और इनसे परे आती है वह जिसे "तूरीय" या चौथी कहा जाता है। इस परियोजना का अंगरेजी अनुवाद waking, dreaming व deep sleep मे किया जाता है और इसलिए बहुत-से लोग इसे मनोवैज्ञानिक दशाओ के एक सीधे-सादे वर्गीकरण की चेष्टा समझ लेते हैं। बहरहाल, अधिक पैनी दृष्टि रखने वालो के लिए यह कई तालो को खोलने की कुंजी है। "स्वप्न" और "सुषुप्ति" को साधारण सपना देखना व गाढ़ी नीद में सोना नही समझना चाहिए। यह पद तो वह प्रधान वर्ग है जिनकी उपजातिया साधारण सपना और नीद होती है। "जागृत" अवस्था साधारण चेतना की दशा है जिसमे चैतन्य बाहरी इंद्रिय-न्यास के क्षेत्र को प्रकाशित करता है। यह बाहरी अनात्मिकता का लोक है या, और भी सही बात तो यह है कि यह वह लोक है जिसमे द्रष्टा (subject) और दृश्य (object) का भेद स्पष्टतः अभिव्यक्त होता है। इस अवस्था में हमें "दुनिया" अपने से बिल्कुल बाहर और अपने से बिल्कुल स्वतन्त्र मालूम होती है। इसलिए "दि वायस आफ साइलेंस" मे इसे अविद्या का महाकक्ष (Hall of Ignorance) कहा गया है।

दूसरी अवस्था "स्वप्न" (अंगरेजी मे अक्षरशः dreaming) एक आंतरिक लोक के रूप मे महसूस होती है। इसका वस्तु विषय आंतरिक इंद्रिय बोध तथा विचारों का बना होता है और मनस् की ऊंचाई तक पहुंचता है। यद्यपि उसमें द्रष्टा-दृश्य का भेद इतना कड़ा नही होता फिर भी वह रहता अवश्य है और अनेकता का भ्रम वैसे ही बना रहता है। जागृतावस्था मे दुनिया एक ऐसे वैरी या अधिक से अधिक तटस्थ वातावरण के रूप में प्रतीत होती थी जिसमे कि हम अनायास पड़े हो परन्तु स्वप्नावस्था में स्वयं हमको भी यह प्रतीत होता रहता है कि दुनिया की अंतर्वस्तु हमारी ही "साइकी" का बहिर्वेशन है। सपने का

पर्यावरण या अपने ही विचारों का वह संसार जिसमे हम डूबे हो, चाहे कितना ही अप्रिय क्यो न हो हम (कम से कम वाद मे) यह मानते है कि वह हमारा अपना ही वनाया हुआ था। उसकी अप्रियता हमारे अंदर की ही किसी अप्रियता के कारण है। यह अधिकतर प्रच्छन्न आंतरिक कामनाओं और मानसिक नामरूपों का लोक है। "दि वायस आफ साइलेंस" इसे शिक्षा का महाकक्ष (Hall of learning) इसलिए कहती है क्योकि इस अवस्था के अनुभव से ही हम पहले यह सीखते हैं कि हम भौतिक शरीर नही है और फिर यह कि बाह्य पर्यावरण हमारा अपना वनाया हुआ और हमारे पिछले कार्यों व विचारो (कर्मों) का ही वाहरी रूप होता है। "इससे सीखना यह है कि हमारे साथ जो कुछ भी होता है वह हमारे ही सोचे हुए विचारों का अवश्यंभावी परिणाम है, और उस लोचदार दुनिया में यह वात आसानी से देखी व हृदयांकित की जा सकती है। यदि विचार सुसंगत रहे हैं तो हमारी स्वप्न सृष्टि भी प्रिय होगी—दिवा स्वप्न हो या सोते समय के सपने हो या फिर मरणोपरात दशा से सम्वन्धित हो (पौराणिक व प्रेत शास्त्र के स्वर्ग से तुलना कीजिए) और इसी से हम सुखों के भोग मे लीन रहने की ओर आकर्षित होगे। उदाहरण के लिए, हमें कितनी वार यह इच्छा होती है कि वे सुदर सपने और लम्वे हो जाएं जिसमे अपने पास शरीर होते हुए भी हम उसके भार से दवे नही रहते, उडान भर सकते है और अनेक सुखद कार्य अनोखी आसानी से कर सकते हैं।"

फिर भी, "हर फूल के नीचे एक सांप कुंडली मारे बैठा है।" यह है कामना का सांप। चाहे यह दुनिया कितनी ही सुखद क्यो न हो, है तो यह कामना और अनेकता की ही, और जैसा कि उपनिषद् का कहना है, "जव तक अनेकता है तव तक भय है।"

इसलिए अव शिष्य को आगे बढ़कर उस तीसरी अवस्था यानी "सुषुप्ति" (विना सपने की नीद) मे जाना ही चाहिए जिसे "दि वायस आफ साइलेंस" मे ज्ञान का महाकक्ष (Hall of wisdom) कहा गया है। यह महत् बुद्धि का स्तर है और इसे ज्ञान का महाकक्ष इसलिए कहा गया है क्योकि इसमे अनेकता नामी महाभ्रम विलुप्त हो जाता है और प्रकाश की एकता पूर्णरूप से व्याप्त होती है। इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया जा सकता है कि यदि अवस्था ज्योतिपूर्ण है तो इसे विना सपने की नीद की अंधकारमय दशा के रूप मे क्यो चित्रित किया जाता है। अधिकाश लोगो को यह दशा अंधकारमय इसलिए प्रतीत होती है क्योकि वे व्यक्तित्व अर्थात् निचले मनस् मे केन्द्रित होते है और अपने से ऊपर बुद्धि से समागम करना तो दूर स्वयं अपने सच्चे स्वरूप तक भी वे नही पहुच पाते। तदनुसार जव क्षुद्र अहं के अनेकात्मक अनुभव के पार जाया जाता है तो वहा सिवाय घोर अंधकार के कुछ भी नहीं

होता और सच्ची सुषुप्ति की केवल एकता ही याद रहती है।

जैसा कि गौड़पाद ने अपनी माण्डूक्य उपनिषद् (3, 34 व 35) की कारिका में कहा है "समाधि (सुषुप्ति की अंतर्लीनता) मे ज्ञानी पुरुष के यत्न की निर्विकल्प दशा और स्वप्न रहित निद्रा मे भेद करना चाहिए क्योंकि ये दोनों एक ही चीज नही हैं। निद्रा मे मन वशवर्ती हो जाता है पर समाधि मे नही, क्योकि उसमें वह ज्ञान की ज्योति से देदीप्यमान "निर्भय ब्रह्म होता है।" और शंकर ने यो टीका की है—"क्योकि नीद मे आलस्य और अविद्या (यानी अनेकता का विचार) मे डूबे हुए पर फिर भी अनुभव के कारण के सम्भावी प्रभावों से भरे हुए मन की दशा समाधि की उस सर्वथा स्वाधीन, नितांत निश्चल सर्वज्योतिपूर्ण दशा से भिन्न है।"

ऊपर जो कहा गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद् ऐसा क्यों घोषित करते है कि हर रात निद्रा मे जीव ब्रह्म को प्राप्त होता है और क्यों आधुनिक पाठक यह सोचने लगते है कि यदि ऐसा है तो फिर ब्रह्म को प्राप्त होना कोई वड़ी वात नही है। और फिर जव उपनिपद् यह घोपणा करते है कि जागृतावस्था की यह भावना कि "मै चैन से सोया" ब्रह्म (यथार्थ मे महत् आत्मन्) के आनन्द की स्मृति है तव वे सोने के वाद ताजगी के शारीरिक अनुभव की नही वल्कि इस पथ की एक जानी-पहचानी घटना की वात कर रहे होते है। शुरू की मजिलो में ऐसा होगा कि यद्यपि शिष्य की वैयक्तिक चेतना वुद्धि के साथ ठीक से युक्त न हो पाई हो फिर भी सुपुप्ति का अनुभव उसके अपने मन मे प्रतिविंवित हो जाता है और, हालांकि उसे इस वात का कुछ ज्ञान नही होगा कि यह सव है किस वारे मे, उसे इस अनुभव की जागृत चेतना में अभिज्ञता या तो किसी अजीव तौर से सजीव सपने की स्मृति के रूप में होगी जो किसी आध्यात्मिक अर्थ से भरा हुआ प्रतीत होगा, या ऐसी ही तीव्र आंतरिक आनंद की भावना के रूप मे।

"तूरीय" (चौथी) अवस्था तो नितांत सर्वातीत होती है—शांत आत्मन् की अव्यक्त चेतना। यह परम लक्ष्य है और इसके वारे मे चुप रहना ही वेहतर है।

माण्डूक्य उपनिषद् मे सूक्ष्म तौर पर इन चार अवस्थाओ के बारे मे वताया गया है और यह कहा गया है कि ॐ मन्त्र का तीन तत्त्वों मे विभाजन किया जा सकता है—"अ", "उ" और "म"। इनमें "अ" जागृतावस्था का द्योतक है, "उ" स्वप्नावस्था का और "म" सुपुप्ति का जवकि अपनी पूर्णता में स्वय ॐ चौथी अवस्था का द्योतक है।

वार-वार "ॐ" पर ध्यान लगाने का जो परामर्श दिया जाता है उसका मतलव सूक्ष्म शरीर मे "कम्पन" पैदा करने से नही वल्कि अपनी चेतना को तीन अवस्थाओ से होकर चौथी तक उठाने से है। इस पुस्तक मे मूल पृष्ठ पर उद्धरित मुण्डकोपनिषद् के श्लोक भी देखिए।

परिशिष्ट-घ

अवतारों पर टिप्पणी

क्योकि अध्याय चार (विशेपतः श्लोक 6 से 8) तक अवतारवाद का मुख्य प्रमाण है इसलिए शायद यहा इस विषय पर दो शब्द कह देना उचित होगा। शास्त्रसम्मत परम्परा के अनुसार संसार के इतिहास मे समय-समय पर दैवी अवतरण हुए है। कम प्रसिद्धि वालो के अलावा रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, बुद्ध तथा अधिक उदार हृदय व्यक्तियो द्वारा, ईसा मसीह को ऐसा अवतार माना जाता है। दस अवतारो की एक सुपरिचित सूची तो है ही पर भागवत मे चौबीस नामो की सूची भी है जो अपेक्षाकृत कम परिचित है। अवतारवाद को अद्वैत वेदात सापेक्ष सत्य मानता है हालाकि सख्ती से देखने पर तो इस वाद का अद्वैत विचार-प्रणाली मे कोई स्थान ही नही होना चाहिए क्योकि अद्वैत के अनुसार तो सब नामरूप व सब जन्म अविद्या के कारण होते है। वास्तव मे अवतारवाद की शिक्षा भागवत (वैष्णव) परम्परा की है जिसे एक-दो प्रतिवादी आधुनिक सम्प्रदायो के सिवा अन्य सब स्वीकार करते है।

अवतार, जिनकी शास्त्र-सम्मत परिभाषा है पचावृत्त विश्व मे उसके पार से अवतरण ("अप्रपंचात प्रपचे अवतीर्ण"), अनेक प्रकार के होते है। कोई तो किसी विशेष उद्देश्य के लिए हुए आविर्भाव है, जैसे कि नृसिहावतार। कुछ, सम्भवतः प्रतीकात्मक, पशु रूप मे होते है, जैसे मत्स्यावतार, जो शायद उस नर-मत्स्य, कलदानी ओऐनिस (Chaldaean Oannes) से संवधित हैं जो एरिडू (Eridu) के सुमेरी निवासियो को ज्ञान की शिक्षा देने के लिए फ़ारस की खाडी मे ऊपर की ओर तैरता हुआ गया था। इनके अलावा मानव रूप मे अवतरण है जिनमे सबसे प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण है। ऐसे अवतारो का वर्गीकरण अशावतार और पूर्णावतार मे किया जाता है क्योकि पहली श्रेणी के अवतार कुछ विशेष दैवी शक्तियों को ही व्यक्त करते है जबकि दूसरे वाले उन्हे उनके पूर्ण रूप मे दर्शाते है।

इसे सभी मानते है कि श्रीकृष्ण ऐसे पूर्णावतार हैं और भागवत परम्परा

को मानने वाले कुछ सम्प्रदाय तो इससे भी एक कदम आगे चल कर इस बात की अभिपुष्टि करते हैं कि श्रीकृष्ण ही अन्य सब अवतारों के स्रोत या मूल हैं। चाहे जो कुछ भी हो, परम्परानुसार अपने जन्म से ही उन्होने अपनी दैवी प्रज्ञा व शक्ति को पूर्ण रूप मे व्यक्त किया।

इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के अवतार भी हैं जिनमें से ध्यान देने योग्य हैं केवल "आवेशावतार" जिनमें विशेष प्रयोजन के लिए कोई अतिविकसित मानवीय जीव आच्छादित हो जाता है। वेदो के सम्भाजक व महाभारत (और निस्सदेह गीता) तथा अन्य कितने ही शास्त्रों के उद्घाटक व्यास देव को कभी-कभी इस प्रकार के अवतार का नमूना बताया जाता है जिसमें कि दैवी चैतन्य किसी मानवीय जीव पर छा जाता है और उसको वश मे कर लेता है।

इस विषय में परम्परा का ऐसा ही विवरण है जो कि आमतौर से हिन्दुओ द्वारा स्वीकार किया जाता है। कभी-कभी यह विचार भी प्रस्तुत किया गया है कि सब ही अवतार इस अन्तिम प्रकार के होते है और प्रत्येक घटना मे वास्तविक "अवतरण" किसी ऊपर उठते हुए मानवीय जीव की आकांक्षाओं के उत्तर में शाश्वत का नीचे उतरना है जो कि आगे उस जीव के माध्यम से व्यक्त होता है और इसलिए अब "वह जीव विशेष" जिसे साधारण तौर से हम मानव समझते है वह न रह कर परमेश्वर के व्यक्त होने का साधन बन जाता है।

बुद्ध देव पर तो यह मत निश्चय ही ठीक बैठता प्रतीत होता है जिन्हे कि अपने मानवीय संप्रयासों वाले पिछले जन्मों की स्मृति थी। वास्तव मे यह मत कुछ महायान बौद्ध मतो से केवल पारिभाषिक शब्दावली मे ही भिन्न है।

फिर भी इतना निश्चित है कि यह हिन्दू धारणा नही है कि सब अवतार इसी प्रकार के होते हैं और निस्संदेह हिंदू इसका कड़ा प्रतिरोध करेंगे। विशेष तौर पर यह निश्चयात्मक रूप से माना जाता है कि श्रीकृष्ण परमेश्वर के ऊपरी, लेकिन सिर्फ ऊपरी, तौर से मानवीय रूप में प्रत्यक्ष अवतार है।

दरअसल श्री मध्वाचार्य व श्री चैतन्य देव ने तो यह सिखाया कि सब अवतारिक रूप वास्तव मे नित्य है और इस लोक में समय-समय पर प्रव्यक्त होते हैं। इस मत को मानने मे साधारण व्यावहारिक ज्ञान के हिसाब से कुछ भी कठिनाई क्यों न हो, है यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण तथा गुप्त तथ्य पर आधारित। बहरहाल, जबकि विश्व की पूरी संरचना ही उसकी विभिन्न विभूतियो के अवतरण से ही हुई है तब इसे पूर्व सिद्ध मानना कि परमेश्वर अपनी इच्छानुसार जब चाहे, जहां चाहे और जिस प्रकार चाहे अवतरित नहीं हो सकता, दैवी स्वभाव के बारे मे ज्ञान के अत्यत सीमित होने का प्रदर्शन करना है। अवश्य ही वे दिन बीत चुके हैं अब "प्रकृति के शाश्वत नियम" दैवी स्वातन्त्र्य के रास्ते में रोड़ा अटकाने वाले माने जा सकते थे।

परिशिष्ट-ङ

सार्वभौमिक स्तरों का चित्र
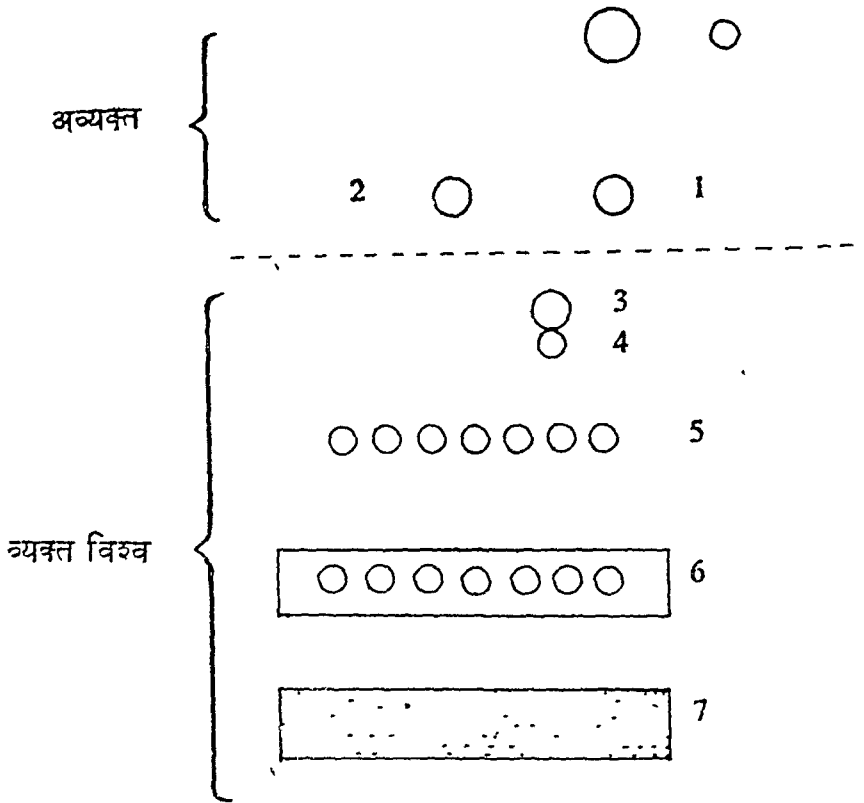
क्रमांक	0	परब्रह्म पुरुषोत्तम, समस्त स्तरों के पार ।
क्रमाक	1	शात आत्मन्, शुद्ध चैतन्य, अव्यक्त आत्मा, अध्यात्म, स्वभाव ।
क्रमाक	2	मूल प्रकृति, महागर्भ (the matrix) अव्यक्त अनात्मा, अव्यक्त ।

क्रमाक	3	महत् आत्मन्, महत्, अद्वय प्राण (the one life) अधिदैव, सार्वभौमिक परिकल्पना (cosmic ideation) दैवी प्रज्ञा (Divine wisdom) ।
क्रमांक	4	वुद्धि, क्रमाक 3 का ज्ञान, इस ज्ञान को प्राप्त करने की क्षमता, ज्ञानात्मन् ।
क्रमांक	5	मनस्, उच्चस्तरोय मनस्, अहंकार, वैयक्तिक अहंभाव (Individual Ego), दृष्टिकोण (The point of view), जीव, अधियज्ञ ।
क्रमांक	6	निम्न स्तरीय मनस्—अर्थात काम भाव युक्त मनस्, व्यक्तित्व, इन्द्रियां और उनके आंतरिक इन्द्रियार्थ, अधिभूत ।
क्रमांक	7	बाह्य जगत, बाहरी इंद्रियार्थ, अधिभूत ।

क्रमांक 0 और 1 को तथा क्रमाक 3 व 4 को प्राय: एक साथ ही लिया जाता है। क्रमांक 6 को कभी दो भागो मे विभाजित किया जाता है और निम्न स्तरीय मनस् व शुद्ध काम भाव में इस तरह विभेद किया जाता है। जहां चेतना के पांच स्तरो की बात की जाती है वहां क्रमांक 2 को क्रमांक 1 के स्तर पर होने के कारण छोड़ दिया जाता है और क्रमांक 6 व 7 को एक साथ लिया जाता है क्योंकि दोनों ही का निचले मन मे संकेन्द्रण होता है। ध्यान दिया जाय कि क्रमांक 7 एक दम अनात्मिक या दृश्य रूप है जबकि क्रमांक 6 के आत्मिक व अनात्मिक, या द्रष्टा व दृश्य दो पक्ष है। यह स्तर कामना-मनस् का भी है और आंतरिक इंद्रियार्थ का भी ।

परिशिष्ट-च

विश्व आविर्भाव प्रक्रिया पर टिप्पणी

किसी विश्व की प्रव्यक्ति या आविर्भाव अद्वय यानी परब्रह्म के सर्वातीत द्रष्टा अर्थात् शात आत्मन् और सर्वातीत दृश्य अर्थात मूल प्रकृति मे ध्रुवण पर निर्भर होता है। इस ध्रुवण की प्रक्रिया की व्याख्या करने की चेष्टा निस्सदेह वेतुकी तो है पर फिर भी ऐसे कुछ सुझाव देना उपयोगी होगा जिनसे पता चले कि वह होती कैसे है। आधार के लिए ऋग्वेद (10, 129) के इस भव्य सृष्टि सूक्त को लिया जाय (ग्रिफिथ का अनुवाद 10, 129)।

(1) असत नही था और सत भी नही था तब
न वायुमण्डल था और न ही उसके परे कोई व्योम था·
कौन कहा आच्छादित किए था, प्रश्रय देता था कौन ?
जल था क्या वहा तब—गहरा अगाध जल ?

यहा "सत" का अर्थ "यथाभूतम्" के रूप मे लेना चाहिए। ध्यान दीजिए कि वायु (मनस् और एकता का चलायमान लोक) व व्योम (आकाश अर्थात् सार्वभौमिक परिकल्पना या महत्) का तो अभाव बताया गया है परन्तु ढकने वाले (सब कुछ को आच्छादित करने वाले चैतन्य या शांत आत्मन्) व गहरे पानी (महागर्भ या मूल प्रकृति) का अभाव न बताकर उनके होने पर केवल संदेह प्रकट किया गया है। इनके बारे मे यह तो नही कहा जा सकता कि वे है नही, पर यह भी नही कहा जा सकता कि वे है।

(2) न तो तब मृत्यु ही थी और न ही ऐसा कुछ था जो कि अमर हो
दिवा निशि की सीमा को दिखाने वाला चिह्न भी नही था कोई
बस वह एक, श्वासहीन, अपने ही स्वभाव से सप्राण था·
उसके अलावा बस कुछ भी नही था और।

मर्त्य व्यक्तित्व तथा अमर जीव का अभी प्रादुर्भाव नही हुआ था और विश्व के अधेरे या निचले और उज्ज्वल या ऊपरी भाग मे भी कोई भेद न था

परन्तु 'वह अद्वय' किसी गतिहीन मृतवत् दशा में नही था वल्कि उसमे एक लयवद्ध प्रक्रिया पाई जाती थी जिसके वारे मे आगे और कहा जायेगा।

(3) अंधेरा ही अंधेरा था छाया : शुरू मे तो वह अशेष
अंधेरे मे खोया हुआ, अस्त-व्यस्त विखरा था
जो कुछ भी था तव वस, शून्य निराकार था
फिर आया वह "एक", तपस् की महाशक्ति का जाया।

"वह एक" सव विचारो व कल्पनाओ से परे इतनी दूर है कि उसकी केवल अंधकार के रूप मे ही कल्पना की जा सकती है। उस अंधकार मे ही समस्त सत्ता की प्रच्छन्न शक्ति दवी थी। तप, यानी स्वपरिमितता के वल से वह "एक" शांत आत्मन् या अद्वय चैतन्य उत्पन्न हुआ।

(4) और फिर, पहले तो जागा काम
आदि वीज, उद्गम मनस का, काम।
भावमन से खोजने पर ऋषियो ने
सत् और असत् में वंधुता पाई थी।

एकात्मक चैतन्य के अभ्युदय के साथ "उस एक" का दूसरा पक्ष अनात्मा (मूल प्रकृति) के रूप में उभर आता है और चैतन्य का ध्यान आकर्षित करता है। इसके फलस्वरूप ऊर्जा, जिसे यहां काम कहा गया है, वह निकलती है जो कि वैयक्तिक जीव (मनस्) की मूल है। पद्य का उत्तरार्द्ध हमे यह वताता है कि हृदय (मनस्) के अन्दर ढूंढने से कैसे अविच्छिन्न आदि-सत्य का पता चलता है।

(5) उनको अलग करती तिरछी खाई दूर तक फैली थी
उसके ऊपर क्या था, क्या था उसके नीचे ?
जनक थे और थे प्रवल वेग
इधर मुक्त कर्म, और उधर ऊपर ऊर्जा।

इन दो के नीचे एक महान खाई है, कवाला की "अथाह खाई" जो नीचे के प्रव्यक्त को ऊपर के अव्यक्त से अलग करती है। ऊपर महान शक्तियां यानी ऊर्जा थी और "यहां" (यानी नीचे) सर्पिलता से नीचे आती प्रचण्ड काम की शक्तियां या "जनक" थे जिन्हे गीता (11, 15) मे दिव्य सर्प कहा गया है।

(6) सचमुच कौन जानता है, और यहां कह भी कौन सकता है कि
कहां से जन्मी और कहां से यह सृष्टि आई
देवगण भी तो इसके वनने के वाद ही आए थे
फिर कौन जाने कि शुरू मे यह आई कहां से !

सृजन की पहली यथार्थ अन्त प्रेरणा सदैव के लिए "अंधकार" में छिपी रहती है और इसीलिए बुद्धदेव ने इस विषय पर चुप्पी साधी और काम या

कामना से आगे विचार करने से इंकार किया। देवगण जो कि आविर्भूत चैतन्य के स्तर हैं, बाद मे विद्यमान हुए। दूसरे शब्दों मे, चैतन्य स्वयं अपने मूल तक नही पहुंच सकता।

(7) वह जो है इसका आदि स्रोत स्वयं
उसी ने बनाई यह सृष्टि या कि उसने भी बनाई नही ?
उच्चतम व्योम मे साधे है जिसकी आंख इस जग को
वही अवश्य इसे जानता है या शायद वह भी नही जानता।

सृष्टि का समीपस्थ उद्भव है "वह", शांत आत्मन्, अद्वय चैतन्य जिसकी आंख उच्चतम व्योम में इस विश्व को साधे हुए है और उसी चैतन्य द्वारा और उसीमे सब नाम व रूप पैदा होते और पनपते हैं। परन्तु परम मूल तो इस आत्मन् के भी पार है। शांत आत्मन् तक को भी वह ज्ञेय नही है क्योंकि उसका ज्ञान पाना उसमे विलीन हो जाना है और इस विषय मे ज्ञाता की पृथकता समाप्त हो जाती है।

एक और बात ध्यान देने की रह जाती है। दूसरे मंत्र का कहना है कि "अद्वय" के अदर (प्रलय काल में भी) एक विशेप लयात्मक प्रक्रिया चलती रहती है जिसे प्रतीक रूप मे सांस लेना कहा गया है। अद्वय के अंदर आत्मा व अनात्मा, द्रष्टा व दृश्य के ध्रुव प्रच्छन्न रूप मे उपस्थित रहते है (आपको याद होगा कि इन्हे पहले मंत्र मे भी पूरी तरह अस्वीकार नही किया गया था)। इस (सांस) को हम दोनो ध्रुवो की लयात्मक अदल-बदल के रूप मे कल्पित कर सकते हैं। जब पेंडुलम का झोका किसी निश्चित आयाम पर पहुंच जाता है तो हम कल्पना कर सकते हैं कि ऐसा कुछ होता होगा जैसा कि स्वयं हमारे अन्दर तब होता है जब चेतना की देहरी के उस पार चलती मानसिक प्रक्रियाए इस पार के प्रकाश मे उभर आती हैं और "मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूं" के रूप में प्रकट होती है।

लगे हाथो यह भी कह दिया जाय कि कुछ वृत्तातों मे मूल प्रकृति का प्रकट होना शात आत्मन् के प्रकट होने से पहले आता है। यह विपरीत वक्तव्य दिखावटी ज्यादा और असली कम है। यह याद रखना चाहिए कि यहां हम उस क्षेत्र में है जो उससे परे है जिसे आमतौर से समय माना जाता है और उसमें अवस्थाएं सामयिक कम और तार्किक अधिक होती हैं। जब मूल प्रकृति का प्रकट होना पहले माना जाता है तब, एक दृष्टिकोण विशेष से, इसका कारण यह है कि चैतन्य तब ही प्रव्यक्त होता है जब कोई ऐसी वस्तु उपस्थित हो जिसकी चेतना हो सकती है, ठीक वैसे ही जैसे कि प्रकाश तब ही प्रव्यक्त होता है जब कोई प्रकाशित होने वाली वस्तु मौजूद हो। द्रष्टा व दृश्य दोनो ही एक वास्तविकता के दो ध्रुव हैं और आविर्भाव मे पहल किसकी है यह तो मुख्यतः